

ज्ञानमूर्ति
आचार्य वासुदेवशरण

ज्ञानमूर्ति
आचार्य वासुदेवशरण

स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के
जीवन और कृतित्व का गौरव-आलेख

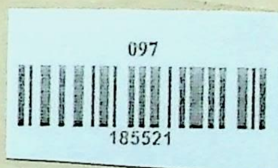
सम्पादक
कृष्ण वल्लभ द्विवेदी



वासुदेव-ज्ञानपीठ
१२, शिवाजी मार्ग, लखनऊ-१

ज्ञानमूर्ति आचार्य वासुदेवशरण

स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के
जीवन और कृतित्व का गौरव-आलेख



संपादक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी





वासुदेव-ज्ञानपीठ
१३, शिवाजी मार्ग, लखनऊ-१

'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते'

(श्रीमद्भगवद्गीता ९/१५)

मूल्य : दस रुपये ।

प्रथम संस्करण : जनवरी, १९७४ ई० ।

प्रकाशक : 'डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल संस्कृति-संस्थान' की ओर से
'वासुदेव-ज्ञानपीठ', १३, शिवाजी मार्ग, लखनऊ–१ ।

मुद्रक : ईगल प्रिंटिंग प्रेस, यदुनाथ सान्याल रोड, लखनऊ–१ ।

प्रकाशकीय

स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इस युग के मूर्धन्य ज्ञान-ज्योतिर्धरों में से एक थे। वह सरस्वती के वरद पुत्र थे, जिनके द्वारा छोड़ी गई ज्ञान-संपदा लगभग सवा सौ प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथों और सवा तीन हजार से अधिक फुटकर लेख-निबन्धों में फैली हुई है!

ऐसे महामेधावी ज्ञानगुरु द्वारा प्रज्वलित ज्योति अजस्र-अखंड बनी रहे, उनका महान् कृतित्व जन-जन के हाथों में पहुंचे तथा उनके इस लोक से विदा हो जाने के उपरान्त भी उनके द्वारा आरंभ किया गया ज्ञानानुष्ठान जारी रहे, इसी पुनीत उद्देश्य को लेकर उनके प्रशंसकों, आत्मीय जनों, भक्तों और शिष्यों द्वारा एक स्मारक संस्था 'डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल संस्कृति-संस्थान' के नाम से स्थापित की गई है।

संस्थान के लक्ष्य और उद्देश्यों में शीर्षस्थ स्थान 'भारत तथा बृहत्तर भारत की जन-जनपदीय संस्कृति की सभी संजीवनी विद्याओं—विशेषकर वेदविद्या, संस्कृत साहित्य, कला, दर्शन, धर्म, विज्ञान, प्राचीन भारतीय भाषाएँ, भारतीय पुरातत्त्व, भारतीय संग्रहालय-शास्त्र तथा लोक-परम्परा आदि— के पुनर्मूल्यांकन, अध्ययन, अनुसन्धान, संवर्धन, विकास तथा प्रसार और परंपरागत शब्दावलियों के हेतु उपयोगी कार्य करने को दिया गया है। इसके साथ-साथ (स्वर्गीय वासुदेव जी की स्मृति में स्थापित होने के नाते) संस्थान ने उनके कृतित्व के प्रकाशन, प्रसार एवं प्रचार आदि के अनुष्ठान को स्वभावतः अपने कार्यक्रम में वरीयता प्रदान की है। संक्षेप में कहा जाय तो उन सभी चिरन्तन आदर्शों की संपूर्ति का बीड़ा संस्थान ने विनम्रतापूर्वक उठाया है, जिनके लिए स्वर्गीय अग्रवालजी ने

अपना जीवन निछावर किया तथा जो हमारी ज्ञान-संस्कृति के मूल प्रेरणा-स्रोत हैं।

डॉ० अग्रवाल की असामयिक मृत्यु के कारण, उनकी कुछ कृतियाँ अधूरी ही पड़ी हैं। इसके अलावा समय-समय पर विविध विषयों पर लिखित उनके अनेकानेक लेख-निबन्ध भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के कारण यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनके हजारों पत्र भी मित्रवर्ग एवं आत्मीय जनों के पास सुरक्षित हैं, जो उनकी विचारधारा के प्रतिबिंब होने के नाते हमारे साहित्य की स्थाई निधि में स्थान पा सकते हैं। यह विशाल ज्ञान-विरासत जन-जन के हाथों में पहुंचने की अपेक्षा करती है। आवश्यकता तो यही है कि इस महान् साहित्यकार का सारा कृतित्व एक सूत्र में ग्रंथिबद्ध होकर 'रवीन्द्र-ग्रंथावली', 'विवेकानन्द-ग्रंथावली' आदि की भाँति समान आकार की अनेक जिल्दों में बँटी हुई 'वासुदेव-ग्रंथावली' के रूप में उपलब्ध हो। ऐसे ग्रंथ-संग्रह अंग्रेजी में तो कितने ही मिलते हैं—जैसे कि कार्लाइल का संपूर्ण कृतित्व तीस से अधिक जिल्दों में तथा रस्किन का पचास से अधिक समान आकार के ग्रंथों में प्रस्तुत है। परन्तु हिन्दी के प्रांगण में ऐसे प्रकाशन-अनुष्ठान कम ही हुए हैं। संस्थान स्वर्गीय वासुदेवजी के संपूर्ण कृतित्व को इसी धज में उतारने का सपना देख रहा है।

अपने इसी अनुष्ठान की विनीत प्रारंभिक पुष्पांजलि के रूप में, संस्थान पुण्यश्लोक डॉ० अग्रवाल के गरिमामय जीवन एवं कृतित्व के परिचयार्थ प्रस्तुत ग्रंथ को लेकर हिन्दी भाषाभाषी संसार के समक्ष आ रहा है। यह ग्रंथ एक प्रकार की स्मारिका या संस्मरणात्मक परिचय-पुस्तक जैसा है, जिसमें स्वर्गीय अग्रवाल जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालनेवाली कुछ सामग्री के साथ-साथ, उनकी विचारधारा के परिचयार्थ (बानगी के तौर पर) उनकी कृतियों में से कुछ के अंश उद्धृत किए गए हैं। उनके निधनोपरान्त अनेक विद्वद्जनों, मित्रों, सहयोगियों आदि ने अपने-अपने संस्मरणों में उनकी महिमा का जो प्रशस्ति-वाचन किया तथा भावभीने शब्दों में उन्हें जो श्रद्धांजलियां अर्पित कीं, तत्संबंधी उपलब्ध सामग्री भी इस ग्रंथ में आभारपूर्वक (कुछ प्रकाशित लेखों को पुनर्प्रकाशित करके तथा कुछ नवीन लेखों का भी समावेश करके) प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार की सामग्री का बहुत बड़ा भाग हमने साभार 'हिन्दुस्तान' साप्ताहिक के एक विशेषांक से प्राप्त किया है, जो कि अग्रवाल जी की स्मृति में निकाला गया था। इस पठन-सामग्री के उपयोग के लिए कई एक महानुभावों से (प्रार्थना करने पर) हमें सहर्ष अनुमति भी प्राप्त हुई है। जिन-जिन सज्जनों के संस्मरणात्मक लेख अथवा लेखांश इस ग्रंथ में उद्धृत हुए हैं, उन सबके प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते

हैं। साथ ही, साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' (नई दिल्ली), 'सविता' मासिक पत्रिका (अजमेर), 'बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद्' (पटना), 'साहित्य-सदन' (चिरगाँव), 'हिन्दी विश्व-भारती' (लखनऊ), 'सस्ता-साहित्य-मंडल' (नई दिल्ली), 'ज्ञानोदय ट्रस्ट' (अहमदाबाद), 'राजकमल-प्रकाशन' (दिल्ली), 'पृथ्वी-प्रकाशन' (वाराणसी), के प्रति भी हम अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं, जिनके द्वारा प्रकाशित डॉ० अग्रवाल के लेखों, पुस्तकों आदि के कुछ उद्धरण हमने इस गौरव-ग्रंथ में इस उद्देश्य से दिए हैं कि पाठक उनके माध्यम से इस महान् सरस्वतीपुत्र के बहुमुखी कृतित्व की विविधता तथा ऊँचाई का कुछ अनुमान कर सकें।

अंत में, इस प्रकाशन को मूर्त बनाने में सबसे महत्वपूर्ण योग प्रदान करनेवाले, 'हिन्दी विश्व-भारती' ज्ञानकोश के प्रधान संपादक, पं० कृष्ण वल्लभ द्विवेदी के प्रति भी संस्थान को अपना विनम्र आभार व्यक्त करना है, जिनके सहयोग के बिना इस ग्रंथ का साकार बनना निरा स्वप्न ही होता। द्विवेदी जी स्वर्गीय वासुदेवशरण जी के पुराने मित्रों में से हैं और संपादन-कला के अनुभवी विशेषज्ञ हैं। उनके हाथों में इस ग्रंथ का संपादन-भार सौंपकर हम चिन्तामुक्त हुए हैं। उन्होंने न केवल ग्रंथ का आद्योपान्त रूप-निर्धारण ही किया है, अपितु तीस पृष्ठों के अपने विस्तृत **'प्राक्कथन'** एवं **'उनकी जीवन-यात्रा का संक्षिप्त तिथि-पत्र'** शीर्षक अनूठे प्रबन्ध के अन्तर्गत डॉ० अग्रवाल के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा जीवन पर प्रकाश डालनेवाली बहुमूल्य सामग्री जिज्ञासुओं के लिए उपलब्ध कर दी है। इसी प्रकार से, ग्रंथ के अंत में प्रस्तुत की गई स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी एवं डॉ० भगवानदास जैसे मनीषियों के साथ वासुदेवशरण जी के पत्र-व्यवहार की सामग्री भी अध्येताओं के लिए उपादेय सिद्ध होगी, यह विश्वास हमें है।

उधर वासुदेव जी के जीवन से संबंधित कतिपय फोटो-चित्रों का भी ग्रंथ में समावेश करने की विशेष सुविधा हमें प्राप्त हुई है। इन चित्रों की उपलब्धि के लिए हम अग्रवाल जी के परिवार के आभारी हैं।

बलराम कृष्ण, **अध्यक्ष,**

बलदाऊ जी अग्रवाल, **मंत्री,**

'डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल संस्कृति-संस्थान'

विषय-तालिका

: प्राक्कथन :

भारतीय संस्कृति एवं वेदविद्या के महान् व्याख्याता (संपादकीय) पृष्ठ
... श्री कृष्ण वल्लभ द्विवेदी ११

: संस्मरण, श्रद्धांजलियाँ, मूल्यांकन :

ज्ञान के एकनिष्ठ साधक ... डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ४३
महान् शब्दमर्मी ... डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ४६
डॉ० फोगल के पदचिन्हों पर ... डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी ५४
'आप निश्चिन्त रहें, मैं दोनों चौबों का यजमान बना रहूंगा'
... पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ५८
वेदार्थ-परंपरा को वासुदेवशरण अग्रवाल की देन डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली ६४
वह एक साथ कई-कई ग्रन्थ बोलकर लिखाते श्री रायकृष्णदास ६८
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और उनका जनपदीय आन्दोलन
... श्री वृन्दावनदास ७१
भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्धर ... श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ७५
एक विलक्षण व्यक्तित्व ... श्री मंगलनाथ सिंह ७९
निकट दर्शन : वह माँ सरस्वती के सच्चे तापस साधक थे
... डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त ८३
प्रातःस्मरणीय डॉक्टर साहब ... डॉ० भास्करनाथ मिश्र ८८

वह हँसमुख और विनम्र चेहरा ... श्री सुरेशसिंह ९२
डा० वासुदेव : मेरे गुरु ... डॉ० आनन्द कृष्ण ९७
वह कपिल और कणाद की कोटि में थे श्री कृष्णानन्द कुप्त १०१
डॉ० साहब का अन्तिम लेख ... श्री प्रभुदयाल मीतल १०३
विद्वद्वर वासुदेवशरण जी ... ज्यो० राधेश्याम द्विवेदी १०७
वह संयम तथा तपस्या की मूर्ति थे ... डॉ० शान्ता शर्मा १०९
निराला जी की भविष्यवाणी सच निकली प्रो० कृष्णदत्त वाजपेई ११३
'सादा जीवन, उच्च विचार' की प्रत्यक्ष मूर्ति श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल ११७
उन्होंने अधिकांश हिन्दी में क्यों लिखा श्री सी० शिवराम मूर्ति १२०
भारतीय पुरातत्त्व-सामग्री उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय थी
... श्री विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी' १२१
इतिहासवेत्ता और कला-समीक्षक ... डॉ० भगवतशरण उपाध्याय १२४
उन्होंने जिस तत्त्व को छुआ, वह कुन्दन हो गया श्री रामानन्द 'दोषी' १३०
संत का वचन था, भला, वह झूठा कैसे होता ?
... श्रीमती गिरिजादेवी 'निर्लिप्त' १३१
अचल गुरुभक्ति :: अडिग राष्ट्रवादिता डॉ० बैजनाथ पुरी १३३
डॉ० साहब के पास जो कोई भी आता, कुछ लेकर ही जाता
... डॉ० रामाश्रय अवस्थी १३६
वेद उनके अमृत-कूप थे, जब भी प्यास लगी पहुंचे उस कूप पर
... श्री अमृतलाल नागर १३९
एक श्रद्धांजलि ... श्री कमलापति मिश्र १४१
वह सच्चे अर्थ में 'विप्र' और 'विद्वान्' थे डॉ० रामकुमार दीक्षित १४३

: जीवन-वृत्तान्त :

'पिता-पितामह' की स्वचित्रित शब्द-झाँकी
('गीता-नवनीत' की भूमिका से) १४७
दो पत्र, जिनमें उनकी आत्म-कथा का सार उपलब्ध है
(पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम) १५६
उनकी जीवन-यात्रा का संक्षिप्त तिथि-पत्र (विविध सूत्रों से संकलित) १६१

: कृतित्व :

प्रमुख कृतियों की तालिका ... (संकलित) १८९

रचना-शैली एवं विचारधारा की बानगी (प्रमुख कृतियों के उद्धरण) १९३

: कुछ पत्र :

जब स्व० आचार्य द्विवेदी जी उनकी प्रतिभा पर रीझ उठे थे ... श्री कृष्ण वल्लभ द्विवेदी २३५

डॉ० भगवानदास एवं श्रीप्रकाशजी के साथ पत्र-व्यवहार (संकलित) २४२



ज्ञानमूर्ति आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल

[जन्म : १९०४ ई० :: तिरोधान : १९६६ ई०]

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति एवं वेदविद्या के महान् व्याख्याता

संपादकीय

"(हे नचिकेता) जो बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता तथा बहुतेरे सुनकर भी जिसे नहीं समझ पाते, ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्व का वक्ता (अर्थात् वर्णन करने की क्षमता रखनेवाला ज्ञानी महापुरुष) एक अचम्भा-सा ही होता है...।"
—कठोपनिषद् (२/७)।*

हमारी पौराणिक अनुश्रुति की एक प्रसिद्ध गाथा गंगा को पृथ्वी पर उतारने के राजर्षि भगीरथ के महान् करतब की कहानी है। इसी करामात के बल पर भारतीय परंपरा में भगीरथ का नाम असाधारण करतूत करनेवालों की गौरवउपाधि-सा बन गया है।

परन्तु यह तो केवल भूतल पर प्रवाहित गंगा की बात कही गई। इसके अतिरिक्त एक और पुण्यधारा भी युगादिकाल से हमारे आँगन में बह रही है, जिसे उमगानेवाले मनीषी भी पूर्वोक्त भगीरथ से कम करामाती नहीं थे। यह धारा है—हमारी 'ज्ञानगंगा'! यही इस देश की यथार्थ शक्ति-कुंडलिनी है। इसी के ताने-बाने में भारतीय संस्कृति का मूल स्नायुजाल बुना गया है। इसी की बदौलत हम पा सके हैं वेद-उपनिषद्, रामायण-महाभारत, गीता-षड्दर्शन, स्मृति-पुराण आदि की अनमोल संपदा! तो फिर, उन ज्ञानभगीरथों की महिमा की थाह पाने

* "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥"

का दावा कौन करे ? वे तो पूर्वोल्लिखित सूर्यवंशी सम्राट् भगीरथ से भी कहीं अधिक चमत्कारी महापुरुष थे। कारण, वे न केवल इस ज्ञान-स्रोतस्विनी को उमगाकर ही रह गए, बल्कि युग-युग में पुनः-पुनः सामने आ-आकर इसके प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने में भी अनवरत योग प्रदान करते रहे हैं !

हमारी ज्ञानवेदी की युगल ज्योतिर्धर-परम्पराएँ

भारतीय ज्ञानवेदी को आलोकित करनेवाले ये ज्योतिर्धर पुरातन काल से दो अलग-अलग परंपराओं में पंक्तिबद्ध देख पड़ते हैं। इनमें एक परंपरा क्रान्तदर्शी ऋषि-मुनियों और संतों की है; दूसरी व्याख्याताओं, भाष्यकारों और मीमांसकों की। क्रान्तद्रष्टा अन्तस्तल की गहन गुहा में आत्मसाक्षात्कार करते; तदनन्तर निज अनुभूतियों को समाधि-भाषा में व्यक्त किया करते हैं। व्याख्याता, भाष्यकार, मीमांसक उन अटपटे वचनों का सरल अर्थ प्रस्तुत करते। इस प्रकार इस पुण्य-भूमि की ज्ञान की कमाई को सतत लोकमानस में उतारने का ही प्रयास करते वे पाए जाते हैं।

प्रथम परंपरा के श्रेष्ठतम प्रतिनिधि मेधातिथि काण्व, वामदेव, गृत्समद, वसुक्र, अथर्वण, दीर्घतमस, पिप्पलाद, भृगु, अंगिरा, याज्ञवल्क्य आदि वैदिक-औपनिषदिक मंत्रद्रष्टा हैं। इसी कोटि में कपिल, गौतम, कणाद, पतंजलि, बादरायण व्यास आदि दर्शनकारों एवं गीता-ज्ञान के उद्गाता योगेश्वर श्रीकृष्ण का भी समावेश है। जैन-बौद्ध मतों के प्रतिपादक वर्द्धमान महावीर एवं गौतम बुद्ध जैसे मनीषियों तथा कबीर, नानक, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि जैसे अवधूत संतों की भी गणना इसी परंपरा के अन्तर्गत की जा सकती है।

उधर दूसरी धारा में, हमें वाल्मीकि और वेदव्यास जैसी प्राचीनकालीन धर्मविभूतियों; शंकर, रामानुज, मध्व, ज्ञानेश्वर, वल्लभ आदि मध्यकालीन आचार्यों; तथा दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, आनन्द कुमारस्वामी, मधुसूदन ओझा, भण्डारकर, तिलक, गान्धी, सातवलेकर, कणे, विनोबा भावे, राधाकृष्णन् प्रभृति कितने ही अर्वाचीन ज्ञानगुरुओं की आभा जगमगाते देख पड़ती है। इसी परंपरा में यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि जैसे शब्दशास्त्रियों; नागार्जुन, प्रशस्तपाद, वाचस्पति मिश्र, विज्ञान भिक्षु आदि दार्शनिकों; वात्स्यायन, दिङ्नाग, उद्योतकर, उदयन आदि नैयायिकों; शबरस्वामी, कुमारिल, प्रभाकर, मुरारि मिश्र आदि वेद-मीमांसकों; तथा सायण, भारुचि, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर जैसे भाष्यकर्त्ताओं, टीकाकारों आदि की भी नामावली सार्थकतापूर्वक हम सन्निहित कर सकते हैं।

यहाँ इस तथ्य को हमें नहीं भुला देना चाहिए कि ये गिने-चुने नाम केवल उदाहरण के तौर पर ही प्रस्तुत किए गए हैं। यथार्थतः तो उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उसका आँक सैकड़ों-हजारों तक पहुँच सकता है। इसी तरह से यह भी याद रखना जरूरी है कि देखने में पृथक् जान पड़ने पर भी उपर्युक्त परंपराएँ एक-दूसरे की पूरक हैं, प्रतिद्वन्द्वी नहीं ! फिर बालमीकि, वेदव्यास, शंकर, ज्ञानेश्वर, अरविन्द घोष जैसे कितने ही नाम ऐसे भी हैं, जोकि दोनों ही परंपराओं में समान प्रतिष्ठा पाए हुए हैं—अर्थात् वे व्याख्याताओं में तो सिरे पर स्थित हैं ही, साथ ही साथ क्रान्तद्रष्टा महामनीषियों की कोटि में भी अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित पाए जाते हैं !

आचार्य वासुदेवशरण भी इन्हीं ज्ञानभगीरथों की शृंखला में उपजे थे

यह कोई कम गौरव की बात नहीं है कि इस ग्रन्थ के चरितनायक आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल का भी नाम--भारतीय संस्कृति के एक अन्यतम व्याख्याता के रूप में--ज्ञानभगीरथों की ऊपर उल्लिखित मणिमाला में चिरकाल के लिए सूत्रबद्ध हो चुका है ! आज इतिहास, पुरातत्त्व, कला-मीमांसा, साहित्य-समीक्षा, पुराणविद्या, वेदविज्ञान आदि विविध ज्ञान-विधाओं की भूमिका पर उनका साका मुक्त कंठ से स्वीकार किया जा रहा है ! विशेषतया, 'वेदविद्या' के अर्थ-समाधान की दिशा में जो पथप्रदर्शन उन्होंने किया है, उस नाते तो देश-विदेश में सर्वत्र उन्हें एक अनूठे मार्गदर्शी के रूप में अर्घ्य-प्रदान किया जाने लगा है !

हमें तो यही सोचकर अपना भाग्य सराहना चाहिए कि ऐसी विलक्षण प्रतिभा इस काल में हमारे बीच उपजी ! हममें से कई को इस सरस्वती-पुत्र के निकट संपर्क का भी दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ ! साथ ही उस अनमोल ज्ञान-संपदा के उत्तराधिकारी बनने का सौभाग्य हम सबको मिला, जिसकी विरासत यह ज्ञान-ज्योतिर्धर अपनी अर्द्धशताब्दिव्यापी तपश्चर्या के सुफल के रूप में हमारे लिए अपने पीछे छोड़ गया है !

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की देन इतनी विस्तृत है कि ज्ञान-संस्कृति की किसी एक शाखा विशेष के साथ उनका नाम संलग्न करके उनका पूरा परिचय दे पाना संभव नहीं ! उन्होंने एक ओर, पुरातत्त्वविद् का बाना पहनकर, अपनी बासठ-वर्षीय आयु का तृतीयांश विविध राज्य-संग्रहालयों का सूत्र-संचालन करने में खपा दिया था। दूसरी ओर, कला-मीमांसक के रूप में अगणित शोध-निबन्धों की भेंट देकर तथा 'भारतीय कला', 'मथुरा-कला', 'स्टडीज इन इन्डियन आर्ट' जैसे महत्व-

पूर्ण समीक्षात्मक ग्रंथों की रचना करके अनूठी कीर्ति-प्रतिष्ठा उन्होंने अर्जित की थी। इसी तरह से, साहित्य के प्रांगण में उतरकर, उन्होंने जायसी के अवधी काव्य 'पदमावत' तथा विद्यापतिरचित अवहट्ट भाषा की काव्यकृति 'कीर्तिलता' से लेकर ठेठ कालिदास के 'मेघदूत' और बाणभट्ट के 'हर्षचरित' एवं 'कादम्बरी' जैसे संस्कृत-वाङ्मय के चोटी के ग्रंथों की पांडित्यपूर्ण व्याख्या कर डाली थी ! इतिहास-पुराण की वेदी पर आकर 'भारत-सावित्री' के रूप में ग्रंथराट् 'महाभारत' का सार निचोड़कर जन-जन के लिए सुलभ कर दिया था। साथ ही वामन, मत्स्य, मार्कण्डेय आदि पुराणों को भी नवीन दृष्टि से आद्योपान्त नाप-जोख डाला था। फिर, सबसे मार्के की करामात तो उन्होंने यह की थी कि एक ओर पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' जैसी सूत्रबद्ध व्याकरण-रचना के कलेवर में से पुरातन इतिवृत्त, भूगोल, समाज-व्यवस्था, शासनप्रणाली, अर्थतन्त्र, शिक्षा, कला, तत्त्वज्ञान आदि की मूल्यवान् सामग्री उन्होंने छान निकाली थी ! दूसरी ओर, गीता एवं उपनिषद् के ज्ञानोदधि को मथकर अध्यात्मतत्त्व का अमृततुल्य 'नवनीत' जनसामान्य के लिए उपलब्ध कर दिया था ! साथ ही ऋग्वेद के 'अस्यवामीय', 'नासदीय' आदि गूढ़ सूक्तों की पहेलियों का अर्थ-समाधान करके वेदों की गुह्य संजीवनी विद्याओं के भी कितने ही बन्द कपाट खोल दिए थे !

भला, जिसकी साधना का वर्णपट ऐसे बहुविध कृतित्व का चित्रपट दरसा रहा हो, उस बहुश्रुत व्यक्तित्व को एक विशिष्ट विधा की सीमाओं में क्योंकर बाँधा जा सकता है ? सच तो यह है कि देखने में डेढ़ पसलियों के दुबले-पतले शरीर में बसे रहने पर भी, आचार्य वासुदेवशरण प्राचीन ऋषियों की-सी मेधा-प्रतिभा से संपन्न अद्वितीय महामनस्वी थे। वह शतशः 'ज्ञानमूर्ति' थे। उनके तेजस्वी प्रभामंडल में, एक ही व्यक्तित्व में, वेदविद्या के समर्थ ज्ञानगुरु पं० मधुसूदन ओझा, प्राच्यविद्याविदों के अग्रनेता डॉ० रामकृष्ण भंडारकर तथा भारतीय कला-मीमांसकों के अग्रणी मार्गदर्शी डॉ० आनन्द कुमारस्वामी—इन तीनों ही अर्वाचीन ज्ञानज्योतिर्धरों की आभा का दर्शन किया जा सकता था ! उन्हें पाकर हम निहाल हुए हैं ! बल्कि यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि उनके आलोक से प्राच्यविद्या का समूचा प्रांगण ही गौरवान्वित हुआ है ! उनके संबंध में, स्वतः उन्हीं की अपनी लेखनी द्वारा पुराणपुरुष महर्षि वेदव्यास की स्तुति में अर्पित ये प्रशस्ति-वाक्य शतशः चरितार्थ प्रतीत होते हैं कि वह "ज्ञानरूपी हिमवान के उच्च शिखरों पर बहनेवाले दिव्य जलों को भूतल पर ले आए ! उन्होंने लोक-साहित्य को वेग की प्रेरणा दी ! उनके द्वारा पूर्वजों के ज्ञान और चरित्रों से गुम्फित सरस्वती लोक के कंठ में आ विराजी।" सूत्र रूप में कहा जाय तो वह थे इस

काल के मानो दूसरे वेदव्यास, जिन्होंने हमारी संस्कृति की सहस्रधा परंपराओं को प्रेरित-अनुप्राणित करनेवाले ज्ञानस्रोतों को भारतीय वाग्धारा में से छानबीनकर आगे आनेवाली पीढ़ियों के हेतु उन्हें विशद भाव से स्पष्ट कर दिया !

पुरातत्त्व एवं कला-क्षेत्र की प्रारंभिक साधना

यह स्वाभाविक ही था कि जिन्होंने अपनी आयु के लगभग बीस वर्ष पुरातत्त्व-विभाग की राजकीय सेवा में व्यतीत किए हों, उनकी ज्ञान-साधना का प्रवाह आरंभ में मुख्यतः इतिहास, पुरातत्त्व एवं कला-समीक्षा के ही प्रांगण में उमगकर सामने आता। वासुदेवजी, लखनऊ-विश्वविद्यालय से इतिहास में एम०ए० की उपाधि प्राप्त करने के तुरन्त बाद, मथुरा के 'कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्कियालॉजी' के 'क्यूरेटर' (संग्रहालयाध्यक्ष) के पद पर नियुक्त हो गए थे। इस दायित्व को लगभग दस वर्ष तक बड़ी योग्यता से सँभालने के बाद, स्थानान्तरित हो वह लखनऊ आए थे, जहाँ स्थानीय संग्रहालय की बागडोर उन्हें ग्रहण करना पड़ी थी। तब छः वर्ष बाद, 'मध्य एशियाई पुरातत्त्व-सामग्री' के नवसंस्थापित 'म्यूजियम' का सूत्र-संचालन करने के लिए, उन्हें दिल्ली चले जाना पड़ा था। इसके वर्ष भर बाद ही स्वतंत्रता का उदय हुआ था। इस पटपरिवर्तन के साथ (उन्हीं की प्रेरणा के फलस्वरूप) राजधानी में एक केन्द्रीय राष्ट्रीय पुरातत्त्व-संग्रहालय की स्थापना का निर्णय किया गया था। उसके प्रथम निदेशक का पद ग्रहण करने के लिए भी वही मनोनीत हुए थे। इस संग्रहालय का गठन करने में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

अपनी इस राजकीय सेवा के दौर में, हमारे चरितनायक ने एक सफल एवं निष्ठावान् प्रशासक के रूप में तो अनिंद्य कीर्तिमान स्थापित किया ही, साथ ही साथ उन्होंने पुरातत्त्वीय शोध-अनुसन्धान तथा कला-मीमांसा की वेदी पर भी निज ज्ञान-साधना द्वारा एक दीपमालिका-सी सँजो दी ! उन्होंने 'कर्जन-म्यूजियम' की आसन्दी पर प्रतिष्ठापित होते ही जो पहला काम किया, अकेला वही अनुष्ठान उनके प्रति विद्वद्जगत् का ध्यान बरबस खींच लेने के लिए पर्याप्त था ! मथुरा का पुरातत्त्व-संग्रहालय प्राक्-कुषाण, कुषाण और गुप्त काल की मूल्यवान् सामग्री के संचय के नाते जगद्विख्यात है। इस विशिष्ट कला-उपलब्धि को पुरातत्त्वीय क्षेत्र में 'मथुरा-कला' की संज्ञा प्रदान की जाती है। भारतीय कला के इस अंग के प्रारंभिक अध्येताओं में डॉ० आनन्द कुमारस्वामी तथा फोगल (Vogel) नामक योरपीय विद्वान् का स्थान अग्रणी स्वीकार किया जाता है। कुमारस्वामी का मथुरा-कला विषयक अध्ययन 'हिस्ट्री ऑफ इन्डियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट' नामक उनकी प्रसिद्ध कृति में उपलब्ध है। डॉ० फोगल की तद्विषयक प्रतिष्ठा 'ला स्कलपचर द

मथुरा' नामक फ्रेंच पुस्तक तथा उनके द्वारा निर्मित मथुरा-संग्रहालय के प्रसिद्ध 'कैटलॉग' (सूचीपत्र) पर स्थापित है। यद्यपि फोगल का कैटलॉग आज भी बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है, परन्तु चूंकि वह निर्मित हुआ था १९१० ई० में, अतः बाद को जमा की गई अनेकानेक कलाकृतियों की जानकारी के लिए उस सूचीपत्र से कोई सहायता नहीं मिलती। अग्रवालजी ने जब 'कर्जन-म्यूजियम' का भार ग्रहण किया, तो स्वभावतः यह अभाव उन्हें खटका! सबसे अखरनेवाली बात तो यह थी कि यद्यपि उनसे पहले इस संस्थान की गद्दी को वास्ट, राधाकृष्ण, रामप्रसाद चंदा, दयाराम साहनी जैसे ख्यातनामा पुरातत्त्ववेत्ता सुशोभित कर चुके थे, तथापि किसी ने भी फोगल के सूचीपत्र से आगे संग्रहालय की कला-सामग्री की विधिवत् पंजिकाएँ निर्मित करने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया था। अतः हमारे चरितनायक के लिए इसके सिवा कोई चारा ही नहीं था कि इस अभाव की पूर्ति के लिए कृतसंकल्प हो वह स्वयं ही मैदान में उतरें।

इस भगीरथ कार्य को संपन्न करने में अग्रवाल जी को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ा। उन्होंने पहले धैर्य के साथ फोगल के पुराने 'कैटलॉग' का सूक्ष्म अध्ययन किया। तदनन्तर संग्रहालय के धूल चाटते हुए रजिस्टरों के भी पन्ने उलटना-पलटना शुरू किया। यही नहीं, फोगलकृत 'ला स्कल्पचर द मथुरा' नामक फ्रेंच पुस्तक को भी हृदयंगम करने का प्रयास उन्होंने किया, यद्यपि फ्रेंच भाषा का ककहरा भी वह नहीं जानते थे। इस कार्य को उन्होंने एक शब्दकोश की सहायता से—एक-एक फ्रेंच शब्द का अर्थ टटोलकर—साधा था।* इस प्रकार जब म्यूजियम की सामग्री की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि से वह पूर्णतया अवगत हो लिए, तो १९३९ ई० तक संगृहीत तमाम नई-पुरानी कलाकृतियों का मूल्यांकन करते हुए, अंग्रेजी में चार विस्तृत सूचियाँ उन्होंने तैयार कीं, जिनके शीर्षक थे—

१. 'बुद्ध एण्ड बोधिसत्व इमेजेज इन द मथुरा-म्यूजियम' (अर्थात् मथुरा-संग्रहालय की बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ);

२. 'ब्राह्मनिकल इमेजेज इन मथुरा-आर्ट' (अर्थात् मथुरा-कला की ब्राह्मण-धर्मीय मूर्तियाँ);

३. 'जैन तीर्थंकर्स इमेजेज इन द मथुरा-म्यूजियम' (अर्थात् मथुरा-संग्रहालय की जैन-तीर्थंकर-प्रतिमाएँ);

***मथुरा-संग्रहालय के कार्यकाल की उनकी इस कठोर साधना का बड़ा मार्मिक चित्र डॉ० नीलकण्ठ जोशी ने वासुदेव जी के सम्बन्ध में लिखित 'डॉ० फोगल के पदचिह्नों पर' शीर्षक अपने संस्मरणात्मक लेख में प्रस्तुत किया है। यह लेख इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित है।**

४. 'आर्किटेक्चरल पीसेज इन द मथुरा-म्यूजियम' (अर्थात् मथुरा-म्यूजियम में संगृहीत वास्तुशिल्प के नमूने)।

इन पंजिकाओं की समस्त सामग्री को 'कुषाण', 'गुप्त' और 'मध्यकाल' इन तीन महाविभागों में ब्यौरेवार बाँटकर उन्होंने उसे इस ढंग से अनुसूचित किया था कि तिथिक्रमानुसार पहले वे कृतियाँ आ गई थीं, जिनका कालनिर्णय हो चुका था और तदनन्तर वे, जिनकी तिथि अभी अनिर्णीत थीं। अध्येताओं की सुविधा के हेतु फोगल के पुराने सूची-नंबर इस तालिका में भी पूर्ववत् ही कायम रखे गए थे। हाँ, अंत में एक परिशिष्ट में संग्रहालय-रजिस्टर के नंबर भी दे दिए गए थे, जो बड़े उपयोगी थे। ये सूचियाँ आरम्भ में 'यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी' के जर्नल में निकली थीं। तदनन्तर वे 'मथुरा-म्यूजियम कैटलॉग' शीर्षक से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो गई थीं।

लखनऊ-संग्रहालय का कायाकल्प

१९४० ई० में मथुरा से स्थानान्तरित होकर हमारे चरितनायक जब लखनऊ आए, तो यहाँ भी उन्हें अपनी अगवानी के लिए कई एक समस्याओं की चुनौती तैयार खड़ी मिलीं। इस नगर के पुरातत्त्व-संग्रहालय को जनता ने (उसके एक कक्ष में जीव-जन्तुओं के शवों के नमूने प्रदर्शित होने के कारण) 'मुर्दा अजायबघर' का अनूठा नाम दे रक्खा है। यह नामकरण (बनारसी बाग में स्थित 'जिन्दा अजायबघर' कहकर पुकारी जानेवाली 'जन्तुशाला' से उसकी पृथक् पहचान के लिए) निश्चय ही बड़ा उपयुक्त है। परन्तु फिलहाल जिस सन्दर्भ में इसका उल्लेख हम यहाँ करने जा रहे हैं, वह वस्तुतः दूसरे ही अर्थ में है। इस समय हमारी चर्चा का विषय है दरअसल इस म्यूजियम की वह बुरी हालत, जोकि हमारे चरितनायक को उसका प्रशासन-भार ग्रहण करने के क्षण में मिली थी। उस समय यह अजायबघर सचमुच ही 'मुर्दा' या बेजान-सा होकर अपना पूर्वोक्त लौकिक नाम शतशः सार्थक कर रहा था!

इस पुरातत्त्व-संस्थान की उस घड़ी की दुर्व्यवस्था का बखान कोई क्या करे? यद्यपि मथुरा-म्यूजियम की भाँति यहाँ भी प्राक्-कुषाण, कुषाण, गुप्त एवं मध्यकालीन पुरातत्त्व-सामग्री का बड़ा कीमती खजाना मौजूद था, पर अनदेखी कहिए या लापरवाही, उस मूल्यवान् जखीरे के कई एक नमूने अभी बरामदों, गलियारों और गोदामों में— यहाँ तक कि खुले मैदान तक में—पड़े-पड़े धूल चाट रहे थे और शून्य में ताकते हुए मानो प्रदर्शन-कक्षों में पहुँचने की बाट जोह रहे थे! इसी

प्रकार से मृण्मूर्तियों का भी खासा अच्छा संग्रह यहाँ विद्यमान था। परन्तु वे भी प्राय: ईंट-खपड़ों की तरह कोने में ढेर लगाए पड़ी थीं—चाहे वे अहिच्छत्रा के अज्ञातनामा मूर्तिकारों की लचकीली उँगलियों की छाप अपनी मिट्टी की काया पर प्रत्यांकित किए हुए हों, चाहे राजघाट (वाराणसी) और कौशाम्बी के अद्वितीय कलाविदों की कल्पना की यादगार ! यही नहीं, प्राचीन सिक्कों के भी कतिपय नमूने अभी प्रदर्शन-कक्ष तक नहीं पहुँच पाए थे—वे थैलियों में बंद होकर छाँटे जाने अथवा पहचाने जाने का ही इन्तजार अभी कर रहे थे !

इस परिस्थिति से युवा वासुदेवशरण का जी तिलमिला उठा और मथुरा की भाँति यहाँ भी उन्हें सिवा इसके कोई उपाय नहीं देख पड़ा कि इस कला-संस्थान को वर्षों के मकड़ी-जालों से छुटकारा दिलाने के लिए स्वयं ही कमर कसकर जूझें। यह आज से लगभग बत्तीस वर्ष पूर्व की बात हम कह रहे हैं, जबकि संग्रहालय के बनारसीबाग वाले वर्तमान भव्य भवन का कहीं अता-पता भी नहीं था। तब भी म्यूजियम का पाषाण-शिल्प-विभाग तो आज की तरह कैसरबाग के पुराने कैनिङ्ग कालेजवाले भवन के एक खण्ड में ही अवस्थित था। परन्तु शेष सामग्री छतर-मंजिल के समीपस्थ 'लाल बारादरी' नामक नवाबी जमाने की एक पुरानी इमारत में अँटी हुई थी।

वासुदेवशरण जी द्वारा आरम्भ किए गए संग्रहालय के इस कायाकल्प-अनुष्ठान का सर्वाधिक प्रभाव उक्त कैसरबागवाले कक्ष पर ही पड़ा था। उनका हाथ लगते ही देखते-देखते इस विभाग का चेहरा ही बदल गया ! प्रधान सभामंडप और उसके आसपास के कक्षों में कुषाण, गुप्त, मध्यकाल आदि विभिन्न युगों तथा बौद्ध, जैन, ब्राह्मणधर्मीय आदि विविध वर्गों के अनुसार मुख्य-मुख्य कलाकृतियाँ वैज्ञानिक रीति से उपयुक्त परिचय-पट्टिकाओं सहित पादपीठिकाओं पर आरूढ़ हो गईं। मृण्मूर्तियाँ बड़े आकर्षक ढंग से पहलेपहल एक विशेष दीर्घा में सामने आईं। दर्शकों के मार्गदर्शन के लिए एक योग्य अधिकारी की भी व्यवस्था इस विभाग में कर दी गई। फलत: जहाँ पहले 'लाल बारादरी' वाले जन्तु-कक्ष की झाँकी पाकर ही लोग अजायबघर की सैर को पूरी हो गई मान लिया करते थे, वहाँ अब इस विभाग में प्रदर्शित पाषाण एवं मिट्टी की मूर्तियों को देखने के लिए भी दर्शकों के हुजूम-से लगने लगे ! उधर स्वत: 'लाल बारादरी' भी (एक ओर जन्तु-दीर्घा के पुनर्व्यस्थित होने तथा दूसरी ओर चित्रों, कांस्य प्रतिमाओं, सिक्कों आदि के प्रदर्शन-कक्षों के विस्तार एवं पुनर्संस्कार की बदौलत) बिलकुल नया चेहरा दरसाने लगी। इस प्रकार, कुछ ही समय में 'मुर्दा' कहलानेवाला यह अजायबघर एक कायाकल्प-क्रिया के दौर में से गुजरकर मानो फिर से जिन्दा हो उठा !

इस लोकरंजक कला-संस्थान को वास्तविक रूप में 'लोकायतन' बनाने की दिशा में वासुदेवजी कितने अधिक जागरूक थे और छोटी से छोटी बात पर भी निजी रूप से ध्यान देकर उसे अधिकाधिक जनोपयोगी बनाने के लिए सतत कितने अधिक उत्सुक वह रहा करते थे, इसका अनुभव इन पंक्तियों के लेखक को एक बहुत मामूली-सी बात को लेकर एक बार हुआ था। प्रसंग था—लेखक की कृति 'भारत-निर्माता' के हेतु समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त आदि के मूल सिक्कों को सामने रखकर कतिपय रेखाचित्रों का निर्माण, जिसके लिए उनसे सविनय अनुमति माँगी गई थी। इस प्रसंग की जो उल्लेखनीय बात थी, वह यह थी कि अग्रवाल जी ने न केवल मनोनीत कलाकार (श्री पन्नालाल) को संग्रहालय में आकर उक्त कार्य को करने की समस्त सुविधाएँ ही सहर्ष प्रदान कर दीं, वरन् उक्त कलाविद् की रचना-शैली से प्रभावित होकर स्वयं भी उनसे कई एक सिक्कों के बहुत बड़े आकार के रेखाचित्र (उचित पारिश्रमिक देकर) संग्रहालय के लिए बनवाए ! ये रेखाचित्र म्यूजियम के प्रवेशद्वार पर उपयुक्त परिचय-पट्टिका सहित टाँग दिए गए, ताकि जनसाधारण उनके प्रति आकृष्ट होकर मूल सिक्कों को देखने के लिए उत्साहित हो सकें !

'अरे भैया ! कहीं सरकारी कामकाज में ऐसी जानमार मशक्कत और तड़ाक-पड़ाक की जाती है ?'

इसी क्रम में, प्रसंगतः, उनके लखनऊ-संग्रहालयवाले दिनों के एक और संस्मरण की याद इस समय आ रही है, जिसके उल्लेख का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। इस प्रकरण का जिक्र स्वयं वासुदेव जी ने अपने लखनऊ-आवास के दिनों में बड़े विनोदपूर्वक इन पंक्तियों के लेखक के समक्ष किया था। बात यों हुई थी कि जिन दिनों अग्रवाल जी जीतोड़ मेहनत करके एक ओर बिना छाँटे सिक्कों की थैलियाँ खुलवाकर छानबीन करने तथा दूसरी ओर अनिर्णीत कला-कृतियों की तिथि, रचना-शैली, अभिप्राय आदि के बारे में माथापच्ची करने में बेतरह उलझे हुए थे, तभी एक रोज उनसे पहले के अवकाशप्राप्त 'क्यूरेटर' (जो कि लखनऊ के ही निवासी थे) कार्यवश अकस्मात् संग्रहालय में आ उपस्थित हुए। जब उन्होंने अपने इस तरुण उत्तराधिकारी को एड़ी-चोटी का पसीना एक करते हुए इस तरह काम में जुटे देखा, तो वह चौंक पड़े और कुछ कहे बिना उनसे नहीं रहा गया ! बड़े ही धीमे और दबे हुए स्वर में उन्होंने वासुदेवजी के कान में कहा—'यह क्या करने लगे हैं आप ? अरे भैया ! कहीं सरकारी कामकाज में ऐसी जानमार मशक्कत और तड़ाक-पड़ाक की जाती है ?'

गुरुजनों का सम्मान करने में सदैव तत्पर अग्रवालजी उन अनुभवी बुजुर्ग की उस 'नेक' बात का क्या ज़वाब देते ? वह केवल मन्द-मन्द मुस्कराकर ही रह गए ! परन्तु उन अवकाशप्राप्त सज्जन की उक्त मार्मिक उक्ति की तह में सरकारी दफ्तरों की कुम्भकर्णी निष्क्रियता तथा लाल फीताशाही की शनैश्चरी गति के जिस अटल विधान का संकेत निहित था, वह वस्तुतः कोई खयाली बात नहीं थी ! यह तो रोजमर्रे के तजर्बे का एक ऐसा मँजा हुआ ठोस सत्य था, जिसकी वास्तविकता से टकराकर अंततोगत्वा हमारे चरितनायक को ही 'हार' मानना पड़ी—क्योंकि पुरातत्त्व-विभाग की सेवा में खस्वस्तिक की ऊँचाई पर पहुँचते-पहुँचते, १९५१ ई० में, जनक एवं युधिष्ठिर की भाँति धर्मनीति तथा कर्त्तव्यनिष्ठा पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहनेवाले सत्यसंकल्पी डॉ० अग्रवाल (इस लाल फीताशाही के फन्दे से अपने आपको मुक्त कर लेने के उत्कट आवेग में) समय से पहले ही सरकारी नौकरी से निवृत्त हो गए और जीवन के अंतिम चरण में अध्यापक का बाना पहनकर काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य करने लगे !

पुरातत्त्व एवं कला विषयक निबन्धों का ताँता

अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में समान लाघवतापूर्वक अपने विचार व्यक्त करने की क्षमता रखनेवाले, लेखनी के महाधनी, अग्रवालजी ने अपने पुरातत्त्वीय जीवन के प्रारम्भिक दौर के समय से ही गण्यमान्य पत्र-पत्रिकाओं में इतिहास, पुरातत्त्व, कला आदि विषयों पर पांडित्यपूर्ण शोध-निबन्ध, टिप्पणियाँ आदि लिखते रहकर आजीवन इस क्षेत्र को अपनी अद्वितीय सारस्वत देन का लाभ प्रदान किया था। इसका जीवन्त साक्ष्य है उनके द्वारा रचित वह कला-मीमांसापरक बृहत् साहित्य, जिसका तारतम्य ठेठ १९३३ ई० में उनके मथुरा के पुरातत्त्वीय कार्यकाल से आरम्भ होकर जीवन के अन्तिम दिनों तक लगभग बत्तीस-तैंतीस वर्षों की दीर्घ कालावधि में पसरा हुआ है। उनके शुरू-शुरूके पुरातत्त्व-विषयक लेख तो प्रायः सबके सब 'मथुरा-कला' से ही सम्बन्धित थे, परन्तु बाद में भारतीय कला के सर्वेक्षण का उनका दायरा और आगे बढ़ता गया और उसकी परिधि में ठेठ सिंधु-सभ्यता की कला से लेकर उत्तरमध्यकाल तक की हमारी लगभग संपूर्ण कला-साधना का विस्तार सन्निहित हो गया। तत्कालीन आवश्यकता के अधीन, उनके अधिकतर शोध-निबन्ध अंग्रेजी में ही लिखे गए थे। पर (पाठकों की सुविधा के हेतु) यहाँ उनमें से कुछ का नामोल्लेख करते हुए हम उनके शीर्षकों के हिन्दी-रूपान्तर दे रहे हैं। उनके कतिपय प्रसिद्ध लेख ये हैं, जिनमें से कई एक 'स्टडीज इन इण्डियन आर्ट' नामक उनकी अंग्रेजी पुस्तक में संगृहीत भी हो चुके हैं—'मथुरा

की प्राक्-कुषाण कला' (१९३३ ई०); 'मथुरा का एक गुप्तयुगीन शिवलिंग' (१९३५ ई०); 'ऋष्यशृंग की उत्टंकित शिल्पछवि' (१९३६ ई०); 'मथुरा की मृण्मूर्तियाँ' (१९३६ ई०); 'मथुरा-कला की ब्राह्मणधर्मीय कृतियाँ' (१९३७ ई०); 'ध्यानी बुद्ध एवं बोधिसत्व' (१९३८ ई०); 'वसुधारा' (१९३९ ई०); 'शिशुमार शिर:' (१९३९ ई०); 'मथुरा के वेदिका-स्तम्भ' (१९४० ई०); 'अहिच्छत्रा से प्राप्त मिट्टी की मूर्तियाँ' (१९४० ई०); 'प्राकारवप्र कुंडल' (१९४२ ई०); 'कल्पवृक्ष' (१९४३ ई०); 'मध्यकालीन मंदिर-स्थापत्य पर एक टिप्पणी' (१९४३ ई०); 'मथुरा-आयागपट्ट' (१९४३ ई०); 'पुरातत्त्व एवं कला सम्बन्धी विशेष शब्दावली' (१९४५ ई०); 'मथुरा के वेदिका-स्तम्भों की राजप्रासादीय झाँकियाँ' (१९४६ ई०); 'ललित कला' (१९४९ ई०); 'कालिदास का कला-साक्ष्य' (१९४९ ई०); 'दर्रा (मालवा) का एक गुप्तकालीन मंदिर' (१९५० ई०); 'हरद्वार से प्राप्त समुद्रमंथन की शिल्प-अवतारणा' (१९५१-५२ ई०); 'विश्वकर्मा' (१९५९ ई०); 'गुप्तकला का सर्वेक्षण' (१९६१ ई०); 'नचना-कुठारा और खोह से प्राप्त कलाकृतियाँ' (१९६१ ई०); तथा 'भरहुत का महान् स्तूप' (१९६२ ई०)। इनके अतिरिक्त समय-समय पर उनकी कई और रचनाएँ भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं, जिनके विषय 'सिन्धु-घाटी की कला', 'मौर्य कला', 'पाणिनि को ज्ञात प्राचीन भारतीय सिक्के', 'यौधेय मुद्राएँ', 'माशक सिक्कों के प्रतीक-चिन्ह', आदि इतिहासपरक प्रकरणों से लेकर 'पूर्ण कुंभ', 'चक्रध्वज', 'कीर्त्ति-कीर्तिमुख-कीर्तिस्तम्भ', 'लाखामंडल से प्राप्त कलाकृतियाँ', 'भारतीय कला-प्रतीकों की वर्णमाला' तथा 'मध्यकालीन सूक्ष्म चित्रांकन' जैसे कला-संस्कृतिपरक शीर्षकों की बहुरंगी परिधि में फैले हुए थे !

भला, जिसकी सारस्वत साधना का कला-पुरातत्त्व विषयक वर्णपट इतने दीर्घ विस्तार में पसरा हो, उसकी महिमा का आँक इन गिने-चुने शब्दों के पैमाने से क्योंकर आँका जा सकता है ? यहाँ तो एक ओर यदि मथुरा के वेदिका-स्तम्भों पर उत्टंकित 'अशोक-दोहद', 'निर्झर-स्नान', 'सद्य:स्नाता', 'अशोक-पुष्पप्रचायिका', 'खड्गाभिनय', 'शुकक्रीड़ा', 'मदनोत्सव', 'कंदुक-क्रीड़ा', 'नर्तकी', 'वंशी-वीणा-वादिनी' आदि की लोकजीवनपरक शिल्प-अवतारणाओं की कला-मीमांसा उपलब्ध है, तो दूसरी ओर उड़ीसा की रानीगुंफा नामक कंदरा की शकुन्तला एवं वासवदत्ता सम्बन्धी शिल्प-छबियों के प्रति भी ध्यान आकर्षित किया गया है ! इधर परखम, झिंगा-का-नगरा, नोह आदि ब्रजभूमि के मथुरा-निकटस्थ स्थानों से प्राप्त प्राक्-कुषाण यक्षमूर्तियों का पवाया (प्राचीन पदमावती), विदिशा, बेसनगर, पटना, शिशुपालगढ़ (उड़ीसा) जैसे दूर-दूर के ऐतिहासिक स्थलों से मिलने-

वाली उसी प्रकार की यक्ष-प्रतिमाओं से साम्य दिग्दर्शित करने का पांडित्यपूर्ण प्रयास किया गया है, तो उधर कालिदास एवं बाणभट्ट जैसे महान् साहित्यकारों के कृतित्व में समसामयिक कला के प्रेरक सूत्रों का अकाट्य साक्ष्य प्रस्तुत करने का भी स्तुत्य अनुष्ठान उठाया गया है ! फिर, सबसे मार्के का चमत्कार तो यहाँ इस अद्भुत करामात को लेकर हमें देखने को मिल रहा है कि 'विजन इन लांग डार्कनेस' नामक अपनी वेदमीमांसापरक सुप्रसिद्ध कृति को चित्रित करने के लिए, इस महान् कला-समीक्षक ने सारनाथ, मथुरा, अहिच्छत्रा आदि की कला में से ऋग्वेद के 'अस्यवामीय सूक्त' की गूढ़ आध्यात्मिक पहेलियों के 'विश्वपति सप्तपुत्रम्', 'द्वा सुपर्णा निविशन्ते', 'सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते', 'दिव्यं सुपर्ण', 'यस्तो स्तन शशयो यो मयो भूः', 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्', जैसे कितने ही वाक्यांशों के प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करनेवाले हूबहू शिल्प-अभिप्राय खोज निकाले हैं !

कला के आधारभूत तत्त्वों को पहचाननेवाले रसशास्त्री

सच बात तो यह थी कि मथुरा से लखनऊ तथा वहाँ से दिल्ली आकर, पुरातत्त्व-विभाग की सेवा में वर्षों तक अपने आपको खपाने के बाद, उनकी आयु के सैंतालीसवें वर्ष में एकाएक वह जो पटपरिवर्तनकारी मोड़ आया था, जिसके कि वेग में वह समय से पहले ही सेवानिवृत्त हो गए थे, उससे चाहे शासनसत्ता की कितनी ही अपूरणीय हानि (एक निष्ठावान् प्रशासक से हाथ धोकर) हुई हो, परन्तु इतिहास, पुरातत्त्व एवं कला की ज्ञानवेदी के हित में इस घटना से कोई घाटा होते नहीं जान पड़ा था ! कारण, सरकारी नौकरी के बन्धन से मुक्ति पाकर अग्रवाल जी इसके बाद अहर्निश वीणापाणि भगवती सरस्वती की आराधना में ही अपलक रत रहने लगे थे। फलतः जीवन के इस आखिरी चरण में, जहाँ हमने उन्हें नित ही विश्वविद्यालय के कला-स्थापत्य-विभाग की व्यासगद्दी से अपनी अजस्र वाग्धारा प्रवाहित करके शिष्य-मंडली को प्रेरित-अनुप्राणित करते देखा, वहाँ दूसरी ओर अपनी गरिमामयी लेखनी को तनिक भी विश्राम न देकर पुरातत्त्व एवं कला की साहित्य-झोली को भरते रहने के जीवनव्यापी अनुष्ठान को और भी तीव्रतर बनाते हुए वह हमें देख पड़े ! यहाँ तक कि अन्य सब कार्यों का तारतम्य जारी रखते हुए, इन्हीं दिनों उन्होंने ठेठ प्रागैतिहासिक काल से आरम्भ करके संपूर्ण भारतीय कला-उपलब्धि का एक बृहत् इतिहास तक लिख डालने का बीड़ा उठा लिया, जिसका प्रथम खण्ड उनके अपने जीवनकाल में प्रकाशित भी हो गया !

वस्तुतः डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इस महादेश की कला-धारा के आधारभूत तत्त्वों को सही-सही पहचाननेवाले, स्वनामधन्य डॉ० आनन्द कुमारस्वामी के

बाद अवतीर्ण हमारे सबसे तेजस्वी रसमर्मज्ञ थे। वह उन इने-गिने मनीषियों में से एक थे, जो इस पुरातन भूमि के सांस्कृतिक ललाट पर त्रिपुंडवत् शोभित 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के शाश्वत मन्त्र के उस आयाम को सही-सही हृदयंगम कर पाए थे, जिसके अधीन 'अर्थ' से रहित बाह्य 'रूप' का चित्रण निपट छूँछा और खोखला व्यायाम माना गया है। ऐसे ऋषितुल्य क्रान्तद्रष्टाओं में शिरोमणि थे निश्चय ही कविकुलगुरु कालिदास, जिन्होंने स्वतः जगन्माता पितास्वरूप 'पार्वती-परमेश्वर' की जोड़ी के साथ 'वाक्' और 'अर्थ' की तुलना करके, अपनी अमर कृति 'रघुवंश' के प्रथम श्लोक में ही भारतीय कला के रस-सिद्धांत को सूत्र रूप में निरूपित कर दिया है! वासुदेव जी उसी अन्तर्सलिला रसधारा के ठेठ मर्मस्रोत को छूने में सफल होनेवाले महान् रसशास्त्री थे! अपनी इस रसानुभूति की उपलब्धि में किस गहराई तक वह पहुँच चुके थे, इसका किंचित् अनुमान उनके निम्न शब्दों द्वारा किया जा सकता है :—

'कला और काव्य दोनों ही का उपजीव्य भावलोक है। भावसृष्टि से ही आरम्भ में गुणसृष्टि का जन्म होता है और फिर भाव और गुण दोनों की समुदित समृद्धि भूतसृष्टि में अवतीर्ण होती है। भावसृष्टि का सम्बन्ध मन से, गुणसृष्टि का प्राण से और भूतसृष्टि का स्थूल भौतिक रूप से है। इन तीनों की एकसूत्रता से ही लौकिक सृष्टि संभव होती है। इन तीनों के ही नामान्तर ज्ञान, क्रिया और अर्थ हैं। ज्ञान या मन से जब क्रिया या प्राण छन्दित होता है, तभी अर्थ या मूत मात्र का जन्म होता है। इस प्रकार का प्रत्येक स्थूल भौतिक पदार्थ या शिल्प-कृति भावों का एक प्रतीक मात्र है। इस प्रकार का प्रत्येक प्रतीक एक-एक रूप है, जो विश्व के अनन्त अमूर्त अर्थों का परिचायक बना हुआ है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का, मूर्त और अमूर्त का अति रमणीय विधान हमारे चारों ओर फैला हुआ है। वस्तुतः इसी के ओत-प्रोत स्वरूप का नाम विश्व है। इसमें मूर्त के अन्दर बैठा हुआ अमूर्त एवं मर्त्य के भीतर का अमृत प्रति क्षण झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। अथवा यों कहें कि जो अनिरुक्त अर्थ है, वह निरुक्त या अभिव्यक्त मूर्त के द्वारा प्रकट हो रहा है। × × ×

"शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य दोनों एक दूसरे के साथ जहाँ समन्वित रहते हैं, उसी श्रेष्ठ स्थिति को कवि ने वागर्थ से संपृक्त काव्य का आदर्श कहा है। जैसे काव्य में वैसे कला में भी आभ्यन्तर अर्थ और बाह्य रूप दोनों का जहाँ एक समान रमणीय विधान हो, वहीं श्रेष्ठ कला की अभिव्यक्ति होती है। गुप्त कला इसका उदाहरण है। उसमें बाह्य रूप की पूर्ण मात्रा को अनुप्राणित करने-वाला जो अर्थ-सौंदर्य है, वह शब्द का अदभुत या विलक्षण रूप प्रस्तुत करता है।

शिल्पी या चित्राचार्य अलंकरण संभार से संनतांगो कलाकृतियों का निर्माण करके ही परितृप्त नहीं हुए। उनकी कृतियाँ उस सविशेष अर्थ से प्राणवन्त हैं, जो बुद्ध के अनुत्तर ज्ञान एवं शिव की समाधि से अथवा लोकसंरक्षण में व्याप्त परमेष्ठी विष्णु के अहर्निश संवेदनशील स्वरूप से भावापन्न या ओजस्विनी बनी है। उन कलाकृतियों में कितनी रमणीयता, कितनी सजीवता और कितना अनन्त अक्षुण्ण आकर्षण है, इसे किस प्रकार कहा जाय! उनके सान्निध्य में स्थूल सीमा-भाव विगलित हो जाता है और मन दिव्य भावों के लोक में विलक्षण आनन्द, शान्ति और प्रकाश का अनुभव करता है। इस अमृत आनन्द या रस तक जो पहुँचा सके, वही चिरन्तन काव्य और कला है।'*

डा० अग्रवाल के ये मर्मवचन यद्यपि सीधे कला के विषय को लेकर उद्घोषित नहीं हुए थे—वे थे वस्तुतः सृष्टिविज्ञान एवं वेदविद्या के अर्थोद्घाटन के संदर्भ में व्यक्त किए गए उनके मार्मिक उदगार, तथापि इन सारगर्भित शब्दों को यहाँ इतने विस्तार से हमने इसलिए उद्धृत किया है कि उनके कलेवर में कला की आत्मा को साक्षात् करने की उनकी ऋषि-कल्प अन्तर्दृष्टि का बड़ा ही यथार्थ समाहार उपलब्ध है! काश, हमारे कला-समीक्षक तथा काव्य-मीमांसक इस रसशास्त्री द्वारा अनावृत्त किए गए इस अमृत-दृष्टिकोण को आत्मसात कर पाते!

'वेदा मे परमं चक्षुः वेदा मे परमं बलम्'

यद्यपि वासुदेवशरण जी ने अपनी आयु का लगभग तृतीयांश पुरातत्त्व-विभाग की सेवा में ही व्यतीत कर दिया था एवं उक्त सरकारी सेवा से निबृत्त होने पर भी अपने कृतित्व के सैकड़ों-हजारों पृष्ठ पुरातत्त्व और कला की वेदी पर ही वह चढ़ाते चले गए थे, तथापि जिस कार्य में उनका मन सबसे अधिक रमा हुआ था तथा जिस क्षेत्र में उनकी मेधा का प्रकाश खरमध्याह्नकालीन सूर्य की भाँति प्रखर रूप में विकीर्ण हुआ था, वह था 'वेदविद्या' के रहस्यमय कपाटों को खोलने की दिशा में किया गया उनका महत् साहित्यानुष्ठान! उन्होंने स्वयं ही इस बात की विज्ञप्ति अपने इन शब्दों के द्वारा हमें दे दी है 'कि ऐसा लगता है कि वेद ही मेरा बल है और वेद ही मेरे नेत्र हैं—वेदा मे परमं चक्षुः वेदा मे परमं बलम्!'

वेदों के प्रति उनकी यह गहरी आस्था वैसे तो किशोरावस्था के उन संवेदनशील उर्वर वर्षों में ही उनके मन में अंकुरित हो चुकी थी, जबकि लखनऊ के निज

***'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' शीर्षक डॉ० अग्रवाल के निबन्ध का एक अंश ('वेदविद्या' नामक उनकी पुस्तक से)।**

पारिवारिक गृह-प्रांगण में अपने पूज्य पिता द्वारा आयोजित सम्पूर्ण वेदों का (हिन्दी व्याख्या सहित) आद्योपान्त पारायण सुनने का स्वर्ण-सुयोग उन्हें प्राप्त हुआ था। परन्तु उक्त निष्ठा को विशेष बल प्रदान किया था उनके उन दिनों के परम अन्तरंग मित्र पं० रामदत्त शुक्ल ने, जिन्हें 'वेदविद्या' नामक अपना निबन्ध-संग्रह समर्पित करते हुए बाद को उन्होंने निज 'वैदिक गुरु' कहकर श्रद्धांजलि अर्पित की है। शुक्ल जी कट्टर आर्यसमाजी थे। उनके सम्पर्क से वासुदेवजी के मन में 'आर्यसमाज' तथा उसके महान् संस्थापक ऋषि दयानन्द के प्रति प्रगाढ़ लगाव उन आरम्भिक दिनों में पैदा हो गया था। वेदार्थ की प्रतीकात्मक व्याख्या का गुर अग्रवाल जी ने वस्तुतः शुरू-शुरू में आर्यसमाज के महान् अधिष्ठाता के कृतित्व ही से प्राप्त किया था।

इस प्रकार जीवन के प्रारम्भिक दौर में ही उन्होंने दृढ़ता से जो दिशा पकड़ी, उससे मृत्युपर्यन्त क्षण भर के लिए भी वह फिर कभी विमुख और विचलित नहीं हुए। उनके इस वेदानुराग की लौ को आगे चलकर सबसे प्राणवन्त ऊर्जा प्रदान की थी जयपुर के महान् वेदविद्यामनीषी पं० मधुसूदन ओझा के कृतित्व ने। ओझा जी ने अपना सारा जीवन वेदों के प्रतीकात्मक अर्थ-संधान तथा उनमें छिपी हुई गूढ़ विज्ञानमूलक संजीवनी विद्याओं के अनुसंधान-कार्य में ही व्यय किया था। उन्होंने 'ब्रह्मविज्ञान,' 'यज्ञविज्ञान,' 'पुराण-समीक्षा' तथा 'वेदांग-समीक्षा' नामक चार बृहत् वर्गों में बाँटकर कोई सौ ग्रंथ वेदविषय पर रचे थे। साथ ही अपनी पचास वर्षों की तद्विषयक साधना के क्रम में निरन्तर इस बात पर ही जोर दिया था कि वैदिक वाङ्मय का सारा ताना-बाना प्रतीक-भाषा के सूत्रों द्वारा ही बुना गया है, फलतः उसका अर्थ-समाधान निरुक्त-शैली से ही संभव है, अन्यथा नहीं। इस महापुरुष ने जो नूतन दृष्टि हमें प्रदान की, उसकी बदौलत कितनी ही अविज्ञात विद्याएँ एक के बाद एक प्रकट होकर वैदिक मन्त्रों के शब्द-झरोखों में से झाँकती हुई पुनः जगमगाने लगीं!

ऐसे ऋषि-कल्प महामनस्वी के इस लोक में विद्यमान रहते हुए, भला वासुदेव जी जैसे जिज्ञासु व्यक्ति उनके दर्शन एवं आशीर्वाद का लाभ प्राप्त किए बिना क्योंकर रह सकते थे? अतः विधि के विधान से अंततोगत्वा वह क्षण आया, जबकि इस काल के ये दो महान् वेदज्ञ मनीषी एक दिन आमने-सामने हुए। ओझा जी को तो इस प्रसंग से वह उत्तराधिकारी ही मिल गया, जिसकी प्रतीक्षा में वह थे! उन्होंने अपने उस प्रथम एवं अन्तिम साक्षात्कार के अल्पकालिक संपर्क में ही वासुदेव जी को ठेठ अंतस् तक इस प्रकार से भूरि-भूरि पहचान लिया, जिस प्रकार परमहंस रामकृष्ण ने अपने वारिस नरेन्द्र (विवेकानन्द) को और प्रज्ञाचक्षु

विरजानन्द ने शिष्य दयानन्द को चीन्ह लिया था! उस क्षण वेदमूर्ति पं० मधुसूदन के श्रीमुख से अनायास आशीषमूलक भविष्यवाणीतुल्य ये सूचक वाक्य निकल पड़े थे—'मुझे लगता है, आपका तो जीवन (आविर्भाव) ही वेदविद्या के लिए हुआ है!'

और ओझा जी की इस भविष्यवाणी के सत्य प्रमाणित होने में अधिक देर भी नहीं लगी! क्योंकि अपनी आयु के सोलहवें वर्ष से ही वैदिक साहित्य के प्रति आकृष्ट वासुदेवशरण जी अंततोगत्वा इस दृढ़ विश्वास से अभिभूत हुए बिना न रह सके कि **'वेदविद्या सृष्टिविद्या है और उसके सदृश ऊँची अन्य कोई विद्या नहीं है!'** + पुराकाल के उस क्रान्तद्रष्टा ऋषि की भाँति, जिसने इस महाविद्या को न केवल 'ब्रह्मवर्चस्' (अर्थात् तप-स्वाध्याय द्वारा अर्जित आत्मतेज), अपितु 'दीर्घ आयुष्य', 'विपुल संपदा,' 'अतुल्य प्राणशक्ति', 'तेजस्वी संतान', 'चिरन्तन कीर्ति' आदि, आदि जीवन की सभी अभीष्ट ऐहलौकिक कामनाओं की भी पूर्ति करने में पूर्णतया सक्षम 'वरदा वेदमाता' कहकर सराहा है,* अग्रवाल जी को भी इस 'महतो महीयान् शास्त्र' में निहित संजीवनी विद्याओं में ही हमारी समस्त आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक आवश्यकताओं का वास्तविक समाधान देख पड़ा! उन्होंने 'त्रयी विद्या' के नाम से पुकारी जानेवाली इस 'सहस्राक्षरा वाक्' रूपिणी ब्रह्मविद्या के निज ज्योतिर्मय साक्षात्कार के प्रथम क्षण में ही इस एकान्त सत्य की उपलब्धि कर ली थी कि **'जो मौलिक वेदविद्या है, वह विश्व का समष्टि ज्ञान है। उसी ज्ञान से बुद्धि और मन के द्वारा भौतिक वाक् की और विश्व की रचना होती है। वाक् की सृष्टि ही वेदसृष्टि है। ब्रह्म का जितना गुणमय विस्तार है, उतनी ही यह वाङ्मयी या भूतात्मक सृष्टि है। मन-प्राण-वाक् यही विश्व का त्रिविध विस्तार है और यही अव्यय प्रजापति का रूप है। यही विश्व का मूलभूत त्रिक है। त्रिक वेदविद्या का आधार है। विश्वविद्या ही त्रयी विद्या है। तीन वेदों को त्रयी विद्या कहते हैं। त्रयी विद्या त्रिक की ही संज्ञा है। तीन अग्नियाँ, तीन पुरुष, तीन गुण, तीन मात्राएँ, तीन लोक, तीन देव—ये सब मूलभूत त्रयी विद्या का ही बहुविध विस्तार है। विश्व का एक-एक कण इस मूलभूत त्रिक से ही निर्मित हुआ है। एक-एक परमाणु या प्राणात्मक स्पंदन रूपी जीवित घटककोश के अभ्यन्तर में त्रिक या त्रयी विद्या**

+ दे० श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा गया ९-६-६५ का उनका पत्र, जो इस ग्रंथ में अन्यत्र प्रकाशित है।

*'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् महत्रं दत्वा व्रजत् ब्रह्मलोकम्॥

का अस्तित्व है। × × × × × × × (इस प्रकार) वेदविद्या बुद्धि का कुतूहल नहीं। वह पांडित्य का विलास भी नहीं है। वेदविद्या का लक्ष्य प्राण या चैतन्य अमृत तत्त्व का साक्षात्कार है।' ×

'उरु-ज्योति' एवं 'हिन्दी विश्व-भारती' के निबंध

यद्यपि डॉ० अग्रवाल के वेदविषयक अनुसन्धान-कार्य की सबसे महत्वपूर्ण सिद्धियाँ उनके जीवन के अन्तिम चरण में ही आकर संपन्न हुई थीं (जबकि दीर्घतमस ऋषि के 'अस्यवामीय सूक्त' की व्याख्या 'विजन इन लांग डार्कनेस' नामक कृति के रूप में उन्होंने प्रस्तुत की थी तथा 'वेदरश्मि' या 'स्पार्क्स फ्रॉम द वेदिक फायर' के नाम से वेदविज्ञान-सम्बन्धी उनके लेख प्रकाशित हुए थे), परन्तु इस अनुष्ठान का श्रीगणेश तो उन्हीं दिनों हो चुका था, जब वह मथुरा-संग्रहालय के क्यूरेटर बने थे। इस काल के उनके कतिपय प्रारम्भिक आध्यात्मिक निबन्ध (गाजियाबाद की 'कन्हैयालाल वैदिक प्रकाशन-निधि' की आर्थिक सहायता से प्रकाशित तथा बाद में अमृतसर के 'रामलाल ट्रस्ट' द्वारा पुनर्मुद्रित) 'उरु-ज्योति' नामक संग्रह में उपलब्ध हैं। इन रचनाओं की प्रौढ़ता तथा विशिष्ट व्याख्या-प्रणाली से आकृष्ट होकर ही इन पंक्तियों के लेखक ने अपने संपादन में निकलने-वाले 'हिन्दी विश्व-भारती' ज्ञानकोश के लिए दर्शन-विषयक कई एक लेख उनसे विशेष रूप से लिखवाए थे। ये लेख बाद को 'वेदविद्या' नामक उनकी एक पुस्तक में समाविष्ट कर लिए गए थे।

जैसा कि 'उरु-ज्योति' के पुनर्संस्करण की भूमिका में उन्होंने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है, इस संग्रह के लेखों में **'वैदिक आत्मविद्या का कोई क्रमिक अध्ययन नहीं है, इसमें उसके आलोक की कुछ बिखरी हुई किरणें ही हैं। किन्तु इनके पीछे आत्मविद्या-विषयक निष्ठा है। उसके साथ-साथ यह विश्वास भी है कि समस्त भारतीय वाङ्मय में वह अन्तर्यामी सूत्र फैला हुआ है। उसके कुछ ही विचार-परमाणुओं पर प्रतिफलित ज्योति की ये रश्मियाँ संगृहीत की गई हैं। 'आश्रम-विषयक योगक्षेम' नामक लेख उत्तर-गर्भित प्रश्नमुखी शैली से उन परिभाषाओं की ओर ध्यान खींचता है, जिनकी अमित व्याख्या वेदार्थ के लिए आवश्यक है और जिनकी बारहखड़ी से आत्मविद्या का यह विवेचन आगे बढ़ाया जा सकता है।*** इन निबन्धों के शीर्षक हैं—'कः', 'संप्रश्न', 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', 'द-द-द', 'ब्रह्मपुरी', 'वैदिक

× डॉ० अग्रवाल के 'वेदविद्या, नामक निबन्ध-संग्रह की भूमिका का एक अंश।

***दे० 'उरु-ज्योति' के द्वितीय संस्करण की भूमिका।**

परिभाषा में शरीर की संज्ञाएँ', 'ब्रह्मचर्य', 'वाजपेय-विद्या', 'च्यवन और अश्विनीकुमार', 'अंगिरस अग्नि', 'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे', दाक्षायण हिरण्य', 'वरुण की प्रश्नि गौ', 'चरैवेति-चरैवेति', 'शुनःशेप', 'पशु और मनुष्य', 'पाप्मा वै वृत्र', 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽमस्मि', 'अमृत-आधार', 'इन्द्र', 'अरुन्धती', 'विचारों का मधुमय उत्स' तथा 'आश्रम-विषयक योगक्षेम'। उधर 'हिन्दी विश्व-भारती' ज्ञानकोश में प्रकाशित लेखमाला भी--जिसके विविध प्रकरण 'जिज्ञासा', 'ऋषिभिर्बहुधागीतम्', 'अनन्त', 'देश', 'काल', 'विराट् और वामन', 'संप्रश्न', 'ऋत', 'सत्य', 'अश्वत्थ', 'पूर्ण कुंभ' प्रभृति शीर्षकों से युक्त थे--उक्त ज्ञानकोश के दर्शन-विषयक स्तंभ की आवश्यकतापूर्ति को ध्यान में रखते हुए नियोजित की गई थी, न कि वेद-मीमांसा हेतु। फिर भी उस काल की उनकी इन प्रारंभिक रचनाओं पर गौर करने से यह आभास मिले बिना नहीं रह सकता था कि जिस मस्तिष्क की उपज वे थे, उससे अनतिदूर भविष्य में निश्चय ही वेद-उपनिषदों के रहस्योद्घाटन की दिशा में कोई महनीय अनुष्ठान संपन्न होनेवाला था!

और, इस संभावना के फलीभूत होने में अधिक देर भी नहीं लगी। क्योंकि जैसे ही राजकीय सेवा से निवृत्त होकर हमारे चरितनायक ने महान् ज्ञानकेन्द्र काशी में आकर अपना अंतिम आसन जमाया तथा जीवन का शेष अंश केवल अध्ययन-अध्यापन में ही व्यतीत करने का संकल्प किया, वैसे ही उनकी लेखनी से भारतीय संस्कृति एवं वेदविज्ञान पर नवप्रकाश डालनेवाली एक से एक मार्के की कृतियाँ उद्भूत होकर सामने आने लगीं। इन रचनाओं ने डॉ० अग्रवाल के नाम को एक महान् आख्याता के रूप में वेदविद्या के क्षेत्र में सदा के लिए प्रतिष्ठित कर दिया!

'वैदिक लेक्चर्स' तथा 'स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर'

अपने इस ज्ञानानुष्ठान का शुभारंभ वासुदेवशरणजी ने, १९६० ई० के ग्रीष्मावकाश में, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रांगण में 'समर स्कूल ऑफ वैदिक स्टडीज' के नाम से एक 'ज्ञानसत्र' का आयोजन करके किया था। इस सम्मेलन में देश के अनेक गण्यमान्य वेदज्ञ पंडितों ने भाग लिया था और उसके क्रमशः तीन अधिवेशन संपन्न हुए थे। अपने ढंग के इस अपूर्व वैदिक ज्ञानयज्ञ की सबसे मूल्यवान् उपलब्धि स्वतः अग्रवालजी की ही एक अनूठी व्याख्यानमाला थी, जो कि बाद में 'वैदिक लैक्चर्स' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। इस प्रवचनमाला के विविध विषय 'वट-सावित्री','त्रयी विद्या','अग्निविद्या', 'सोमविद्या', 'हृदयविद्या', 'अश्वत्थ-विद्या', 'दैवासुरम्', 'प्रजापति', 'यज्ञविद्या', 'पुरुषसूक्त', 'नासदीय सूक्त' आदि

शीर्षकों में बँटे हुए थे। उनके माध्यम से विद्वान् प्रवक्ता ने सबल युक्तियों द्वारा निरुक्त-पद्धति से वैदिक प्रतीकों की अर्थसंधान-विषयक अपनी इस प्रस्थापना को प्रतिपादित किया था कि संपूर्ण वेदविद्या मूलत: 'सृष्टिविद्या' या प्रजापति विद्या है, जोकि ऋषियों द्वारा 'देव' एवं 'यज्ञ' के प्रतीकों के ताने-बाने में बुनकर हमारे सामने रखी गई है। डेढ़-दो वर्ष बाद ही 'स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर' नामक अन्य एक विलक्षण कृति की भेंट देकर अग्रवालजी ने इस 'सनातनी विद्या' के रहस्योद्‌घाटन की दिशा में और भी आगे कदम बढ़ाया। इस कृति के भी विषय 'वैदिक लैक्चर्स' के प्रकरणों से ही मिलते-जुलते हुए थे—यथा, 'अग्नि', 'प्रजापति', 'हिरण्यगर्भ', 'अग्नि के तीन भ्राता', 'अज एकपाद', 'गौरी', 'सुपर्ण', 'गायत्री', 'पुरुष प्रजापति', आदि। आगे चलकर स्वयं वासुदेवजी ने ही 'वेदरश्मि' के नाम से इस ग्रंथ का हिन्दी-अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया था। इसका प्रकाशन वेदों के वयोवृद्ध विद्वान् पं० सातवलेकरजी के 'स्वाध्याय-मंडल' नामक सुप्रसिद्ध वैदिक अध्ययन-संस्थान द्वारा किया गया था। इस ग्रंथ की 'भूमिका' में वेदार्थ के संबंध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए वासुदेवशरण जी ने लिखा था :—

"मेरी दृष्टि में वेदविद्या, सृष्टिविद्या दोनों समान हैं। विश्व अर्थात् आधिदैविक जगत् और आध्यात्मिक प्राणविद्या इन दोनों की व्याख्या वैदिक मंत्रों में पाई जाती है और इन दोनों का स्रोत जो सर्वोपरि देव-तत्त्व या ब्रह्मतत्त्व है, वह भी मन्त्रों का लक्ष्य है। इस प्रकार विश्व-सृष्टि और व्यष्टिगत प्राण-सृष्टि यही वेदार्थ के लक्ष्य हैं। ये दोनों मानव के लिए आवश्यक हैं। इस दृष्टि से वेदों का अध्ययन इस क्षेत्र में नवीन रस प्रदान करता है। मेरी यह भी आस्था है कि वैदिक मन्त्रों के शब्दों और अर्थों में खींचातानी करने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्रों के अर्थ सरल और स्वाभाविक हैं, किन्तु उनके मूल में गूढ़ तत्त्व निहित हैं, जिन्हें निदान-विद्या के द्वारा उद्‌घाटित किया जा सकता है। इन्हें ही प्रतीक अर्थ भी कहते हैं।"

'अस्यवामीय सूक्त' की अनूठी व्याख्या :: 'विजन इन लांग डार्कनेस'

आचार्य वासुदेवशरण ने अपने जीवनकाल में अनेकानेक सारस्वत सपने बुने थे। उनमें का एक अति महत्वपूर्ण और महत्वाकांक्षा से युक्त सपना यह भी था कि ऊपर उल्लिखित प्रतीकमूलक अर्थसंधान की पद्धति से सम्पूर्ण ऋग्वेद का एक नूतन भाष्य तैयार किया जाय। इस भगीरथ अनुष्ठान को कार्यान्वित करने की दिशा में उन्होंने स्वयं ही सक्रिय कदम भी उठाया था, जिसका मूर्त स्वरूप

'सहस्राक्षरा वाक्' (या 'थाउजन्ड सिलेबल्ड स्पीच') शीर्षक से एक ग्रन्थमाला के प्रकाशन की योजना में प्रकट हुआ था। उक्त ग्रन्थमालिका के प्रथम पुष्प के रूप में 'विजन इन लांग डार्कनेस' नामक एक विलक्षण कृति की भेंट उन्होंने हमें दी। इसमें 'अस्यवामीय सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध, ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त की सानुवाद विस्तृत व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की थी। यह कृति वेदविद्या की वेदी पर अर्पित उनकी रचनाओं की सिरमौर मानी जा सकती है।

'अस्यवामीय सूक्त' (सृष्टिविज्ञान-विषयक अपनी गहन-गंभीर उक्तियों के नाते) ऋग्वेद के 'नासदीय' एवं 'पुरुषसूक्त' जैसे परमोच्च आध्यात्मिक मंत्रोच्चारों की टक्कर का एक विलक्षण सूक्त माना जाता है। इसके ऋषि का नाम 'दीर्घतमा' (या 'दीर्घतमस') है, जो सम्भवतः जानबूझकर अपनाया गया एक लाक्षणिक छद्म-नाम है। इस नाम के मुखौटे की आड़ में गोपनीय रहकर सूक्त का महान् क्रान्तद्रष्टा (मानो अबोध जनों की भाँति, अपने चहुँ ओर व्याप्त घोर अन्धकार या 'तमस' के घटाटोप में राह टटोलते हुए) संप्रश्न पूछ रहा है—"मैं नहीं जानता, पर जो जानते हैं, उनसे पूछता हूँ। जो ज्ञानी हैं, उनसे मुझ अज्ञानी का यह प्रश्न है। वे बताएँ कि वह एक विलक्षण अजन्मा तत्त्व कौन-सा है, जिसने इन रजस् लोकों को धारण कर रक्खा है ?*" "जो जानता है, वह इसका भी समाधान करे कि भला वह कौन-सा दृढ़ आधार है, जिस पर यह सुन्दर पक्षी (सूर्य) अवस्थित है ?" + "मैं पूछता हूँ, इस पृथ्वी की अन्तिम सीमा कहाँ है और कहाँ है विश्व की नाभि ?" * "मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि आखिर मैं स्वयं हूं क्या ! क्या मैं भी वही हूं, जोकि यह विश्व-जगत् है ? मैं एक रहस्य-सा हूं, जो निज मन के साथ बँधा-बँधा फिर रहा हूँ।" ÷ "भला, कौन मनीषी कवि है, जो यह बता पाया है कि यह दैवी मन कहाँ से पैदा हुआ ?" ×

तब उक्त दीर्घव्याप्त अज्ञान-तमस को निज ज्ञानकिरणों से छिन्दित करके, ऋषि स्वयं ही अपनी उक्त प्रश्नावली का समाधान करने में भी जुट जाते हैं। परन्तु विलक्षण बात तो यह है कि उनके उक्त समाधान दुरूह पहेलियों या बुझौवलों का बाना पहनकर हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। उनका अर्थ लगाना कोई हँसी-ठट्ठे का खेल नहीं है ! ऋषि पहले तो अग्नि के 'तीन भ्राता', 'सप्त पुत्र', 'सात घोड़ों से युक्त (परन्तु एक ही घोड़े द्वारा खींचे जा रहे) एकचक्रीय रथ', 'अज एकपाद', आदि का उल्लेख करके हमें चकित-थकित कर देते हैं ! तदनन्तर 'सात अश्वों द्वारा खींचे जा रहे सप्तचक्रीय रथ'; उन पर आरूढ़ 'प्रशस्तिगान

*दे० ऋग्वेद, १/१६४/६; + वही १/१६४/७; * वही १/१६४/३४; ÷ वही १/१६४/३७; × वही १/१६४/१८।

में रत सात बहनें'; 'एक ही ऊर्ध्वस्थ अज-तत्त्व' का अवलंब ग्रहण किए हुए 'सात पिता' एवं 'सात माताएँ'; एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी, नवपदी गौरी-रूपिणी परमाकाश में छायी हुई 'सहस्राक्षरा वाक्'; एवं एक ही वृक्ष पर बैठे 'सखारूप दो सुपर्णों' के प्रति हमारा ध्यान खींचते हुए, वह प्रहेलिकाओं का एक विचित्र गोरखजाल-सा बुनकर हमारे आगे धर देते हैं! भला, इन बुझौवलों के ताने-बाने में छिपे तत्त्व का रहस्योद्घाटन किस विधि से किया जाय ?

इस समस्या को लेकर सायण और आत्मानन्द आदि प्राचीन भाष्यकारों सहित ग्रिफिथ, विल्सन, कुन्हन राजा प्रभृति कितने ही अर्वाचीन विद्वानों ने माथा लड़ाया, पर कोई भी उनके दंडकवन में से पूरी तरह रास्ता निकालने में सफलीभूत नहीं हुआ ! बल्कि यह आरोप भी लगाया गया कि ऋषि ने जान-बूझकर ये पहेलियाँ रची हैं और मन्त्रों को क्लिष्ट बनाया है ! मात्र वासुदेवशरण ही ऐसे थे, जिन्होंने इन मंत्रों का अर्थ लगाते समय 'हार' नहीं मानी और उनको गोरखधन्दा नहीं समझा। इस विलक्षण सूक्त की गहराइयों से तो पहले से ही वह सुपरिचित थे। इसका साक्ष्य 'वेदरश्मि' के 'अग्नि के तीन भ्राता' शीर्षक निबन्ध के निम्न सूचक वाक्यों में मौजूद है :—

"श्री गैल्डनर ने 'अस्यवामीय सूक्त' को 'ब्रह्मोद्य' कहा है। इसका आशय यह है कि इसके अधिकांश मन्त्र पहेली या बुझौवल के रूप में हैं और उनमें जान-बूझकर रहस्यात्मक शैली और परिभाषाओं का प्रयोग किया गया है। बहुत अंश में यह बात ठीक है। डॉ० कुन्हन राजा ने इस सूक्त का एक संस्करण प्रकाशित किया है। उनका भी मत है कि यह सारा सूक्त ही प्रहेलिकाओं से भरा हुआ है, जिनके अर्थ धुँधले पड़ गए हैं और जिनकी कुंजियाँ खो गई हैं। यद्यपि ऋषि दीर्घतमा के इस सूक्त के कथन की शैली गंभीर है, फिर भी यह मानने का पर्याप्त कारण नहीं है कि मन्त्रों के अर्थों का उद्घाटन नहीं हो सकता या ऋषि ने जान-बूझकर मन्त्र को क्लिष्ट बनाया है। वस्तुतः समस्त ऋग्वेद सृष्टिविद्या-सम्बन्धी अनेक विशिष्ट विद्याओं का संग्रह है। उन्हीं विद्याओं का संकेत रूप में या कुछ विशद रूप में इस सूक्त में उल्लेख पाया जाता है। उदाहरण के लिए, प्रथम मन्त्र में 'अग्नि के तीन भ्राताओं की विद्या' है। पंचम मन्त्र में 'सप्त तन्तु विद्या' है, जिसका सम्बन्ध सूर्य, संवत्सर और यज्ञ से है। छठे मन्त्र में 'अव्यय', 'अज' एवं उस पर आवृत छः रजों की विद्या है। सातवें, आठवें और नौवें मन्त्र में 'गोविद्या' एवं 'मातृविद्या' के अनेक सूत्र हैं।……इस प्रकार 'अस्यवामीय सूक्त' के ५२ मन्त्रों में दीर्घतमा ऋषि ने ऋग्वेद की अनेक विद्याओं का सूत्र रूप में संकलन करते हुए उनके विषय में कितनी ही नवीन एवं मार्मिक व्याख्याएँ दी हैं।"

भला, ऐसी सुलझी हुई मनोभूमिका पर स्थित व्याख्याता इस शीर्षस्थ वैदिक सूक्त की ज्ञान-प्रहेलिकाओं की चुनौती के आगे क्योंकर सहमकर अपने हाथ टेक देता ? अतः अग्रवालजी ने अध्यवसायपूर्वक इस सूक्त के बावनों मन्त्रों के एक-एक तन्तु-सूत्र को बारीकी से जाँचा। उन्होंने उनके मर्मस्थल की अन्तिम तह तक पहुँचकर प्रत्येक मन्त्र के कलेवर में योजनाबद्ध रीति से सँजोयी गई अलग-अलग विद्याओं को साक्षात् करने का भगीरथतुल्य अनुष्ठान आरंभ किया। इस प्रकार न केवल दीर्घतमा के मंत्रों में प्रयुक्त विविध प्रतीकों का ही अर्थ उन्होंने स्पष्ट कर लिया, अपितु अपने प्रकांड पांडित्य के बल पर प्राचीन भारतीय वाङ्मय में से कितने ही संदर्भों को जुटाकर हमारी सनातन अध्यात्म-धारा के प्रवाह के साथ इन 'प्रहेलिकाओं' का युक्तिसंगत तालमेल स्थापित करने में भी वह शत-प्रति-शत सफलीभूत हुए।

'विजन इन लांग डार्कनेस' (अपने नाम के अनुरूप) न केवल सृष्टि के रहस्यों के घटाटोप को छिन्दित करनेवाली महर्षि दीर्घतमा की तमोभेदी क्रान्त-दृष्टि का ही अक्षय आलेख है, अपितु उसे हम आचार्य वासुदेवशरण की वेदविद्या की गहराइयों में पैठने की असाधारण क्षमता का भी एक जीवन्त स्मारक मान सकते हैं। इस ग्रंथ की एक मार्के की विशेषता तो उसकी साजसज्जा के वे विलक्षण चित्र हैं, जिन्हें भारतीय कला के शिल्प-अभिप्रायों में से ढूँढ निकालकर पुरातत्त्व-वेत्ता अग्रवालजी ने दीर्घतमा की उक्तियों के साथ इस प्रकार से संबद्ध कर दिया है कि जान पड़ता है मानो वे इस सूक्त के मंत्रों को चित्रित करने के लिए ही समय-समय पर भारतीय शिल्पियों द्वारा रचे और गढ़े गए थे !

'गीता-नवनीत' :: 'उपनिषद्-नवनीत' :: 'शिव-महादेव'

भला, जिसने अपना सारा जीवन ही इस देश की ज्ञान-संपत्ति का महिम्नगान करने में खपा दिया हो, उसकी दृष्टि कहीं उस ज्ञाननिधि के सबसे अमूल्य अंश 'गीता' और 'उपनिषद्' पर गये बिना रह सकती थी ? अतः शीघ्र ही वह मुहूर्त्त भी सामने आ गया, जबकि भारतीय ज्ञान के हीर जैसी इन अनमोल थातियों के परिचयार्थ दो बड़े ही मार्के की कृतियाँ डॉ० अग्रवाल की लेखनी के प्रसादस्वरूप हमें प्राप्त हुईं। 'गीता-नवनीत' और 'उपनिषद्-नवनीत' शीर्षक से प्रकाशित इन पुस्तकों के नाम अपना परिचय आप देने में स्वयं ही समर्थ हैं।

'गीता-नवनीत' का सबसे महत्वपूर्ण अंश उसके प्रारंभिक सौ पृष्ठों में प्रस्तुत श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहों अध्यायों का व्याख्यापरक सारभाग है। इस अंश का प्रणयन वैसे तो अग्रवालजी ने मूलतः 'भारत-सावित्री' नामक अपनी महाभारत

विषयक कृति के एक अंग के तौर पर किया था, परन्तु १९६४ ई० में पिता के सांवत्सरिक श्राद्ध के मौके पर सहसा उनके मन में संकल्प जगा कि क्यों न इस व्याख्याभाग के साथ सानुवाद मूल पाठ को जोड़कर 'पिता-पितामह की श्राद्ध-दक्षिणा के रूप में' गीता पर एक पृथक् पुस्तक की भेंट दी जाय ! उसी संकल्प की पूर्ति अंततः 'गीता-नवनीत' के प्रकाशन द्वारा हुई ।

उधर 'उपनिषद्-नवनीत' की खूबी इस बात में है कि उसमें 'ईश', 'केन', 'कठ', 'प्रश्न', 'मुंडक', 'मांडूक्य', 'तैत्तिरीय', 'छांदोग्य', 'ऐतरेय', 'बृहदारण्यक', 'श्वेताश्वतर' और 'कौषीतकी' नामक प्रधान बारह उपनिषदों के साथ-साथ 'बाष्कल', 'छागलेय', 'शौनक', 'आर्षेय' तथा 'मैत्रायणीय' शीर्षक पाँच अन्य पुरातन (परन्तु अपेक्षाकृत कम परिचित) औपनिषदिक कृतियों का भी समावेश किया गया है । इस पुस्तक में उपनिषदों की केवल सारभूत व्याख्या ही उपलब्ध है, मूल संस्कृत-पाठ नहीं । यह कृति अभी केवल गुजराती में ही निकल पाई है——उसका मूल हिन्दी पाठ धारावाही रूप से एक साप्ताहिक पत्र में लेखमाला के तौर पर प्रकाशित होकर जहाँ का तहाँ रह गया है ।

इन्हीं दिनों अग्रवालजी की एक रचना, बड़ी सजधज के साथ, 'शिव महादेव द ग्रेट गॉड' शीर्षक से भारतीय धर्म-संस्कृति में शिव के स्थान और महत्व पर (अंग्रेजी में) निकली थी । इस पुस्तक को हम निस्संकोच, 'विजन इन लांग डार्कनेस' जैसी अग्रवाल जी की अन्य उत्कृष्ट कृतियों की कोटि में परिगणित करते हुए, उनकी ज्ञानगरिमा की श्रेष्ठतम निष्पत्ति की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं ।

भारतीय धर्म-परंपरा में शिव की मान्यता की जड़ें बहुत पुरानी हैं । वे आर्य-अनार्य दोनों ही संस्कृतियों की प्राचीनतम तहों तक फैली हुई हैं । ऋग्वेद में शिव का उल्लेख 'रुद्र' के रूप में उपलब्ध है और उन्हें साक्षात् 'अग्नि' का ही दूसरा स्वरूप बताया गया है । उधर मोहेंजोदड़ो में प्राप्त छः हजार साल पुरानी सिन्धु-सभ्यता की मुद्राओं पर भी 'पशुपति' के रूप में उनकी छवि स्पष्टतः प्रत्यांकित मिली है । बाद के युगों में वही महादेव 'शंकर', 'त्र्यंबक', 'भैरव', 'महाकाल', 'गंगाधर', 'नटराज', 'कामान्तक', 'पंचानन', 'अष्टमूर्ति', 'योगीश्वर', 'अर्द्धनारीश्वर', 'स्थाणु', 'प्रमथ', आदि नाम-उपाधियों के बाने में भारतीय धर्मवेदी पर जगन्नियन्ता 'देवाधिदेव' की आसन्दी पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं और उनकी पूजा-अर्चना का एक पृथक् संप्रदाय ही उठ खड़ा होता है । एक मँजे हुए पुराणवेत्ता के नाते, डॉ० अग्रवाल ने 'शिव महादेव द ग्रेट गॉड' में इन्हीं देवाधिदेव शिव की महिमा की व्याख्या करके साहित्य, कला, दर्शन, धर्म, भक्ति, ज्ञान, योग पर उनकी गहरी छाप की मार्मिक अभिव्यंजना की है ।

उनकी कीर्ति का स्वर्णकलश : 'पाणिनिकालीन भारत'

आचार्य वासुदेवशरण शतावधानी कोटि के विलक्षण मेधा-प्रतिभावाले मनीषी थे। इसका जीता-जागता प्रमाण उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उस करामात के द्वारा बखूबी प्रस्तुत कर दिया था, जबकि आँखों की ज्योति मंद पड़ जाने के कारण वह अपने सामने तीन-तीन चार-चार अनुलेखकों को बिठाकर एक साथ ही कई-कई ग्रंथ बोलकर उन्हें लिखाने लगे थे।* कुछ ऐसा ही चकित-थकित कर देनेवाला एक करिश्मा अपनी सारस्वत साधना के प्रारंभिक चरण में भी उन्होंने कर दिखाया था, जबकि वह मथुरा-संग्रहालय की बागडोर सँभाले हुए थे और साथ ही साथ अपने 'पी-एच०डी०' के शोधग्रंथ हेतु अनुसंधान-कार्य में भी जुटे पड़े थे ! इन युगल जिम्मेदारियों के हिमालय जैसे बोझ का वहन करके, उन दिनों जहाँ एक ओर रात और दिन पुरानी मूर्तियों, ठीकरों, सिक्कों, अभिलेखों आदि के साथ वह अपना माथा लड़ाया करते, वहाँ साथ ही साथ उतनी ही तन्मयता से जूझते रहते अहर्निश पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' जैसी दुरूह व्याकरण-रचना के दंडकवन में से प्राचीन भारतीय इतिहास, भूगोल, समाज-व्यवस्था, राज्य-प्रणाली, कला-कौशल, धर्म-दर्शन-विषयक सामग्री के सूत्र खोज निकालने के हेतु भी––जो कि उनके शोध-अनुसन्धान का निर्धारित विषय था ! फिर, उनका यह करिश्मा इस नाते तो और भी अधिक चौंका देनेवाला एक अचंभा-सा था कि संस्कृत-व्याकरण का जो ज्ञान उन्हें था, वह आरंभ में उन्होंने पुरानी पद्धति से लखनऊ के एक अत्यन्त सीधे-सादे ग्रामीण पंडित––विप्रवर जगन्नाथ जी शास्त्री––के चरणों में शिष्यभाव से बैठकर खानगी तौर पर अर्जित किया था !

संस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र की यह पुरातन मान्यता है कि इस विद्या पर पूर्ण अधिकार पाने के लिए कम से कम बारह वर्ष का श्रमसाध्य अध्यवसाय अपेक्षित है। इसी परंपरानुसार वासुदेवजी ने भी पूरे बारह वर्षों तक पाणिनि की आराधना की। उनकी यह तपश्चर्या अंततोगत्वा 'इंडिया एज नोन टू पाणिनि' नामक उनके महान् कृतित्व के रूप में फलीभूत हुई। इस अद्वितीय शोधग्रंथ ने अग्रवालजी को न केवल 'पी-एच० डी०' और 'डी० लिट्०' की सर्वोच्च शिक्षा-उपाधियों से ही अलंकृत कराया, अपितु पाणिनि के विशेषज्ञ के रूप में संसार भर में उनकी ख्याति भी फैला दी। 'अष्टाध्यायी' की तरह आठ अध्यायों में विभक्त यह ग्रंथ पाणिनि के

***देखिए पृ० ६८-७० पर प्रकाशित राय कृष्णदास जी का संस्मरणात्मक लेख।**

युग का विश्वकोश-सा है। सौभाग्य से स्वयं अग्रवालजी ने ही इसका हिन्दी रूपान्तर भी 'पाणिनिकालीन भारत' शीर्षक से प्रस्तुत कर दिया है।

'महाभारत' एवं पुराणों की सांस्कृतिक मीमांसा

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'—इस कथन में गहरी आस्था रखनेवाले आचार्य वासुदेवशरण उन इने-गिने मनीषियों में से थे, जिन्होंने पुराणों को वेदों का पूरक अंग मानते हुए उनकी सांस्कृतिक महत्ता को कभी भी कम नहीं आँका, चाहे इस नाते उन्हें पाश्चात्य धारा के इतिहासविदों का कोपभाजन ही क्यों न बनना पड़ा हो! डॉ० अग्रवाल का कहना था कि यदि वेद हिमालय के बर्फ से ढके हुए गगनचुंबी श्रृंग हैं, तो पुराण उन्हीं शिखरों से उच्छ्वसित गंगा के शाखा-प्रशाखायुक्त जलस्रोतों के समान हैं, जिनके अमृतरस से लोक अनादिकाल से संपृक्त होते रहे हैं! अतएव वेदविद्या के सार्थक ज्ञान के लिए पुराणों का अनुशीलन अनिवार्यतः आवश्यक है।

पुराणों के प्रति अपनी इस गहन निष्ठा के आवेग में ही, वासुदेवजी हमारी धर्म-संस्कृति के महाकोश तथा 'पंचम वेद' के नाम से पुकारे जानेवाले विराट् ग्रंथराज 'महाभारत' के गहरे अध्ययन में प्रवृत्त हुए थे। उनका यह सुदृढ़ विश्वास था कि 'महाभारत ज्ञान का वह अमृत-कलश है, जो व्यास के मनरूपी गरुड़ द्वारा मानव-कल्याण के लिए पृथिवी पर लाया गया है!' अपनी महाभारत-विषयक जीवनव्यापी सारस्वत साधना का निचोड़ 'भारत-सावित्री' नामक तीन खण्डों में विभक्त एक अद्वितीय कृति में वह हमारे लिए छोड़ गए हैं। यह रचना, अपने नाम के अनुरूप, सचमुच ही 'भारत' (अर्थात् महाभारत) की 'सावित्री' (अर्थात् सरस्वतीतुल्य वैखरी वाणीस्वरूपा रचना) है।

'महाभारत' की व्याख्या के उपर्युक्त भगीरथ अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हुए भी, आचार्य वासुदेवशरण पुराणों तथा धर्मशास्त्रों की ओर से अपनी आँखें मूँदे हुए नहीं थे! इसका जीवन्त साक्ष्य उन्होंने (अपनी घोर अस्वस्थता के दिनों में ही) एक बाजू 'मार्कण्डेय', 'मत्स्य', 'वामन' और 'लिंग' नामक चार महापुराणों का (सांस्कृतिक स्तर पर) गहरा मूल्यांकन करके, तो दूसरी बाजू 'इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मनु' (मनु द्वारा वर्णित भारत) शीर्षक से मनु-स्मृति के विशिष्ट अध्ययन के रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः उनका तो संकल्प था अठारहों पुराणों तथा प्रमुख धर्मशास्त्रों की इस प्रकार की व्याख्या-मीमांसा प्रस्तुत करने का! परन्तु दैव को यह स्वीकार नहीं था और अभी इस कार्य में वह हाथ लगा ही पाए थे कि मृत्यु ने उन्हें इस लोक से उठा लिया! तथापि इस क्षेत्र में जो कुछ काम वह कर गए हैं,

उसका मूल्य और महत्व कम नहीं है। कारण, भारतीय अनुश्रुति के रहस्यों के बंद कपाटों को खोलने में मदद देनेवाली कितनी ही कुंजियाँ उससे प्राप्त हुई हैं और हमारे सांस्कृतिक इतिवृत्त की लुप्त कड़ियों का तारतम्य जोड़ने में भी उससे अपूर्व योगदान मिला है !

कालिदास, बाणभट्ट, जायसी, विद्यापति आदि के कृतित्व का अध्ययन

इतिहास-पुरातत्त्व-क्षेत्र के किसी मान्यताप्राप्त मनीषी के लिए अपने निर्धारित कार्य की सीमाओं से परे विशुद्ध काव्य-साहित्य की परिधि में पैर बढ़ाना निस्संदेह एक अनहोनी-सी बात कही जा सकती है, परन्तु डॉ० अग्रवाल जैसे बहुश्रुत विद्वान् के लिए यह कोई अस्वाभाविक एवं असंभाव्य कदम नहीं था। वस्तुतः इस संबंधी अपनी क्षमता का परिचय तो ठेठ विद्यार्थी-जीवन ही में वह बखूबी दे चुके थे, जबकि काशी-विश्वविद्यालय में बी० ए० की पढ़ाई पढ़ते समय 'मेघदूत-मीमांसा' के नाम से एक व्याख्यापरक निवन्ध-रचना के रूप में साक्षात् कविकुलगुरु कालिदास के चरणों में अपना सर्वप्रथम अर्ध्य उन्होंने चढ़ाया था !

इसके बाद तो, १९४९ ई० में 'कालिदास के कृतित्व में गुप्तकालीन कला का साक्ष्य' शीर्षक से एक शोध-निवन्ध लिखकर तथा १९५० ई० में 'मेघदूत' का हिन्दी गद्यानुवाद प्रस्तुत करके (मानो कविकुलगुरु की ही उँगली थामकर) संस्कृत की काव्यवेदी के इतने सन्निकट वह आ पहुँचे थे कि मार्च १९५१ ई० में जब उन्हें बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से बाणभट्ट के कृतित्व पर भाषण देने का आमंत्रण मिला, तो उसे सहर्ष स्वीकार करके, न केवल 'हर्षचरित :: एक सांस्कृतिक अध्ययन' (१९५३ ई०) जैसी अद्वितीय मीमांसापरक रचना की सृष्टि करने में ही वह भूरि-भूरि समर्थ हुए, बल्कि उसी दौर में लगे हाथ 'मेघदूत :: एक अध्ययन' (१९५३ ई०) एवं 'कादम्बरी :: एक सांस्कृतिक अध्ययन' (१९५७ ई०) शीर्षक उसी उच्च स्तर की दो और बड़े मार्के की कृतियाँ भी उन्होंने रच डालीं ! यही नहीं, देववाणी संस्कृत की वेदी से नीचे उतरकर, इसी काल में उन्होंने जायसीकृत लोकभाषा अवधी के सुप्रसिद्ध प्रेमकाव्य 'पदमावत' (१९५५ ई०) तथा अवहट्ट नामक अपभ्रंश-बोली में विरचित विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' शीर्षक प्रशस्ति-काव्य (१९६२ ई०) की भी अनूठी व्याख्याएँ प्रणीत कर, विद्वद्जनों को चकित-थकित कर दिया ! स्थानाभाववश, वासुदेवशरण जी की ज्ञान-साधना के इस काव्य-मीमांसापरक पक्ष पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने की गुंजाइश यहाँ हमारे लिए नहीं है। अतः केवल यही कहकर हमें यहाँ संतोष करना होगा कि एक सिद्ध

व्याख्याकार के रूप में उन्होंने जिस खूबी के साथ उपर्युक्त महाकवियों की प्रतिभा एवं कला का सूक्ष्म तन्तु-विश्लेषण किया तथा उनका मानो अंतःपट उद्घाटित कर दिया, वह एक ऐसी स्वयंसिद्ध उपलब्धि है, जोकि हमारे ग्रंथनायक को अकेले ही अपने स्वतंत्र बल पर वाङ्मय की गौरव-वेदी पर अग्रिम पंक्ति में बिठाए रखने की पूर्ण क्षमता से संपन्न है !

फुटकर रचनाएँ

कहते हैं, अपनी अर्द्धशताब्दिव्यापी सारस्वत साधना के दौरान्, डॉ० अग्रवाल ने लगभग सवा सौ प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथ और सवा तीन हजार से भी अधिक लेख-निबन्ध आदि हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में रचे थे। फिर, कई कृतियों के 'प्राक्कथन', 'भूमिका' आदि के रूप में जो अनेकों रचनाएँ उन्होंने उत्सर्गित कीं तथा 'भारतीय इतिहास-परिषद्', 'संग्रहालय-परिषद्', 'मुद्रा-परिषद्', 'प्राच्य विद्या-सम्मेलन', 'वेद-सम्मेलन', 'ब्रज-साहित्य-मंडल', 'बिहार प्रदेश साहित्य-सम्मेलन', 'ललित कला अकादमी', आदि-आदि संस्थाओं के मंच से अध्यक्ष अथवा प्रमुख वक्ता के रूप में जो विद्वत्तापूर्ण भाषण उन्होंने दिए, उनका भी संपूर्ण लेखा-जोखा किसने अभी तक लिया है ? उन्होंने डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, श्री कन्हैयालाल पोद्दार, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री नाथूराम प्रेमी आदि मनीषियों के सम्मान में निकाले गए अभिनन्दन-ग्रंथों तथा नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के 'विक्रमांक' का संपादन करने में भी महत्व का योगदान दिया था। साथ ही साथ, कई एक ग्रंथों के प्रस्तुतीकरण में अन्य सज्जनों का भी हाथ उन्होंने सहर्ष बँटाया था—जैसे कि 'चतुर्भाणी' (या 'शृंगारहाट') की प्रस्तुति में डॉ० मोतीचन्द्र के साथ उन्होंने सहयोग किया था और 'पिप्पलाद-संहिता', 'गायत्री-उपनिषद्' आदि के संपादन में पं० रामदत्त शुक्ल के साथ एवं 'सूरदासकृत नलदमन' के प्रकाशन में पं० दौलतराम जयाल के साथ। इसी प्रकार से, एक ओर अपने इतिहास-गुरु डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी की 'हिन्दू सिविलाइजेशन' का हिन्दी अनुवाद करने का बीड़ा उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उठाया था, तो दूसरी ओर विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझा की 'ब्रह्मविनय' और 'ब्रह्मसिद्धान्त' जैसी संस्कृत-रचनाओं का संपादन-भार ग्रहण करते हुए भी वह हिचके नहीं थे !

उपर्युक्त कृतित्व के अलावा भी, अन्य अनेक ऐसी प्रकाशित-अप्रकाशित रचनाएँ हैं, जिनके प्रणयन, संपादन आदि में अग्रवाल जी का सिद्ध हाथ लगा था—यथा, 'देवी माहात्म्य : : ग्लोरिफिकेशन ऑफ द ग्रेट गॉडेस' (१९६३ ई०); 'सोलर सिम्बालिज्म ऑफ द बोअर' (१९६३ ई०); 'हिम ऑफ क्रिएशन : : नासदीय

सूक्त' (१९६३ ई०); 'चंडस्वती वाक्' (१९६४ ई०); 'दिव्यदान' (अप्रकाशित), 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (अप्रकाशित); 'भारतीय कला का सिंहावलोकन' (१९४८ ई०); 'पृथ्वीपुत्र' (१९६० ई०); 'कल्पवृक्ष' (१९५३ ई०); 'माता भूमिः' (१९५३ ई०); 'कला और संस्कृति' (१९५२ ई०); 'वाग्धारा' (१९६६ ई०); 'इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू टेम्पल्स एन्ड अदर एसेज' (१९६६ ई०); 'सुनहले हंस' (१९६४ ई०); 'समरांगणसूत्रधार' (१९६८ ई०); 'पाणिनि-परिचय' (१९६५ ई०); 'पृथ्वी-सूक्त : : एक अध्ययन' (१९६२ ई०); 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' (१९६४ ई०) आदि, आदि। इनमें 'पृथ्वीपुत्र', 'कल्पवृक्ष', 'कला और संस्कृति' तथा 'वाग्धारा' में उनके कतिपय श्रेष्ठतम निबन्धों का संकलन उपलब्ध है तथा 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' में गुजराती महाकवि मेघाणी की स्मृति में प्रदत्त एक भाषणमाला की सामग्री निहित है।

जनपदीय संस्कृति के पृष्ठपोषक प्रकाण्ड शब्द-शास्त्री

आचार्य वासुदेवशरण के सारस्वत जीवन का कोई भी गौरव-चित्र जनपदीय लोक-संस्कृति एवं लोक-भाषाओं के उत्थान-विषयक उनकी महती साधना के उल्लेख के बिना निपट अधूरा और फीका माना जायगा। इस दिशा में आजीवन ऐसी उत्कट लगन से वह अभिभूत रहे कि यदि यह कहा जाय कि वस्तुतः इस संबंध में उन पर एक प्रकार का बावलापन सवार था, तो कोई असंगत बयान वह नहीं होगा! वह शब्दों की जन्मकुंडलियाँ पढ़ने में अहर्निश रत एक ऐसे भाषा-शास्त्री थे, जिन्हें किसी भी प्रचलित-अप्रचलित पद, वाक्यांश या शब्द के मूल गोत्र एवं पिछली वंश-परंपरा का बोध होने पर वैसा ही सुख एवं आनन्द प्राप्त होता था, जैसा कि पाणिनि आदि सूत्रकारों को अपनी-अपनी बात कहने के लिए उपयुक्त सूत्रों की उपलब्धि होने पर मिलता रहा होगा! अपनी इस उत्कट शब्द-साधना के आवेग में ही मानो बलपूर्वक आगे धँसकर हमारे चरितनायक जनपदीय लोक-संस्कृति के प्रांगण में आ खड़े हुए थे और बहुत पहले ही ग्राम्य जीवन में व्यवहृत हजारों लोक-शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों, अर्थगंभीर वाक्यपदों आदि को आधुनिकता के बवंडर में विलुप्त हो जाने से बचाने के लिए उन्होंने जनपदीय परंपराओं के संरक्षण, पुनरुद्धार एवं अभ्युत्थान का एक सशक्त आन्दोलन खड़ा कर दिया था। इस अनुष्ठान के आदर्शों को स्पष्ट करनेवाले दिशा-संकेतों को 'पृथ्वीपुत्र' नामक अपनी विलक्षण कृति में बड़े ही प्रेरणात्मक चिन्तन-सूत्रों के बाने में वह लेखबद्ध कर गए हैं! उधर, शब्दों के वंश-बखान एवं आदि संस्कृत-प्राकृत प्रारूपों से क्रमशः अपभ्रंश एवं आधुनिक जनबोलियों के स्तर तक पहुँचने की उनकी विकास-

प्रक्रिया का जीवन्त चित्र वह पाणिनीय अष्टाध्यायी पर विरचित शोधग्रंथ एवं जायसी, विद्यापति, बाणभट्ट आदि के कृतित्व की निज व्याख्याओं में छोड़ गए हैं।

सांस्कृतिक धरातल के खरे 'पृथ्वीपुत्र'

गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी के उपरले अंचल में संपुटित, उत्तर प्रदेश का मेरठ जनपद अभी भी अपने चेहरे में बहुत-कुछ उस पुण्यपुरातन 'कुरुप्रदेश' की सांस्कृतिक उनहार झलकाए हुए है, जिसका प्रांगण कभी साक्षात् वेदव्यास की चरणरज से पुनीत बनकर, नवसंकलित वैदिक संहिताओं के मंत्रोच्चार के साथ, महाभारत और पुराणों के आदि पारायण की गूँज से अनुप्राणित हुआ था ! यही तो सरस्वती-दृषद्वती-गंगा की त्रिपुंडरेखाओं से निज ललाट को अलंकृत किए हुए उस महिमामय 'ब्रह्मावर्त्त' की नाभि कहलाने का गौरव पानेवाला भूक्षेत्र था, जिसकी प्रशंसा में आदि पुरुष मनु के श्रीमुख से ये चिरस्मरणीय शब्द निकले थे--"इस भूमि की कोख से जन्म पानेवाले श्रेष्ठ जनों से पृथ्वी के सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।"* यहीं तो भीष्म, विदुर, युधिष्ठिर जैसे धर्मधुरीण सत्यव्रती कभी उपजे थे और पुराकाल में उस पुरुवंशी चक्रवर्त्ती सम्राट् का राष्ट्र-ध्वज स्थापित हुआ था, जिसके नाम पर यह देश आज 'भारत' कहलाता है !

विधि का विधान कहिए या संयोग की बात ही उसे समझिए कि इसी महिमामय भूक्षेत्र के एक छोटे-से गाँव में, आज से लगभग सत्तर वर्ष पूर्व, हमारे ग्रंथनायक वासुदेवशरण अग्रवाल का भी जन्म हुआ था ! फिर, यह भी कोई कम महत्त्वपूर्ण योग नहीं था कि अपनी ६२ वर्षीय जीवन-यात्रा में अग्रवालजी ने जो पड़ाव आगे चलकर डाले, वे भी क्रमशः ऐसे महिमावान् क्षेत्रों में ही स्थापित हुए, जिन्हें इस महादेश की संस्कृति के कलेवर में (योग के विविध अधिष्ठानचक्रों की भाँति) प्रधान प्रेरक केन्द्रों के रूप में हम गुंफित पाते हैं ! भला, कैसा विचित्र संयोग था यह कि इस भाग्यशाली मनीषी ने जहाँ गंगा-यमुना की युगल धाराओं से सिंचित पूर्वोक्त कुरुप्रदेश की पावन भूमि में जन्म पाया और उसी की गोद में उसका शैशवकाल व्यतीत हुआ, वहाँ उसकी शिक्षा-दीक्षा एक ओर तो (नैमिषारण्य जैसे पुराणप्रसिद्ध धर्मचिन्तन क्षेत्र को अपने अंचल में बसाए हुए) गोमती एवं सरयू के जलों से अभिषिक्त 'अवध' में तथा दूसरी ओर जाह्नवी के दुकूल पर आश्रय पानेवाली महान् विद्यानगरी काशी में ही संपन्न हुई ! फिर, उनका कर्मक्षेत्र भी निरन्तर (भारतीय ज्ञान के महापीठ) 'वाराणसी', (अवध की संस्कृति के हृदयस्थल)

---

* **'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥'— (मनुस्मृति २/२०)**

'लखनऊ', (ब्रजभूमि की भक्ति तरंगों के संगमतीर्थ) 'मथुरा' तथा (राष्ट्र की समस्त गतिविधियों के प्रेरणाकेन्द्र) राजधानी 'दिल्ली', इन चार स्थानों में ही बँटा हुआ रहा ! तब उन्होंने अपनी आँखें अंतिम बार जो मूँदी, सो भी विश्वनाथ की नगरी 'काशी' में ही ! यह क्या कोई कम चमत्कारपूर्ण योग था !

भारतीय परंपरागत मान्यतानुसार, व्यक्ति की जीवनदिशा का निर्धारण यदि पूर्वजन्मगत प्रारब्ध-संस्कारों तथा कर्मफलमूलक पुद्गल-बीजों के अधीन होता है, तो आधुनिक विज्ञानवेत्ता इस विषय में देशकालपरक भूमिका को ही प्रधानता देते पाए जाते हैं। यदि इन दोनों ही पैमानों को मान्यता देकर हम अग्रवाल जी की जीवन-पोथी की समीक्षा करें, तो जान पड़ने लगता है कि अपनी ऋषितुल्य मेधा एवं साधुतुल्य विमल स्वभाववृति का वर तो मानो पूर्व प्रारब्ध-संस्कारों के रूप में वह अपनी मुट्ठी में लेकर ही जन्मे थे, परन्तु जिन प्रेरणा-सूत्रों ने उन्हें इस देश की महान् विरासत––विशेषतया वेदविद्या, पुराणविद्या, काव्य एवं कला-संपदा, लोक-संस्कृति आदि, आदि––के प्रति मोड़ा तथा जिनके बल एवं वेग से अनुप्राणित होकर, वह अपने विपुलकाय कृतित्व की सृष्टि कर सके, उनका प्राण-रस निश्चय ही उन्होंने अपनी जीवनयात्रा की पृष्ठभूमि से ही प्राप्त किया था ! इस नाते, वह हमारे सांस्कृतिक धरातल के खरे 'पृथ्वीपुत्र' थे ! वह थे वस्तुतः इस देश के पुनर्जागरण-यज्ञ के उन गिने-चुने अग्निहोत्रियों में से एक, जिन्होंने सदियों की राजनीतिक-सांस्कृतिक तन्द्रा के उपरान्त, हमारी मातृभूमि द्वारा नई करवट लेने के क्षण में, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, पं० मधुसूदन ओझा एवं डॉ० आनन्द कुमारस्वामी द्वारा प्रज्वलित ज्ञान-संस्कृति की होमाग्नि को पाश्चात्य भौतिकवादी झंझावात के थपेड़ों के बीच भी सुलगाए रखने का भगीरथ बीड़ा उठाया था ! उन्होंने जन्मभू की मिट्टी में से लोक-संस्कृति की संजीवनी रसधारा का खूब छककर अमृतपान किया था। इसी कारण वह ऐसे 'सोमपायी' प्राणवन्त मनीषी बन सके थे और मुक्त हस्त से वितरण कर सके थे उस मंगलघट में से ऊर्जा के वे कण, जो हमारे लिए युग-युगान्त तक सांस्कृतिक संजीवनी का काम देते रहेंगे !

कमलाश्रम,
चारबाग, लखनऊ।

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

संस्मरण

श्रद्धांजलियाँ

मूल्यांकन

ज्ञान के एकनिष्ठ साधक

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के स्वर्गवास से भारतीय विद्याओं के अध्ययन और शोधकार्य की अपार क्षति हुई है। वह महान् साधक थे। पुरातत्त्व, इतिहास, पुराण-साहित्य, वैदिक साहित्य, लोकभाषा का साहित्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य आदि अनेक विषयों में वह केवल रुचि ही नहीं रखते थे, उनको सदा नवीन शोधों से अग्रसर करते रहते थे। अध्ययन और मनन उनके श्वास-प्रश्वास थे। जिस विषय पर भी बात कीजिए, आप अवश्य उनसे कुछ नया प्रकाश पा सकते थे। उनकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। शब्दों के इतिहास के वह धनी थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से उन्होंने सहस्रों अर्थप्रसू शब्दों का संग्रह किया था। शब्दों से उनका अपूर्व अनुराग था। लोकभाषा के नए शब्दों को पाकर उन्हें जैसे निधि मिल जाती थी। केवल वह जानते ही नहीं थे, जानी बात को बड़े सुचारु ढंग से प्रकट कर सकते थे। एक क्षण भी उनका व्यर्थ नहीं जाता था। वह निरन्तर ज्ञान की साधना में लगे रहते थे। गुणग्राही तो वह प्रथम श्रेणी के थे। जहाँ कहीं उन्होंने किसी में गुण देखा उसे ही सराहा, प्रोत्साहन दिया और सब प्रकार की सहायता की। वह अंग्रेजी और हिन्दी में समान रूप से लिख और बोल सकते थे। परन्तु हिन्दी में लिखना उन्हें केवल रुचिकर ही नहीं लगता था, इसे वह अपना कर्त्तव्य मानते थे। सही बात तो यह थी कि वह पूर्ण रूप से ज्ञानमय हो गए थे। ज्ञान की साधना में उन्होंने किसी अन्य बात की परवा नहीं की और अन्त में उन्होंने अपना स्वास्थ्य और शरीर भी इसी साधना के लिए समाप्त कर दिया। ज्ञान का ऐसा एकनिष्ठ

साधक इस युग में दुर्लभ है। यह कह सकना कठिन है कि उनके स्वर्गवास से कितनी क्षति हुई। विद्या का एक अनन्य साधक ही नहीं उठ गया, एक आलोक-स्तम्भ ही ढह गया।

सूखे शास्त्रीय प्रसंगों में मानवीय संवेदना का रस

वासुदेव जी महान् विद्याव्रती तो थे ही, मनुष्य के रूप में भी वह उतने ही महान् थे। उनमें अद्‌भुत संकल्प-शक्ति थी। उनकी जीवनचर्या महान् आदर्शों और विश्वासों पर आधारित थी। किसी के कष्ट की बात सुनकर वह व्याकुल हो उठते थे। सेवा के अवसर से कभी चूकते नहीं थे। मैं उन्हें छात्रावस्था से ही जानता हूं। उन्हें कभी छोटी बातों में उलझते नहीं देखा। किसी की निन्दा-शिकायत वह नहीं करते थे। वह बहुत ही अच्छे मित्र थे। परन्तु अपने अत्यन्त घनिष्ठ मित्रों से भी वह अधिकतर अध्ययन और शोध की बात ही करते थे। मानवीय संवेदना से उनका हृदय भरा रहता था। सूखे शास्त्रीय प्रसंगों में भी यह संवेदना प्रकट हो जाया करती थी। जिस विषय पर वह जिस समय काम करते थे उस समय तन्मय हो जाते थे। वह एक बार 'हर्षचरित' पर काम कर रहे थे। प्रातःभ्रमण के समय वही चर्चा, सायंकाल गंगास्नान करते समय भी उसी की छानबीन, रात को मिल गए तो उसी की धुन और कहीं किसी सभा में गए तो उसी का ऊहापोह। जिन दिनों 'पदमावत' की टीका लिख रहे थे, उस समय उसी की चर्चा। वेदों में जब जुट पड़े, तो वेदमय हो गए। ऐसी निष्ठा और लगन के साथ वह जुट जाते थे कि ईर्ष्या होती थी। कहाँ से आती है ऐसी लगन? निस्संदेह बहुत गहराई से।

वह विलक्षण मेधावी थे। वर्षों पहले पढ़ी हुई बात उन्हें इस प्रकार स्मरण हो आती थी जैसे अभी पढ़कर उठे हों। उनके साथ मैं घंटों बैठा हूं, बिल्कुल पता नहीं लगता था कि कब समय बीत गया। एक-पर-एक जानकारियों का ताँता बँध जाता था। किसी विषय पर बात करने पर ऐसा ही लगता था कि यही उनका अपना विषय है। उनका बड़ा भारी गुण यह था कि वह श्रोता भी उतने ही बड़े थे। किसी नए विषय की बात वह बड़े ध्यान से सुनते थे और अपनी विलक्षण स्मरण-शक्ति के द्वारा उसे अपने मानसकोष में भर लेते थे।

उन्हें काम करने का ढंग भी मालूम था। सारी चीजें बड़े यत्न और सावधानी से वह सुरक्षित रखते थे। आलस्य तो था ही नहीं। कोई नई बात सुनते ही उसका महत्वपूर्ण अंश टाँक लेते थे। आवश्यकता पड़ने पर उसे खोजने में कुछ भी विलम्ब नहीं लगता था।

हृदय उनका कोमल था, मन पवित्र। चरित्र की ऐसी दृढ़ता थी कि किसी प्रकार की अनुचित बात उनसे सहन नहीं होती थी। सच्चाई के प्रति उनकी अपार निष्ठा थी।

ऐसे महान् सहृदय विद्वान् का स्वर्गवास बड़ा ही कष्टप्रद होता है। परन्तु यदि वह विद्वान् अपना अन्तरंग मित्र भी हो, तो उस कष्ट का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है! वासुदेव जी के असामयिक स्वर्गवास से उनके मित्रों की दुनिया ही अंधकारमय हो गई है। उनके समान प्रतिभाशाली सहृदय विद्वान् कभी-कभी ही पृथ्वी पर उतरते हैं। वह चले गए। शोच्य हम हैं!

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभारपूर्वक)

"डॉ० अग्रवाल ने हर्षचरित की हीर टटोलकर उसमें से हीरे की कितनी कणियाँ निकाल डाली हैं!"

"संयोगवश, जिस समय डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल भाषण करने पटना आये थे, उसी समय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी अपनी आदिकालीन हिन्दी-साहित्य-संबंधी व्याख्यानमाला के लिए यहाँ पधारे हुए थे। परिषद् की ओर से दोनों विद्वानों के भाषण लगातार पाँच दिनों तक, प्रतिदिन एक-एक घंटा, आगे-पीछे, हुए थे। उस समय स्वयं आचार्य द्विवेदी जी ने डॉक्टर अग्रवाल साहब के भाषण पर आश्चर्य और संतोष प्रकट किया था। आश्चर्य उन्हें इस बात का हुआ कि डॉक्टर अग्रवाल ने हर्षचरित की हीर टटोलकर उसमें से हीरे की कितनी ही कणियाँ निकाल डाली हैं और आज तक बहुत-से विद्वानों ने हर्षचरित का अध्ययन किया; पर किसी को इतनी बारीकियाँ और खूबियाँ नहीं सूझीं! –"डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'हर्षचरित : : एक सांस्कृतिक अध्ययन' के वक्तव्य में बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् के मंत्री स्वर्गीय आचार्य शिवपूजन सहाय के उद्‌गार।

महान् शब्दमर्मी

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का निधन बासठ वर्ष पूरे करके २७ जुलाई, सन् १९६६ ई०, के प्रातः काशी में हुआ। छब्बीसवीं जुलाई के प्रातः काशी-विश्वविद्यालय के 'सर सुन्दरलाल अस्पताल' में चारपाई पर पड़े हुए डॉ० अग्रवाल ने अपने निकट स्वजनों से प्रसन्न मुद्रा में कहा था—"जीवन एक सुखान्त नाटक है, हमें हँस-ठठककर इसका पटाक्षेप करना चाहिए।" सच्चे अर्थों में भारतीय संस्कृति, कला और भाषा का स्वरूप उन्होंने समझा और अपनी कृतियों के माध्यम से सरल, सुन्दर तथा ओजस्वी शैली में उसे समझाया। अध्ययन ओर लेखन ही उनका धर्म और कर्म था। सारस्वत तपश्चर्या ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य थी। भारती विद्या के तपोवन में वह एक सिद्ध दधीचि थे, जिनकी ज्ञान-किरणों से शब्दों, वेदों, उपनिषदों, पुराणों, महाभारत, गीता, अष्टाध्यायी आदि का व्याख्यात्मक साहित्य भास्वर हुआ है।

भारतीय संस्कृति और कला के सच्चे पारखी होने के साथ-साथ डॉ० अग्रवाल जी शब्द और अर्थ के उद्भट पंडित और मेधावान् मर्मज्ञ थे। शब्द के अर्थज्ञान में कितना रस है, उसे वह पहचान गए थे और उसका स्वाद भी ले चुके थे। तभी 'विश्व-भारती' में उन्होंने लिखा था—

"शब्द वाक् है और अर्थ मन है। शब्द और अर्थ के बीच जब प्राण का मेरुदण्ड जुड़ता है, तभी जीवन में कर्म के द्वारा अर्थ की तहें खुलने लगती हैं। शब्द के अध्ययन का फल अर्थ का ज्ञान है। अध्ययन का व्रत लेकर भी जिसने अर्थ को नहीं जाना, या जानने की सचाई से कभी प्रयत्न नहीं किया, या प्रयत्न

करता हुआ भी जो अपने संकल्प को विजयी नहीं बना सका, उस अधीती के लिए शोक है। अर्थ का साक्षात्कार ज्ञान का सार और साहित्य का अंतिम फल है। हे मनीषियो ! मन से इस अर्थ को पूछो और रस के दिव्य स्वाद को प्राप्त करो।"

जनपदीय शब्दों से लेकर वैदिक साहित्य तक शब्द-संस्कृति के अद्‌भुत मर्म से परिचित होने के लिए हमें डॉ० अग्रवाल जी के साहित्य का गहरा अध्ययन करना चाहिए। वह वैदिक साहित्य और संस्कृत साहित्य के अध्ययन में मैक्समूलर, मैक्डोनल और कीथ आदि से भी आगे थे।

जिन व्यक्तियों को डॉ० अग्रवाल जी की 'कला और संस्कृति,' 'माता भूमिः', 'उरुज्योति', 'पृथिवीपुत्र', 'मेघदूत—एक अध्ययन,' 'हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन', 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष,' 'जायसीकृत पदमावत' (मूल और संजीवनी व्याख्या), 'कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन,' 'भारत-सावित्री', 'चतुर्भाणी', विद्यापति कृत 'कीर्तिलता,' 'मार्कण्डेय पुराण—एक सांस्कृतिक अध्ययन,' 'ऋग्वेद पर व्याख्यान,' आदि पुस्तकों तथा हिन्दी की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेखों के पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि वैदिक व्याख्याओं के माध्यम से उन्होंने अध्यात्म, संस्कृति, विज्ञान एवं दर्शन की नई मौलिक विचार-भूमियाँ प्रस्तुत की थीं। उनकी व्याख्याओं में अध्यात्म और भौतिक विज्ञान का अद्‌भुत समन्वय है।

'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में डॉ० अग्रवाल जी ने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का विलक्षण एवं पांडित्यपूर्ण सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'अष्टाध्यायी' के चार सहस्र सूत्रों में आए हुए शब्दों के वास्तविक अर्थों को डॉ० अग्रवाल जी की तलस्पर्शिनी दृष्टि ने ऐसे ढंग से देखा कि उस युग के सांस्कृतिक जीवन का स्पष्ट चित्र समक्ष उपस्थित हो जाता है। पाणिनिकालीन शब्द-संस्कृति के परिवेश में हिन्दी की जनपदीय शब्द-संस्कृति की व्याख्या जिस रूप और शैली में उस मौलिक चिंतक तथा विचारक ने हमारे समक्ष प्रस्तुत की, वह सदैव संस्कृत के व्याकरण-ग्रन्थ-अध्येताओं के लिए भी एकदम नई दिशा देती रहेगी। एक व्याकरण-ग्रन्थ से संस्कृति के तत्त्व निकालकर रख देना, वास्तव में डॉ० अग्रवाल जी की विचित्र एवं अद्‌भुत उपलब्धि है। वह वास्तव में भारतीय संस्कृति, दर्शन, साहित्य, इतिहास, शब्द, लोककला और पुरातत्व-ज्ञान के सचल विश्वकोष थे। वह हिन्दी जनपदीय कार्यक्रम के कुशल संयोजक और परम प्रेरक थे। अपने ग्रंथों के माध्यम से डॉ० अग्रवाल जी ने जनपदीय शब्दों को आत्मा का साक्षात्कार करा दिया था। वस्तुतः अध्ययन का प्रण पूर्ण करने में वह भीष्म पितामह थे। उन्हें जन-जीवन के लोक-शब्दों का यास्क कहना ही उचित है।

चमड़े का बना गोल आकार का पात्र जिसमें प्रायः तेल रक्खा जाता है, हिन्दी में 'कुप्पा' कहलाता है। उससे छोटे पात्र को 'कुप्पी' कहते हैं। 'पाणिनि-कालीन भारतवर्ष' में डॉ० अग्रवाल जी ने लिखा है--"पाणिनि के समय में चमड़े के बड़े कुप्पे 'कुतु' और छोटी-छोटी कुप्पियाँ 'कुतुप' कहलाती थीं। (कुत्वा डुपच् ५/३/८९, ह्स्वाः कुतूः कुतुपं चर्ममयं स्नेहभाजनमुच्यते--काशिका)"।

गधे आदि की पीठ पर अनाज आदि का जो दुरुखा बोरा रखा जाता है, उसे ब्रज-क्षेत्र में 'गौनि' या 'गौन' कहते हैं। इसके संबंध में एक लोकोक्ति है--'गधा न कूद्यौ, कूदी गौन'।

पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में उसके लिए 'गोणी' शब्द लिखा है। डॉ० अग्रवाल जी ने लिखा है कि पाणिनि ने दो प्रकार की 'गोणी' कही है--बड़ी 'गोणी' और छोटी 'गोणीतरी'।

डॉ० अग्रवाल जी ने ऐसे सहस्रों लोक-शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या प्रस्तुत करके उनके प्रति हमारी श्रद्धा को बलवती बना दिया है।

अलीगढ़, मथुरा और बुलन्दशहर जिलों के गाँवों की बोली में अनाज का छोटा कुठला 'कोठी' या 'कुठिया' कहलाता है। डॉ० अग्रवाल जी ने लिखा है--शतपथ में एक शब्द 'कौष्ठी' आया है। संभवतः 'कौष्ठी' शब्द से ही 'कोठी' शब्द का विकास हुआ है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) की ओर से महाकवि बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित व्याख्यानमाला' प्रस्तुत करने के लिए डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल को आमन्त्रित किया गया था। उसी समय डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी 'आदि-कालीन हिन्दी साहित्य' सम्बन्धी व्याख्यानमाला के लिए पटना में पधारे हुए थे। तब बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से दोनों ही विद्वानों के भाषण लगातार पाँच दिनों तक प्रतिदिन एक-एक घंटा आगे-पीछे हुए थे। उस समय डॉ० अग्रवाल जी के भाषणों को सुनकर आचार्य द्विवेदी जी ने कहा था--"डॉ० अग्रवाल जी ने 'हर्षचरित' की हीर टटोलकर उसमें से हीरे की कितनी ही कणियाँ निकाल डाली हैं।" 'हर्षचरित : : एक सांस्कृतिक अध्ययन' पर ही डॉ० अग्रवाल जी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन -(प्रयाग) की ओर से १२ सौ रुपयों का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था।

'मकर-प्रणाली' क्या होती है, इसे बहुत से पंडित नहीं समझते थे। परीक्षाओं में 'हर्षचरित' पढ़ाया तो जाता था और आचार्य लोग अपने छात्रों को उसका आनुमानिक उल्टा-सीधा अर्थ भी समझा दिया करते थे। डॉ० अग्रवाल ने ही सर्वप्रथम 'मकर-प्रणाली' के अर्थ को स्पष्ट किया था।

डॉ० अग्रवाल ने अपने 'हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन' में बताया है कि हिन्दी में जिसे 'नाली' कहते हैं, उसी के लिए 'प्रणाली' शब्द प्रचलित था। आज भी ईंट-पत्थर आदि की नालियों के मुख गाय, सिंह, मगर आदि के बना दिए जाते हैं। मकर के मुख की नालियाँ हर्ष के काल में भी बनाई जाती थीं। जिन नालियों के मुख मकर की आकृति के बनते थे, वे 'मकर-प्रणाली' नाम से पुकारी जाती थीं।

ब्रज-जनपद में पाजामा के लिए एक शब्द 'सूतना' भी प्रचलित है। यह शब्द प्रायः पिंडलियों पर कसे हुए चुस्त पाजामे के लिए आता है। डॉ० अग्रवाल जी ने 'हर्षचरित' में लिखा है कि संस्कृत 'स्वस्थान' से 'सूतना' शब्द विकसित है—स्वस्थान, सुत्थन, सूथना, सूतना।

'हर्षचरित' में 'चतुःशाल' का उल्लेख है—"चतुःशाल' से ही विकसित 'चौसल्ला' रूप बनारस की बोली में अभी तक प्रचलित है। यह शब्द उस स्थापत्य से लिया गया है, जिसमें एक आँगन के चारों ओर कमरे या दालान बनाए जाते थे।"

'चंचल' और 'चालाक' के अर्थ में कौरवी तथा ब्रजभाषा के क्षेत्र में एक शब्द 'ईतरी' प्रचलित है। डॉ० अग्रवाल जी ने 'माता भूमि' (पृ० ६६) में लिखा है—"अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त में मातृभूमि के लिए एक शब्द 'अग्रेत्वरी' आया है, जिसका अर्थ है—आगे जानेवाली (अग्र + इत्वरी) और श्री ग्रिफिथ ने 'लीडर' शब्द से उसका अनुवाद भी किया है।" पृथ्वी-सूक्त के ऋषि ने अपनी भूमि के लिए सुन्दर कल्पना की थी कि वह विश्व के देशों में अगुआ है। 'इ' धातु में 'क्त' प्रत्यय जोड़कर पहले 'इत' बना, जिसका अर्थ था गति या गमन। 'गति' विशेष रूप से जिसमें हो, वह हुआ 'इत्वर'; स्त्रीलिंग 'इत्वरी'। लोक के मन में शब्द की चंचल अर्थवाली ध्वनि बराबर बनी रही और चार हजार वर्षों तक लोक ने उसका साथ बराबर निभाया। बाण ने 'हर्षचरित' में 'इत्वर' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। मेरठ या कुरु-जनपद की बोली में आज तक दुहते समय उछल-कूद करनेवाली गाय को 'ईतरी गाय' कहते हैं। ऊधमी बालकों के लिए भी 'ईतरा बालक' प्रयोग देहातों में चालू है। ब्रजक्षेत्र में भी यह शब्द खूब प्रयोग में आता है। सूरसागर में लिखा है —'न्हाने लोग तनक धन ईतर'।

'कादम्बरी' में बाण ने 'सूतिका-गृहवर्णन' के साथ - साथ 'सूतिका-मंगल-गीतिका' का भी उल्लेख किया है। डॉ० अग्रवाल ने अपने ग्रंथ 'कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन' में सूतिका-गृह के लिए 'सोहर' और 'सूतिका'-मंगलगीतिका' के लिए 'सोहर-मंगलगीत' लिखा है। ब्रजक्षेत्र के गाँवों में जच्चा की खाट के

पाये के सिरे पर आज भी 'वैमाता' काढ़ी जाती है और 'बिहाई' नामक गीत गाए जाते हैं। 'बिहाई' वास्तव में संस्कृत 'वृद्धा आर्यिका' और 'बैमाता' 'वृद्धिका माता' से ही विकसित शब्द हैं। (वृद्धा आर्यिका–विद्धाइया–बीधाइया–बीहाई–बिहाई; वृद्धिका माता–बिहिआ माता–बिही माता–बिई माता–बैमाता)।

वाण की देवी—'आर्यवृद्धा'—वास्तव में आज की 'वैमाता' ही है। उस वृद्धा आर्यिका (बिहाई) के संबंध में गाए जानेवाले गीत ही आज अलीगढ़-जनपद में 'बिहाई के गीत' कहकर पुकारे जाते हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति जब हमें अपनी वर्तमान लोक-संस्कृति के मूल रूप में दर्शन देती है, तब साहित्य के अध्येता के मन में जो आनन्दोद्रेक उत्पन्न होता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन क्षणों में गतऔर आगत का एकतान देखकर मानस में अपार आनन्द की लहरें उठा करती हैं।

जब कोई व्यक्ति झूले पर खड़े होकर स्वयं अपने प्रयत्न से उसे जोरों के साथ आगे-पीछे चलाता है, तब वह क्रिया ब्रज की भाषा में 'मचक बढ़ाना' या मेरठ की कौरवी बोली में 'पेंग बढ़ाना' कहाती है। डॉ० अग्रवाल जी ने जहाँ 'कादम्बरी' के 'कुमारी-अन्तःपुर' का हिन्दी में आख्यान किया है, वहाँ (पृष्ठ १७९ पर) लिखा है—"कहीं कुमारी कन्याएँ अपनी सखियों के हाथ में हाथ डालकर घूम रही थीं······कहीं हिंडोले में पेंग बढ़ा रही थीं।"

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी की अंग्रेजी पुस्तक 'हिन्दू सिविलीजेशन' का अनुवाद डॉ० वासुदेवशरण ने 'हिन्दू सभ्यता' नाम से किया। इसमें अंग्रेजी शब्दों के समानान्तर हिन्दी में लोक-जीवन के प्रचलित एवं अर्थवान् शब्दों को रखकर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की गई है। विद्वान् अनुवादक ने 'रिंग स्टोन' के लिए 'चकिया-रड़िया', 'रिडिल' के लिए 'गेरू', 'सैंडिलकेर्न' के लिए 'दलैटा' और 'हैमटाइट' पत्थर के लिए 'धाउ पत्थर' शब्द रखे हैं। विंध्य प्रदेश में होनेवाले 'हैमटाइट' को वहाँ के लोग अभी तक 'धाउ' ही बोलते हैं। यह तद्भव शब्द है, जो संस्कृत 'धातु' शब्द का विकसित रूप है। 'धातु' नाम के पत्थर का उल्लेख कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में भी किया है। 'मेघदूत' के यक्ष ने 'धाउ पत्थर' (गेरू) के ही रंग से शिला पर अपनी प्रियतमा का चित्र बनाया था—

"त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया–
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।"

शब्दों का निर्माण संस्कृति करती है। डॉ० अग्रवाल जी के शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि "संस्कृति जीवन की प्रेरणा लेकर जो डग युग-युग में भरती है, उसके अमिट चिह्न शब्द हैं।" इस वाक्य में प्रयुक्त 'डग' शब्द लोक-जीवन का है और अपने अर्थ को इतनी सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यंजकता के साथ प्रकट कर रहा है कि

इसके स्थान पर अन्य शब्द अपना आसन नहीं जमा सकता। साहित्य के वाक्यों की माला में जब लोक-शब्दों के फूल यत्र-तत्र गूँथ दिए जाते हैं, तब वे सम्पूर्ण जनता के कंठहार बन जाते हैं।

बैलगाड़ी के पहिए की गोलाईदार वस्तु 'चका' या 'चक्का' कहलाती है। झुकावदार कई पुट्ठियों को मिलाकर 'चका' बनाया जाता है। 'पुट्ठी' शब्द हमारी लोक-भाषा का जीवित शब्द है। संस्कृत के ग्रंथों में इसके लिए 'नेमि' शब्द आता है। कालिदास ने 'मेघदूत' में 'चक्रनेमि' शब्द का प्रयोग किया है। हिन्दी टीकाकारों ने उसका अर्थ किया है—'पहिए के किनारे।' इससे बात समझ में नहीं आती। पहिए की गति वास्तव में उसकी पुट्ठियों से ही मालूम पड़ती है। संस्कृत 'नेमि' शब्द के लिए 'पुट्ठी' शब्द का प्रयोग करके, डॉ० अग्रवाल जी ने कालिदास की निम्नांकित पंक्ति का अर्थ खोलकर रख दिया है—"नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण" (मेघदूत २/४६)।

३० सितम्बर, १९६२ ई० के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (नई दिल्ली) का नव-वर्षांक प्रकाशित हुआ था। उसमें डॉ० अग्रवाल जी का एक लेख था—'भारतीय तत्त्वदर्शन की महती कल्पना सुदर्शन-चक्र'। इसमें विद्वान् लेखक ने कालचक्र के प्रतीक 'सुदर्शन-चक्र' की पांडित्यपूर्ण विलक्षण व्याख्या की थी और 'नेमि' का अर्थ 'पुट्ठी' लिखकर स्पष्ट किया था। लोक-शब्दावली के मार्मिक एवं विस्तृत अध्ययन के लिए डॉ० अग्रवाल के जायसीकृत 'पदमावत' के संजीवन भाष्य को पढ़ना चाहिए। एक दृष्टि से यह ग्रंथ मल्लिनाथ आदि के भाष्यों से भी बढ़कर है। उसी ग्रंथ पर डॉ० अग्रवाल जी को 'राष्ट्रीय अकादमी पुरस्कार' प्रदान किया गया था। यह ग्रन्थ निस्सन्देह लोक-शब्दों की ऐतिहासिक व्याख्या का निघंटु है।

इन पंक्तियों के लेखक का परम सौभाग्य है कि 'पी-एच० डी०' के शोधकार्य (कृषक-जीवन-सम्बन्धी ब्रजभाषा-शब्दावली) के लिए श्रद्धेय डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल जैसे शब्दमर्मज्ञ एवं उद्भट विद्वान् उसे निर्देशक के रूप में मिले। मैं यह मुक्त कंठ से घोषित कर सकता हूं कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल में परमोच्च श्रेणी की साहित्यिक ईमानदारी थी। कोई छोटी-सी बात भी यदि उन्हें किसी व्यक्ति से मालूम पड़ जाती थी, तो वह उसका नामोल्लेख अवश्य करते थे।

सन् १९५३ ई० में जब डॉ० अग्रवाल 'पदमावत' पर भाष्य लिख रहे थे, एक दिन संध्या समय वह मुझे 'पदमावत' के कुछ स्थलों की व्याख्या सुनाने लगे। एक जगह एक चौपाई में 'दुआली' शब्द आया था, जिसका अर्थ अग्रवाल जी ने कुछ और ही किया था। मैंने कहा कि 'दुआली' का अर्थ 'चमड़े का तस्मा या डोरी' है। डॉ० अग्रवाल दूसरे दिन अनेक कोशों में उसकी छानबीन करने लगे। जब

कुछ कोशों से वह अर्थ प्रमाणित हो गया, तब वह गद्‌गद हो गए और प्रसन्न भाव से मेरी पीठ ठोंकने लगे। दो वर्ष बाद जब पदमावत का भाष्य प्रकाशित हो गया और उसकी एक प्रति 'सस्नेह' मेरे पास भेजी गई, तब उसकी भूमिका पढ़ने पर मुझे विदित हुआ कि डॉ० अग्रवाल जी ने 'दुआली' के अर्थ-प्रसंग में मेरे नाम का उल्लेख किया है, यद्यपि मेरी ज्ञान-लघुता उनकी ज्ञान-गरिमा की तुलना में एक अणुमात्र थी और अब भी है।

डॉ० अग्रवाल जी ने अपने निधन से २३ दिन पूर्व (अर्थात् ३ जुलाई सन् १९६६ ई० को) 'दैनिक हिन्दुस्तान' के रविवारीय परिशिष्ट में एक लेख प्रकाशित कराया था, जिसका शीर्षक था 'हिन्दी साहित्य का भविष्य'। उसमें उन्होंने लोक-शब्दावली के संबंध में लिखा था—

"जम्मू से मेरे पास एक अनुसंधानकर्त्ता का पत्र आया है कि वे 'डोगरी' बोली की कृषक-शब्दावली के दस-बारह सहस्र शब्दों से परिचित हैं। उसी ढंग पर अम्बाप्रसाद 'सुमन' (अलीगढ़) ने कृषक-शब्दावली के शब्दों का संग्रह किया है .... । मैं कभी सोचा करता था कि यदि हिमांचल से लेकर दक्षिण कोसल तक के विशाल हिन्दी-क्षेत्र में ऐसे सौ निबन्ध शोधकर्त्ताओं के प्रयत्न से तैयार हो जाएँ, तो बहुत ही ठोस काम हो जायगा। इससे हिन्दी के कोशशास्त्र को अपरिमित लाभ होगा। मुझे स्वयं श्री सुमन के निबन्ध में ऐसे सैकड़ों शब्द मिले, जिनके अन्यत्र मिलने की कोई आशा न थी। स्थानीय बोलियाँ शब्दों की धात्री हैं। वे अपनी कोख में ऐसे सहस्रों शब्द लिये बैठी हैं, जो युगों से चले आए हैं और जिन्हें हिन्दी भाषा में सम्मानित पद मिलना चाहिए। अतः हिन्दी के भविष्य के बारे में सोचते हुए हिन्दी की जनपदीय शब्दावली (लोक-शब्दावली) की ओर मेरा ध्यान बार-बार जाता है।"

अपने लेखों तथा ग्रंथों के माध्यम से डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने हिन्दी के सहस्रों लोक-शब्दों को साहित्य में लाकर उनका उद्धार किया और सच्ची एवं स्वाभाविक अर्थमयी भाषा लिखने की शैली को जन्म दिया। उनकी उपमाओं का पारखी पाठक यही कहेगा कि 'उपमा वासुदेवशरणस्य'।

यह तो निर्विवाद सिद्ध ही है कि जो लोक-शब्द एक बार साहित्य में आ गया, वह अमर हो गया। डॉ० अग्रवाल जी की लोकशब्द-अमरत्वदायिनी शैली का अनुकरण आज अनेक उदीयमान साहित्यकार कर रहे हैं। लोक-जीवन के जीवित शब्दों में जितना बल, प्राण और अर्थव्यंजकता है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। लोक-शब्दों में भारतभूमि के कण-कण का कंठ बोलता है। भारत की आत्मा का स्वर लोक-शब्दों में ही सुना जा सकता है। भारत की वर्तमान संस्कृति भी लोक-

शब्दों में समाविष्ट है। इन जन्मना छरेरे एवं फुर्तीले लोक-शब्दों के आगे संस्कृत के गढ़े हुए भारी-भरकम तुंदिल शब्द कहाँ ठहर सकते हैं?

अत. अग्रवाल जी की शैली का अनुकरण करके ही राष्ट्रभाषा हिन्दी को सबल, समृद्ध और अर्थव्यंजक बनाया जा सकता है। हमारी राष्ट्रभाषा वास्तव में लोक-जीवन के शब्दों पर ही राष्ट्र का सच्चा स्वरूप अभिव्यक्त कर सकती है। किसी देश की धरती के अंतस् से उद्‌भूत लोक-शब्द हुआ करते हैं। निस्सन्देह डॉ० अग्रवाल जैसे मूर्धन्य साहित्यिक तपस्वी ने हिन्दी को ऐसी भाषा और शैली प्रदान की, जिसमें हम अपने राष्ट्र की आत्मा का चित्र स्पष्ट देख सकते हैं।

डॉ० अग्रवाल राजनीतिक अखाड़ेबाजी से नितांत दूर रहकर और निरन्तर अध्ययन एवं लेखन में तल्लीन होकर शब्द-साधना करते रहे। सन् १९६५ ई० में हिन्दी भाषा के प्रश्न को लेकर भारत-सरकार की ओर से जब शिथिल नीति का पोषण हुआ था, तब डॉ० अग्रवाल जी ने बड़े जोरदार शब्दों में लिखा था—"हे राजनीति के पंडितो! आपको कोलाहल, स्वार्थ तथा दाँवपेचों के लिए सहस्रों क्षेत्र हैं। कम से कम इस राष्ट्रभाषा-मंदिर में तो शांति रहने दो और सारस्वत साधकों को कुछ अर्चन-वन्दन करने दो!"

ऐसे सुप्रसिद्ध महान् साहित्यकार, मूर्धन्य प्रकांड अध्येता, मनीषी एवं प्रगाढ़ चिंतक के असामयिक देहावसान से वास्तविक अर्थ में भारतीय वाङ्‌मय की अपूरणीय क्षति हुई है। जिन दिशाओं में डॉ० अग्रवाल जी ने कार्य किया, उन दिशाओं में यदि हम आगे बढ़ने के लिए सतत प्रयत्न करते रहें, तो उस दिवंगत आत्मा के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी – "जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।"

"मैं उनको एक अर्वाचीन व्यास के रूप में देखता हूँ!"

"उनके लेख, अनुवाद, विवेचन, अवलोकन, नए-नए विषय के अर्थ-घटन आदि की इतनी अधिक और रोचक साहित्य-सामग्री है कि कभी-कभी अपने मन में मैं उनको एक अर्वाचीन व्यास के रूप में देखता हूं!"—गुजराती कवि मेघाणी की स्मृति में आयोजित 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' शीर्षक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रदत्त व्याख्यानमाला के 'प्रकाशकीय निवेदन' में उनके प्रति व्यक्त 'ज्ञानोदय ट्रस्ट' के अध्यक्ष श्री सुखलाल संघवी के उद्‌गार।

डॉ० फोगल के पदचिन्हों पर

डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी

आज विश्व के कोने-कोने के कलाप्रेमी मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय को कुषाण-कला के विशाल कीर्ति-मन्दिर के रूप में पहचानते हैं। यद्यपि इस संग्रहालय की स्थापना १८७४ ई० में हो गई थी तथापि बीसवीं शती के प्रारम्भ तक इसकी महत्ता कुछ इने-गिने लोगों को ही ज्ञात थी। सर्वप्रथम १९०५ से १९१० ई० के बीच डॉ० फोगल ने अपने लेखों और ग्रन्थों के द्वारा भारतीय कला का यह दालान विदेशियों के लिए खोल दिया। किन्तु संग्रहालय की नवीन रचना की ओर वह अधिक ध्यान नहीं दे सके।

मथुरा-कला-मन्दिर के दूसरे निर्माता थे डॉ० आनन्द कुमारस्वामी। श्रीलंका के इस वरद पुत्र का कार्यक्षेत्र था अमेरिका का बोस्टन-संग्रहालय। भारतीय कला, दर्शन एवं संस्कृति का यह उपासक कई बार भारत आया। उसने भारत के चप्पे-चप्पे की यात्रा की और बहुमूल्य ऐतिहासिक कृतियों को एकत्र किया। भारतवासियों को उस समय अपने ऐश्वर्य की न तो पहचान थी और न चाह। डॉ० कुमारस्वामी ने मथुरा-कला का गहन अध्ययन किया तथा कलाकृतियों को प्रकाश में लाने का अथक प्रयत्न भी किया।

सन् १९०९-१० ई० से संग्रहालय का उन्नतिकाल प्रारम्भ हो जाता है। इसके प्रथम संग्रहालयाध्यक्ष थे लेफ्टिनेंट कर्नल वास्ट और द्वितीय थे रायबहादुर पं० राधाकृष्ण। रायबहादुर राधाकृष्ण ने संग्रहालय की खूब वृद्धि की। कुओं में, गलियों में, जंगलों के बीच, खँडहरों में तथा ब्रज के सुदूरवर्ती गाँवों में छिपा हुआ मथुरा-कला का वैभव बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होकर संग्रहालय में आने

लगा। रायबहादुर रामप्रसाद चंदा, रायबहादुर दयाराम साहनी और सर जॉन मार्शल के प्रयत्नों से संग्रहालय का वर्तमान भवन बन गया और उसकी सजावट भी होने लगी। कक्ष बन गए, मूर्तियाँ लग गईं, परन्तु उनको समझने और समझानेवालों की कमी थी।

संग्रहालय के तीसरे अध्यक्ष श्री दिसकलकर प्राचीन लिपियों के विद्वान् थे। कलाकृतियों को पढ़ने की अपेक्षा उन्हें अभिलेखों को पढ़ना अधिक भाता था। इसके सिवा उनका कार्यकाल भी बहुत थोड़ा था। फलतः संग्रहालय के कक्ष जैसे थे, वैसे ही रहे। इस प्रकार इस संग्रहालय में 'पाणिनि की अष्टाध्यायी' तो बन चुकी थी, परन्तु उसके समझाने के लिए 'भाष्यकार पतंजलि' का अभाव था! १९३१ ई० में मथुरा-कला के सूत्रों का विशदीकरण करने के लिए पतंजलि के रूप में आए पाणिनि के चिरन्तन उपासक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल!

जिस समय खद्दरधारी, कृषकाय, बाह्य व्यक्तित्व-विहीन वासुदेवशरण ने (उस समय वह डॉक्टर नहीं थे) संग्रहालयाध्यक्ष का पद सँभाला, उस समय की स्थिति का उन्हीं के शब्दों में यह चित्र है :—

"उस समय के संग्रहालय में और आज के संग्रहालय में आकाश-भूतल का अन्तर है। न तो भवन ही पूरा था और न उद्यान ही। मैंने वह पद जब सँभाला था, तब मेरे पास केवल एक ही लिपिक था—पं० जगनप्रसाद चौबे। मेरी सहायता मुझे स्वयं ही करनी थी। चपरासी, माली आदि भृत्यवर्ग केवल हाथों की अँगुलियों पर गिनने योग्य। आज वहाँ लाखों के बजट बनते हैं। हमें केवल सैकड़ों की बातें, वह भी कठिनाई से, करनी होती थी। छोटे-से मद से पुस्तकालय, भृत्यवर्ग, दैनिक खर्च आदि अनेक महोदर दैत्यों की पूर्ति करनी पड़ती थी। संग्रहालय के सर्वाधिकारी होते थे जिलाधीश। उनके संकेत पर संग्रहालयाध्यक्ष का कार्य निर्भर था। उसका शासन से सीधा सम्बन्ध था ही नहीं।

"उन दिनों मथुरा में कोई ऐसा पुस्तकालय नहीं था, जहाँ के शोधग्रन्थों से मैं ज्ञानार्जन कर सकूँ। इसलिए सर्वप्रथम मैंने पुस्तकालय की ओर ध्यान दिया। जितना सम्भव था, मैंने उसे समृद्ध करना प्रारम्भ किया। साथ ही शुरू किया मथुरा की कलाकृतियों का अध्ययन।"

आगे उन्होंने यह बतलाया है कि किस प्रकार उन्होंने डॉ० फोगल और डॉ० कुमारस्वामी के पदचिन्हों पर चलने का निश्चय किया। इन विद्वानों के लेखों और ग्रन्थों को उन्होंने संहिताओं के रूप में ग्रहण किया। उनके सतत अनुशीलन तथा अध्ययन के फलस्वरूप डॉ० अग्रवाल को वह दृष्टि तो मिल गई, जिससे संग्रहालय की कलाकृतियों को परखा जा सकता था, पर उन्हें इतने से

सन्तोष कहाँ था ! अंग्रेजी, संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि भाषाएँ तो वह जानते थे, पर फ्रैन्च और जर्मन का ज्ञान नहीं था । डॉ० फोगल की मथुरा-कलावाली पुस्तक फ्रैन्च में थी । अतः फ्रैन्च-कोष की सहायता से उन्होंने पढ़ना प्रारम्भ किया । आज भी मथुरा-संग्रहालय की फोगलवाली प्रति में अग्रवाल जी के हस्ताक्षरों में फ्रैन्च शब्दों के अंग्रेजी अर्थ लिखे हुए देखे जा सकते हैं ।

इस प्रकार आवश्यक ज्ञान से युक्त होने के उपरान्त उन्होंने अपने समय की नवीन उपलब्धियों की ओर ध्यान दिया । मुझे उन्होंने मुख्यतया उस 'अक्सेशन रजिस्टर' को पढ़ने की सलाह दी, जिसे बड़े विस्तार के साथ बारीक किन्तु स्वच्छ अक्षरों में उन्होंने लिखा है । संग्रहालय के १९३१ से १९३९ ई० तक के ये दो रजिस्टर, जिनमें ७३१ वस्तुओं का विशद विवरण है, उसकी अमूल्य निधि है ।

इस संग्रहालय में अग्रवाल जी ने जो ठोस कार्य किया, उसके प्रमुख आधार ये रजिस्टर ही हैं । डॉ० फोगल ने अपने समय तक की मथुरा-संग्रहालय की मूर्तियों की एक विवरण-पंजिका छपवाई थी । डॉ० अग्रवाल ने उस कार्य को आगे बढ़ाने की योजना बनाई । डॉ० फोगल ने १९१० ई० तक की मूर्तियों का उक्त ग्रन्थ में समावेश किया था । अग्रवाल जी ने १९३९ ई० तक उस सूची का विस्तार किया । यद्यपि उनका यह कार्य बहुत बाद में प्रकाश में आया, तथापि उसका श्रीगणेश मथुरा में ही हुआ था ।

मूर्तिकला इस समय तक सबके अध्ययन का क्षेत्र बन चुकी थी । पर उसकी एक सह-शाखा अब तक अंधकार के गर्भ में पड़ी दबी थी । प्राचीन भारत की मृण्मूर्तियों की ओर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया था । डॉ० अग्रवाल के अनुसार : "उस समय विदेशी विद्वानों में भारतीय मृण्मूर्तिकला का भारतीय संस्कृति की पार्श्व-भूमि में अध्ययन करनेवाले एक ही व्यक्ति थे--डॉ० कुमारस्वामी । मैंने उनके लेखों को पढ़ा और संग्रहालय में पूर्वनिहित और प्रतिदिन ब्रज की भूमि से निकलनेवाली नवीन मृण्मूर्तियों को सँजोना और पढ़ना प्रारम्भ किया ।"

सतत परिश्रम के बाद उन्होंने मथुरा की मृण्मूर्तियों का प्रथम परिचय करानेवाला 'मथुरा टेराकोटाज़' नामक विशाल सचित्र लेख लिखा, जो आज तक न जाने कितने विद्यार्थियों का प्रेरणास्रोत बन रहा है । अपने इसी अध्ययन के आधार पर वह आगे चलकर अहिच्छत्रा की मृण्मूर्तियों का सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत कर सके थे । उनके समय में मथुरा-संग्रहालय में पत्थर की मूर्तियों के साथ-साथ मथुरा के मृण्मूर्तियों के संग्रह भी सजाए गए । आज इस संग्रह ने एक विशाल रूप धारण कर लिया है ।

मृण्मूर्तियों का जो चस्का उन्हें मथुरा में लगा, वह हमेशा बना रहा। उन्होंने मथुरा तथा अहिच्छत्रा के अतिरिक्त राजघाट (वाराणसी), घोसी, मसौन, श्रावस्ती, कौशाम्बी आदि स्थानों की मृण्मूर्तियों के जो अध्ययन समय-समय पर प्रस्तुत किए, उनके कारण वह इस विषय के प्रकाण्ड पण्डित माने जाने लगे।

मथुरा के संग्रहालयाध्यक्ष के रूप में डॉ० अग्रवाल ने वहाँ की कलाकृतियों पर देश-विदेश की पत्रिकाओं में सैकड़ों लेख लिखे, व्याख्यान दिए और उन्हें हृदयंगम करने का मार्ग बताया।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

'उनका हृदय जाह्नवी गंगा के समान पवित्र था !'

"वह परम्पराओं के प्रेमी थे, परन्तु सत्य के पुजारी थे। वह जीवन भर एक मर्यादा से रहे।………उन्होंने संग्रहालयों के अध्यक्ष रहते हुए भी संग्रहालय की घास अपने ताँगे के घोड़े को यह कहकर नहीं खाने दी थी कि वह उसे पचेगी नहीं। उनका हृदय जाह्नवी गंगा के समान पवित्र था। 'आराम हराम है' का नारा उन्होंने कभी नहीं लगाया, परन्तु इस आदर्श को जीवन में सार्थक कर उन्होंने भारतीय लोक-कलाओं, संस्कृति के निहित तत्त्वों और भावों की व्याख्या करते हुए माँ सरस्वती के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया।"—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की पुण्यस्मृति में निकाले गए 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के विशेषांक में उक्त पत्र के तत्कालीन संपादक द्वारा अर्पित श्रद्धांजलि।

"आप निश्चिन्त रहें, मैं दोनों चौबों का यजमान बना रहूँगा"

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

"प्रातःकालीन ऐक्सप्रेस द्वारा मैं दिल्ली जा रहा हूं। कृपया फीरोजाबाद स्टेशन पर पधारिये"—लखनऊ से इस आशय का पत्र मुझे बन्धुवर अग्रवाल जी ने भेजा था। मैं स्टेशन पर हाजिर हुआ। अपने गुरु श्री राधामुकुद मुकर्जी के साथ अग्रवाल जी सेकण्ड क्लास के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे। यह थे अग्रवाल जी के प्रथम दर्शन, वैसे मेरा उनका पत्र-व्यवहार बहुत पहले से होता रहा था।

कोई दो घंटे तक मेरी उनकी बातचीत भिन्न-भिन्न विषयों पर होती रही। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज ने मेरे आग्रह पर चार छोटे-छोटे संस्मरणात्मक लेख अपनी पूज्य माता जी के विषय में लिखे थे। मैंने वे लेख अग्रवाल जी को पढ़ने के लिए दिए और वे बड़ी तन्मयता के साथ उन्हें पढ़ने लगे। उस समय उनके नेत्र सजल थे। पढ़ चुकने के बाद अग्रवाल जी ने मुझसे कहा—"आपके पास तो दीनबन्धु ऐण्ड्रूज के बहुत-से पत्र होंगे। कुछ दूसरों से भी मँगाइए और उन सबको पुस्तकाकार में छपा दीजिए। बड़ी महत्वपूर्ण चीज बन जाएगी। आपने मेरी चिट्ठियों को तो छपा दिया है, पर उससे पूर्व दीनबन्धु के पत्रों को प्रकाशित करना था।"

फिर जनपदीय आन्दोलन की चर्चा हुई, जिसके कि वह स्वयं प्रवर्तक थे। इतने में राजामण्डी स्टेशन आ गया और मैं उतर पड़ा। अग्रवाल जी भी जल्दी से उतरे और उन्होंने स्टेशन की एक दुकान पर से दो-तीन रुपयों की पेठे की मिठाई लेकर मेरी खुर्जी में डाल दी। मैंने कहा—"देखिये, आप फौजदारी कराएँगे—मथुरा के श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी में और मुझमें। आप तो उनके यजमान होंगे!"

अग्रवाल जी हँसकर बोले—"आप निश्चिन्त रहें, मैं दोनों चौबों का यजमान बना रहूंगा।"

यह बात उन्होंने आज से २३-२४ वर्ष पहले यों ही मजाक में कही थी। परन्तु उन्होंने उसे जीवन-भर निबाहा।

वह अनहोना अनुभव

अग्रवाल जी बड़े श्रद्धालु व्यक्ति थे और दूसरों के गुणों को ही देखने का उनका स्वभाव था। "परगुणपरमाणुन् पर्वतीकृत्य नित्यं निज हृद विकसन्तः सन्ति सन्ताः कियन्ता"—यह कथन उन पर चरितार्थ होता था।

जनपदीय आन्दोलन के प्रसंग में मेरे द्वारा जो उनकी यत्किंचित् सेवा बन पड़ी थी, उसका उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने वैशाख पूर्णिमा सम्वत् २००० वि० (सन् १९४३ ई०) के पत्र में लिखा था—

"आपने जिस ढंग से मेरे पत्र को अपना बहुमूल्य समय देकर उसे महत्व दिया है, वह मेरे लिए अनहोना अनुभव है। अब तक सन् १९२० से २३ वर्ष लिखते हो गए, ऐसा सम्पादकीय उछाल कहीं से नहीं प्राप्त हुआ। सिवा द्विवेदी जी के एक पत्र के, जो उन्होंने सन् १९२८ में माधुरी में प्रकाशित मेरे लेख 'उपाध्याय जी और अद्वैतवाद' को पढ़कर मुझे लिखा था। वह अवश्य मेरे साहित्यिक कार्य का पहला प्रमाणपत्र था और आज भी मेरे पास सुरक्षित है। फिर तो द्विवेदी जी के साथ पत्र-व्यवहार में कई मीठे प्रसंग आए।"

वासुदेवशरण जी का यह स्वभाव-सा बन गया था कि अपने द्वारा किए गए कार्य का श्रेय भी दूसरों को दे देते थे। २२–११–४३ के अपने पत्र में उन्होंने मेरे सहायक श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी को लिखा था—

"मधुकर का जनपद-अंक निकालने के विचार का हार्दिक अभिनन्दन! यह एकदम मौलिक और सामयिक सुझाव है। जनपद-कल्याण की भावना को साहित्य के क्षेत्र में आन्दोलन अर्थात् जन-प्रवृत्तियों के रूप में प्रचारित करने का श्रेय एकमात्र मधुकर पत्र और उसके प्राण बनारसीदास चतुर्वेदी को है। मेरा इस प्रकार का चिन्तन अधिकांश में उन्हीं के श्रद्धामय दोहन का परिणाम है।"

अपनी रूस-यात्रा से पहले मैंने अग्रवाल जी से प्रार्थना की थी कि वह अपनी विस्तृत साहित्य-साधना का वृत्तान्त हिन्दी पाठकों के लिए लिख दें। वह बड़े संकोचशील थे—अपने बारे में लिखना पसन्द नहीं करते थे, फिर भी उन्होंने दो लम्बे पत्र मुझे रूस भेजे। अपने ९–६–६६ के द्वितीय पत्र में उन्होंने लिखा था—

"पहला पत्र अभी लिखकर इच्छा हुई कि दूसरे पत्र में भी अपनी जीवन-कहानी कहता जाऊँ। ऐसा सुखकर न्योता अभी तक किसी ने नहीं दिया था। पर मैं आपका यजमान हूं, इसलिए पूरी मात्रा में ब्रह्मभोज कराने से ही आप छकेंगे।"

अपने स्वर्गवास के ढाई महीने पूर्व लिखे गए अग्रवाल जी के उन पत्रों का ऐतिहासिक महत्व हो गया है।* खेद की बात है कि वह विस्तृत आत्मचरित नहीं लिख सके। हिन्दी पत्र-सम्पादकों की यह त्रुटि है कि वे लेखकों तथा कवियों के निजी जीवन में कोई रुचि नहीं रखते। आचार्य द्विवेदी जी, पंडित पद्मसिंह जी तथा शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी की परम्परा कभी की खत्म हो चुकी है।

हिन्दी-जगत् की त्रिमूर्ति

अग्रवाल जी के सम्पर्क में आने पर मैं उनका भक्त बन गया। १७ दिसम्बर, १९५१ ई०, की 'विन्ध्यवाणी' में मैंने एक लेख लिखा था—'त्रिमूर्ति :: राहुल, द्विवेदी, अग्रवाल' और उसमें मैंने इन तीनों विद्वानों की वन्दना की थी। 'दीन क्या है, किसी कामिल की इबादत करना'——धर्म की जितनी भी परिभाषाएँ हमारे सुनने में आई हैं, उनमें चकबस्त की यह परिभाषा हमें अपने क्षुद्र साहित्यिक जीवन के लिए सर्वोत्तम जँचती है। अपनी श्रद्धा के पुष्प हमने अनेक त्रिमूर्तियों के चरणों में अर्पित किए हैं। कभी वह त्रिमूर्ति बापू, गुरुदेव और दीनबन्धु (गांधी, रवीन्द्र, ऐन्ड्रूज) के रूप में प्रकट हुई है, तो कभी रामानन्द, चिन्तामणि, गणेश के रूप में। कभी वह गोर्की, रोला, ज्विग की आत्माओं में अवतरित हुई है, तो कभी एमर्सन, थोरो और ह्विटमेन की शक्ल में, और कभी हमने महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह और सत्यनारायण की मूर्तियों में उसे पूजा है। अपनी श्रद्धा अर्पित करने के लिए हमें अनेक व्यक्ति चाहिएँ। यदि कोई हमसे पूछे कि वर्तमान हिन्दी-जगत् में हम किस त्रिमूर्ति के पुजारी हैं, तो बिना किसी हिचकिचाहट के हम तुरन्त ही यह उत्तर देंगे——'राहुल, द्विवेदी, अग्रवाल के।'

अग्रवाल जी के विषय में हमने इसी लेख में लिखा था——"अग्रवाल जी हमारे यजमान हैं और हमारा कोई भी सजातीय (चौबे) ऐसे यजमान की प्राप्ति पर ईर्ष्या कर सकता है। अग्रवाल जी सम्भाषण-कला में तो निपुण हैं ही, पत्र-लेखन-कला में भी अपना सानी नहीं रखते। वस्तुतः देखा जाय, तो मूल में दोनों कलाएँ एक ही हैं। अनेक बार उनसे बातचीत करके जब हम लौटे हैं, तब हमें ऐसा प्रतीत हुआ है कि शीतल मन्द सुगन्ध साहित्यिक समीर के झोंके से हमारे हृदय की कली खिल गई है।"

---

*उक्त दोनों पत्र इस ग्रंथ में अन्यत्र प्रकाशित हैं— सं०।

साहित्यिक सगाई

साहित्यिक सगाई कराना हमारा एक व्यसन रहा है और इन सगाइयों में मौलवी अब्दुल हक साहब तथा वासुदेवशरण अग्रवाल के मिलन को हम बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। जब अग्रवाल जी को पता चला कि मैं मौलवी साहब को उनके कार्यालय पर लाना चाहता हूं, तब उन्होंने तुरन्त ही फोन पर मुझसे कहा—"यह क्या उल्टी बात आप कर रहे हैं! मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उनकी सेवा में उपस्थित होऊँ। मुझे ही उनके यहाँ आने दीजिए।" पर मौलवी साहब ने खुद ही चलने की जिद की, इसलिए उनकी आज्ञा माननी पड़ी। एक-एक शब्द के लिए पागल अक्षर-ब्रह्म के इन दोनों उपासकों के बीच जो बातचीत उस दिन हुई, वह मैंने ध्यानपूर्वक नहीं सुनी, क्योंकि मेरा सम्पूर्ण ध्यान सरस्वती के इन दो उपासकों के मुखमण्डल देखने में ही लगा रहा। उर्दू तथा हिन्दी-जगत् के दो सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का यह मिलन था। यह बात मुझे तभी मालूम हुई कि अग्रवाल जी मौलवी साहब की एक पुस्तक की आलोचना किसी पत्र में कर चुके थे।

मेरी प्रार्थना पर अग्रवाल जी कुण्डेश्वर पधारे थे और वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गए थे। वहाँ 'जमाडार' नदी के जलप्रपात का नाम उन्होंने 'षड़ानन' रख दिया था, क्योंकि छः बड़े-बड़े छिद्रों से उसका जल गिरता था और वह स्थल शिवजी के प्राचीन मन्दिर के नीचे भी था। मधुकर (अक्तूबर, १९४४) के लिए भी उन्होंने एक गद्य-काव्य 'कुण्डेश्वर के निर्झर-प्रपात पर' लिख भेजा था। उस समय उन्हें निकट से देखने का अवसर मुझे मिला था। वह अपनी समस्त मानसिक शक्ति को केन्द्रित करके उपस्थित विषय पर लगा देते थे और इसी में उनकी सफलता का रहस्य था। किसी की निन्दा या आलोचना में उनकी रुचि नहीं थी। वह शिष्टाचारवश उसे सुन भले ही लें, पर चुप रह जाते थे। मौन ही उनका उत्तर था।

पत्र-लेखक के रूप में

चूँकि हमें स्वयं अपना बहुत-सा समय पत्र-व्यवहार में व्यय करना पड़ता है, इसलिए हम अनुमान लगा सकते हैं कि बन्धुवर अग्रवाल जी को अपना कितना कीमती समय इस काम में खर्च करना पड़ा होगा। एक चिट्ठी में उन्होंने मुझे लिखा था कि रात के तीन बजे तक वह चिट्ठियाँ लिखते रहे थे। जब दर्शनार्थ गया, तब वहाँ मुझे श्री राय कृष्णदास के सुपुत्र ने बतलाया कि पत्रों के उत्तर देने के लिए अग्रवाल जी को कभी-कभी तीन-तीन दिन का उपवास करना पड़ता है!

यह जान लेने के बाद मैंने अग्रवाल जी को पत्र भेजना बन्द ही कर दिया था। मेरे पास उनके एक सौ से ऊपर पत्र सुरक्षित हैं।

तन्मयता

जिस काम में लगे हों, उसकी ओर पूरा-पूरा ध्यान देना—यही अग्रवाल जी का सबसे बड़ा गुण था। प्रत्येक स्थान, प्रत्येक यात्रा और प्रत्येक पुस्तक या लेख से पूरा-पूरा रस लेने की कला में वह निपुण थे। इसी कारण उनके पत्रों में अद्भुत नवीनता और ताजगी पाई जाती है और साहित्यिक दृष्टि से भी वे महत्वपूर्ण हैं। उनके कई पत्र तो इतने स्थाई महत्व के हैं कि उन्हें लेख की शक्ल मे छापा जा सकता है।

जब मैंने आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का संग्रह अग्रवाल जी की सेवा में भेजा था, तब उन्होंने श्रावणी (१९५६) के पत्र में मुझे लिखा था—" 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' की प्रति हजारीप्रसाद के हस्त मिली। आपकी भूमिका पढ़कर मैं छटपटा गया कि इस युग में जन्म लेकर भी पं० पद्मसिंह जी से क्यों नहीं मिला। ऐसे साहित्य-धनी व्यक्ति की स्मृति से जब-तब मन ताजा हो जाता। अस्तु, मुझे तो डाक का रोग है। पत्रों से रस चूसता हूं। मेरी समझ में किसी व्यक्ति की भारी-भरकम साहित्यिक कृति आँधी के समान है। उसके साहित्यिक पत्र उन झोकों के समान हैं, जो धीरे से आते-जाते रहते हैं और थोड़ी मात्रा साथ लाने पर भी साँस बनकर जीवन देते हैं। अन्न की उत्पत्ति और मेघों की वृष्टि के लिए अंधड़ भी चाहिए। पर मन्द वायु में जो फरहरी है, उसका भी कुछ अनूठा आनन्द है। आपने तो पत्रों का एक क्षेत्र ही साहित्यिक जगत् के समक्ष रख दिया है। जिस भवन की आधार-शिला आपके द्वारा इस उत्साह और सजधज से रखी गई है, वह चिरस्थाई हो।"

उनके पत्रों का संग्रह प्रकाशित हो

स्वयं अग्रवाल जी के सैकड़ों ही पत्र इधर-उधर बिखरे पड़े हैं और यदि उनका संग्रह अभी न कर लिया गया, तो वे सब नष्ट हो जाएँगे। डॉ० सत्येन्द्र ने हमें बतलाया था कि उनके पास अग्रवाल जी के बहुत-से पत्र हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, डॉ० मोतीचन्द, राय कृष्णदास, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, श्री कृष्णानन्द गुप्त, सस्ता साहित्य मण्डल और श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार के यहाँ भी उनके पत्र होंगे। क्या ही अच्छा हो, यदि उनका संग्रह प्रकाशित कर दिया जाए। बड़ा अच्छा हो कि बन्धुवर हजारीप्रसाद जी इस काम के लिए अपना कुछ समय निकाल सकें।

साहित्यिक श्राद्ध हो

जिस व्यक्ति ने दूसरों की कीर्ति-रक्षा के लिए जीवन भर प्रयत्न किया हो, क्या उसकी स्मृति में हम एक ग्रन्थ भी नहीं निकाल सकते ? अग्रवाल जी ने 'प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण-अभिनन्दन-ग्रन्थ' और नागरी प्रचारणी सभा (काशी) के 'विक्रमांक' के लिए अपना पूरा-पूरा समय दिय ... ीं ।

क्य ... ल जी के अधूरे काम को ...

अपभ्रंश संस्कृत
शिब्बा – शिवदत्त   पृ० ७२
कलुआ – कल्याणचन्द्र
नानक – ज्ञानदत्त

सूतना – स्वाधीन > ...   पृ० ६९
सोहर – सूतिकागृह   "
चमका – पृथ्वी को जोड़ कर (बनाया) जाता है, संस्कृत में इसे नौमें कहते हैं (दुआली)

... की उपेक्षा

अ ... के प्रति उनकी उपेक्षा थी ... वास्थ्य के जिन नियमों ... रते रहे ।

अ ...

" ... त मास मनाई गई । क ... शिखर पर पहुंचे देखकर ... आपको ७५ तक तो मिलो ... जीवन' उस अवसर पर ...

मैं ... , पर अभी मन होता है ... चमुच कुछ काम निपटाने ...

हि ... देवशरण जी की कम से कम ७५ वर्ष तक जाने की आकांक्षा पूर्ण न हुई और मेरा भी यह दुर्भाग्य है कि अपने ७५वें वर्ष में मुझे अपने एक अनुज तथा यजमान के विछोह पर ये पंक्तियाँ लिखनी पड़ी हैं ।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभारपूर्वक)

यह जान लेने के बाद मैंने अग्रवाल जी को पत्र भेजना बन्द ही कर दिया था। मेरे पास उनके एक सौ से ऊपर पत्र सुरक्षित हैं।

तन्मयता

जिस काम में लगे हों, उसकी ओर पूरा-पूरा ध्यान देना—यही अग्रवाल जी
का सबसे बड़ा गुण … या लेख
से पूरा-पूरा रस … पत्रों में
अद्भुत नवीनता … भी वे
महत्वपूर्ण हैं। उ … ी शक्ल
में छापा जा सक …

जब मैंने अ … की सेवा
में भेजा था, तब … 'पद्मसिंह
शर्मा के पत्र' की … ढ़कर मैं
छटपटा गया कि … मिला।
ऐसे साहित्य-धर्न … स्तु, मुझे
तो डाक का रो … यक्ति की
भारी-भरकम सा … उन झोंकों
के समान हैं, ज … ने पर भी
साँस बनकर ज … लिए अंधड़
भी चाहिए। … ानन्द है।
आपने तो पत्रों … है। जिस
भवन की आधा … ाई है, वह
चिरस्थाई हो।

उनके पत्रों का संग्रह प्रकाशित हो

स्वयं अग्रवाल जी के सैकड़ों ही पत्र इधर-उधर बिखरे पड़े हैं और यदि उनका संग्रह अभी न कर लिया गया, तो वे सब नष्ट हो जाएँगे। डॉ० सत्येन्द्र ने हमें बतलाया था कि उनके पास अग्रवाल जी के बहुत-से पत्र हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, डॉ० मोतीचन्द, राय कृष्णदास, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, श्री कृष्णानन्द गुप्त, सस्ता साहित्य मण्डल और श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार के यहाँ भी उनके पत्र होंगे। क्या ही अच्छा हो, यदि उनका संग्रह प्रकाशित कर दिया जाए। बड़ा अच्छा हो कि बन्धुवर हजारीप्रसाद जी इस काम के लिए अपना कुछ समय निकाल सकें।

साहित्यिक श्राद्ध हो

जिस व्यक्ति ने दूसरों की कीर्ति-रक्षा के लिए जीवन भर प्रयत्न किया हो, क्या उसकी स्मृति में हम एक ग्रन्थ भी नहीं निकाल सकते ? अग्रवाल जी ने 'प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ', 'राष्ट्रकवि मैथिलीशरण-अभिनन्दन-ग्रन्थ' और नागरी प्रचारणी सभा (काशी) के 'विक्रमांक' के लिए अपना पूरा-पूरा समय दिया था। भूमिकाएँ तो उन्हें कई पुस्तकों की लिखनी पड़ीं।

क्या हिन्दी-जगत् में ऐसे कोई विद्वान् नहीं हैं, जो अग्रवाल जी के अधूरे काम को पूरा कर दें ?

स्वास्थ्य की उपेक्षा

अग्रवाल जी की एकमात्र त्रुटि, जो मुझे दीख पड़ी, स्वास्थ्य के प्रति उनकी उपेक्षा थी। वह दीर्घजीवी बनना चाहते थे, पर उसके लिए स्वास्थ्य के जिन नियमों का पालन करना आवश्यक है, उनका वह उल्लंघन ही करते रहे।

अपने ६–२–५२ के कृपापत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

" 'नया जीवन' मैं पढ़ रहा हूं, आपकी साठवीं वर्षगाँठ गत मास मनाई गई। कहा है 'साठा सो पाठा'। इस प्रकार आपको यौवन के शिखर पर पहुंचे देखकर बधाई भेजता हूं। चरक के अनुसार 'आसप्ततेः यौवनम्'। आपको ७५ तक तो मित्रों को आनन्दी बनाने के लिए जीना ही है। क्योंकि 'नया जीवन' उस अवसर पर विशेषांक निकालकर आपको बधाई देगा।

मैं भी आपके साथ लगा हूं, केवल बारह बसन्त कम देखे हैं, पर अभी मन होता है साहित्य-सिन्धु को मथ डालूँ। ७५ वर्ष तक जीने में सचमुच कुछ काम निपटाने का आनन्द रहेगा। अभी तो आरम्भ है।"

हिन्दी संसार के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि वासुदेवशरण जी की कम से कम ७५ वर्ष तक जीने की आकांक्षा पूर्ण न हुई और मेरा भी यह दुर्भाग्य है कि अपने ७५वें वर्ष में मुझे अपने एक अनुज तथा यजमान के विछोह पर ये पंक्तियाँ लिखनी पड़ी हैं।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभारपूर्वक)

वेदार्थ-परम्परा को वासुदेवशरण अग्रवाल की देन

डॉ० बद्रीप्रसाद पंचोली

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल वेद से लेकर गांधी तक की सम्पूर्ण चिन्तन-परम्परा को अखण्ड भारतीय संस्कृति के रूप में देखनेवाले महान् मनीषी थे। वेद और लोक का समन्वय उनके चिन्तन और अध्ययन का मुख्य आधार है। चाहे कला का विश्लेषण हो या पुराण, हर्षचरित, कादम्बरी, पदमावत आदि का सांस्कृतिक अध्ययन--वे इसी सूत्र को लेकर चले हैं। उनकी मान्यता है कि यदि सांस्कृतिक क्षेत्र में कहीं भी कोई सुन्दर वस्तु दिखाई पड़ती है, तो वह पुष्प के समान है और उसके माध्यम से भारतीय संस्कृति के विशाल वृक्ष का सौंदर्य खोजने और देखने के लिए प्रवृत्त होना चाहिए।

अपनी वेदाध्ययन की प्रवृत्ति के विषय में श्री अग्रवाल ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम लिखे गए अपने ९-६-१९६६ के पत्र में लिखा है कि "वैदिक साहित्य की ओर मेरा मन सन् '२० से ही खिंचता था। पर विशेष खिंचाव पिछले सात वर्षों में हुआ है। जब से मैंने दीर्घतमस् ऋषि के अस्यवामीय सूक्त की व्याख्या लिखी, तब से मेरा विश्वास हो गया है कि वेदविद्या सृष्टिविद्या है और उसके सदृश ऊँची अन्य कोई विद्या नहीं है। प्राणविद्या या जीवनीशक्ति की विद्या ही वेदविद्या है।"

वेदविषयक उनकी कृतियाँ निम्नलिखित हैं :

व्याख्यापरक ग्रन्थ--१. Vision in Long Darkness; २. Hymn of Creation; ३. छन्दस्वती वाक्।

वेदविषयक निबन्ध-संग्रह--१. उरुज्योति; २. वेदविद्या; ३. Sparks from the Vedic Fire; ४. वेदरश्मि; ५. Vedic Lectures।

इनके अतिरिक्त, श्री अग्रवाल ने कई ग्रन्थों की भूमिकाओं और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में भी वेदविषयक अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है। वेदार्थ-परम्परा में वह अपने गुरु श्री पं० मधुसूदन ओझा और श्री पं० मोतीलाल शर्मा के अनुगामी रहे हैं। श्री ओझा ने पहली बार वेद के विषय में पुरातनकाल में प्रचलित, किन्तु कर्मकाण्डपरक वेदार्थ-परम्परा से आक्रान्त होने से कालकवलित हुई, सृष्टिविज्ञानपरक दृष्टि का उद्धार किया था। श्री अग्रवाल ने उसी दृष्टि को अपनी विशद मेधा से हिन्दी और अंग्रेजी में सुबोध बनाकर प्रस्तुत किया। उनका ऋग्वेद पर भाष्य लिखने का भी संकल्प था, जो पूरा न हो सका। फिर भी वह कुछ सूक्तों पर व्याख्या करके इस दिशा में मार्ग प्रशस्त कर गए हैं।

वेद की भाषा को श्री अग्रवाल प्रतीक-भाषा मानते हैं। 'जर्नल ऑफ इंडियन हिस्ट्री' (Vol. XLI, Aug. 1963) में वैदिक प्रतीकवाद पर एक लेख में उन्होंने लिखा था कि (वेद में) 'प्रतीकों की भाषा इसलिए ग्राह्य रही है, क्योंकि एक तो वह अर्थ की अधिक गहराई तक प्रतीति करा देती है और दूसरे, प्रतीक दिक्कालानुसार परिवर्तित नहीं होते।' इसीलिए उन्होंने ऋग्वेद की भाषा को प्रतीक-ध्वनियों की भाषा माना है, 'जो प्राण, मन और वाक् को सम स्तर पर व्यंजित करती हुई रहस्यात्मक सृष्टिप्रक्रिया को स्पष्ट करती है।' सूर्यचन्द्रादि, उनके अनुसार, 'प्रकृति की अविनश्वर भाषा के अंग हैं। ये कभी परिवर्तित नहीं होते। ऋषियों ने प्रकृति की इस भाषा को पढ़कर अन्यों के लिए उसे प्रतीकात्मक बोध का साधन बनाया।' 'प्रत्येक प्रतीक शाश्वत भाषा के प्रतिनिधि हैं। वे अनादिकाल से हमारे बीच में रहे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।' इस प्रकार, वैदिक व्याख्या का द्वार अपावृत करनेवाला साधन प्रतीकात्मकता पर आधारित दृष्टिकोण है।

प्रतीकात्मक दृष्टि से श्री अग्रवाल ने वेद के सैकड़ों शब्दों का अर्थसंधान किया है। उनका यह कार्य उन्हें महान् भाषाशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित करता है। 'एक-एक वाक्य, पदबंध और शब्द में प्रविष्ट होकर उसके प्रकट अर्थ और उसमें निहित गूढ़ अर्थ को अवगत करने की' उनकी प्रवृत्ति ने उन्हें वेदव्याख्या के क्षेत्र में जिस स्पष्ट दृष्टि से समुपेत किया, उसने वेदाध्येताओं का बड़ा उपकार किया है। 'कादम्बरी' आदि के सांस्कृतिक अध्ययन में भी उनकी यही प्रवृत्ति रही है। अर्थसंधान की इस दृष्टि का सीधा फल वैदिक शब्द-समीकरणों का समाधान खोजने के रूप में प्रकट हुआ। अब तक अध्येता वैदिक चिन्तन की परम्परा को ब्राह्मणों व उपनिषदों की चिन्तनपरम्परा से भिन्न मानते थे। परन्तु शब्द-समीकरणों के समाधान की प्रवृत्ति ने अध्ययन की इस असंगति को समाप्त कर दिया। श्री अग्रवाल ने स्वयं कहा है कि 'वेदार्थ के सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण परम्परागत

ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों की शैली का अनुयायी है।' श्री अग्रवाल की यह दृष्टि पश्चिमी विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की वेदाध्ययन-दृष्टि को नया मोड़ देने में सफल हुई है। यही नहीं, उनकी इस समन्वयात्मक दृष्टि ने जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि तथाकथित अवैदिक परम्पराओं से वैदिक परम्परा के साथ अलगाव की प्रतीति को भी समाप्त कर दिया है। अखण्ड भारतीय संस्कृति के स्वरूप का परिचय करानेवाले महान् चिन्तक और द्रष्टा के रूप में श्री अग्रवाल का नाम अमर रहेगा।

श्री अग्रवाल के अनुसार वेदविद्या में अनेक विद्याएँ समाई हुई हैं; यथा, देव-विद्या, लोकविद्या, प्राणविद्या, यज्ञविद्या, विराज्-विद्या, मधुविद्या, त्रयीविद्या, हृदय-विद्या, छन्दोविद्या, पुरुषविद्या, अश्वत्थविद्या, अग्निविद्या, अदितिविद्या, इन्द्रविद्या, परमेष्ठिविद्या, पंचचितिविद्या, मनुविद्या, संवत्सरविद्या, आदि। इन विद्याओं की कल्पना वेदमन्त्रों में आई हुई परिभाषाओं को लेकर की गई है। वेदविद्या को प्रजापतिविद्या भी कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण चराचरसृष्टि का आधार प्रजापति को माना गया है। चतुष्पाद्ब्रह्म के रूप में वह सृष्टि का आधार बनता है। उसके चार पाद हैं--अव्यक्त ब्रह्म, अव्यय ब्रह्म, अक्षर ब्रह्म और क्षर ब्रह्म। प्रजापति के अव्यक्त रूप के गर्भ, गुहा, हृदय, नाभि, उक्थ, केन्द्र, एकः, कः, अग्र, अनिरुक्त, अमूर्त, अमृत, परोक्ष, ऊर्ध्व, संप्रश्न, असौ, तत्, तूष्णीम्, उपांशु, देव, अन्नाद आदि पारिभाषिक नाम वेदमन्त्रों में आए हैं। अव्ययपुरुष के अज, प्रज्ञान, आलंबन, अधिष्ठान, मन आदि; अक्षरपुरुष के रज, प्राण, ग्रभण, निमित्तकारण आदि तथा क्षरपुरुष के वाक्, उपादान, आरंभण, भूत आदि पारिभाषिक नाम प्रयुक्त हुए हैं। अव्यक्त-प्रजापति से अव्यय-अक्षर-क्षरमयी व्यक्त सृष्टि होती है, जिसे इदं सर्वम्, विश्वम्, भुवनम्, निरुक्त, स्थूल, मूर्त, मर्त्य, प्रत्यक्ष, अधः, अदः, एतत्, वाक्, भूत, अन्न, महिमा आदि पारि-भाषिक नामों से जाना गया है। पृथक्-पृथक् प्रतीकों के माध्यम से सृष्टि के इसी रूप को पृथक्-पृथक् दृष्टियों से व्यक्त किया गया है। परन्तु सबके मूल में प्रजापति ही बीजप्रद पिता है और अदिति आदि नामों से जानी जानेवाली प्रकृति ही माता है। इन दोनों को अग्नि और सोम (आपः) भी कहा गया है। प्रजापति ही यज्ञ और संवत्सर (काल) बनता है। श्री अग्रवाल ने इन सभी विद्याओं की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत दिए हैं।

श्री अग्रवाल के अनुसार वेदमन्त्रों की ये परिभाषाएँ सारे भारतीय साहित्य में खोजी जा सकती हैं और इनका प्रभाव कलाओं पर भी देखा जा सकता है। साधारण-सी प्रेमकथा को भी वेदविद्या किस सीमा तक प्रभावित कर सकती है--यह बात 'कादम्बरी' में देखी जा सकती है। श्री अग्रवाल ने उसके प्रतीकात्मक अर्थ

की कल्पना निराधार नहीं की है। पुराण और इतिहास के द्वारा वेदों का उपबृंहण करने की बात कही जाती है। परन्तु श्री अग्रवाल के अनुसार तो सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और कलाओं की परम्पराओं में वैदिक दृष्टिकोण ही उभरकर प्रकट हुआ है। जनपदीय संस्कृति के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से ज्ञानविज्ञान की सभी भारतीय परम्पराओं का मधुमय उत्स, श्री अग्रवाल के अनुसार, वेद है।

श्री अग्रवाल द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए समस्त भारतीय साहित्य का अध्ययन व पुनरीक्षण करने की अतीव आवश्यकता है। वेदार्थ-परम्परा को नई दृष्टि देकर इस क्षेत्र में उन्होंने युगप्रवर्तक का कार्य किया है। उनकी दृष्टि से अध्ययन करने पर वैदिक व दार्शनिक जगत् की अनेक गुत्थियाँ सुलझेंगी; असंगतियाँ दूर होंगी—ऐसी आशा की जा सकती है।

('सविता' से साभार)

'उनके ज्ञान और सामर्थ्य को विशेष रूप से जगमगा देनेवाला तो उनका परम सात्विक शील है!'

'लखनऊ-म्यूजियम' में संगृहीत प्राचीन शिल्प का स्थान केवल मथुरा से दूसरे नम्बर पर है। इस म्यूजियम के लिए पुरानी नवाबी इमारतों का उपयोग बड़ा फबता है। आज तो इस म्यूजियम की संगृहीत सामग्री इतनी बढ़ चुकी है कि उसको दो शाखाओं में बाँट देना पड़ा है। इस संग्रहालय के प्रधान श्री वासुदेवशरण अग्रवाल पहले मथुरा-म्यूजियम के क्यूरेटर थे। आज का मथुरा-म्यूजियम का स्वरूप उन्हीं के हाथों निर्मित हुआ है। शिल्प के अलावा प्राचीन मुद्राओं की भी विशेष जानकारी रखनेवाले गिने-चुने मनीषियों में से एक वह हैं। परंतु उनके ज्ञान और सामर्थ्य को विशेष रूप से जगमगा देनेवाला तो उनका परम सात्विक शील है। इस शान्त, स्थिर नेत्रवाली दुबली-पतली मूर्ति से कहीं अकेले भेंट हो जाय, तो यह भान भी नहीं हो पाएगा कि वह एक राज्याधिकारी भी हैं! परंतु जब उनकी बातचीत का प्रवाह आरंभ होता है, तो कुछ ही समय में विविध विषयों पर अपनी शृंखलाबद्ध ज्ञानराशि का रसास्वादन कराकर वह मंत्रमुग्ध कर देते हैं।"—सन् १९४१ ई० में भारत के कला-संस्कृति-केन्द्रों की अपनी 'संस्कार-यात्रा' के दौरान लखनऊ-आगमन पर, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल से अपनी प्रथम भेंट का, गुजरात के कलागुरु श्री रविशंकर रावल द्वारा 'कुमार' मासिक पत्र में प्रत्यांकित विवरण।

वह एक साथ कई-कई ग्रन्थ बोलकर लिखाते

श्री राय कृष्णदास

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल अतुल्य विद्वान् हुए। यदि उनकी तुलना किसी से की जा सकती है तो कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य से। वह पारस पत्थर थे। उन्होंने जो लोहा छुआ, वह सोना हो गया।

लोक-संस्कृति से लेकर वेदरहस्य तक कोई विषय उनके लिए गहन न था। कार्य करने की वह शक्ति कि दिन-रात यदि चौबीस घंटे का है, तो उनका कार्य-काल पच्चीस घंटे का। उनके कोई काम उधार नहीं रहते थे। जिस प्रकार वह उधार सौदा लेना दुष्कृत मानते थे, उसी प्रकार काम को उधार रखना भी। जो काम सामने आया, उसे वह तुरन्त निबटाकर उऋण हो जाते।

वह सब कुछ थे––भाष्यकार, टीकाकार, अन्वेषक, मुद्राशास्त्रज्ञ, दार्शनिक, वेदविद्, शब्दशास्त्री, जनपदीय संस्कृति के विवेचक, मूर्तिशास्त्रज्ञ, कलालोचक, पुरातत्ववेत्ता आदि। यह बहुत कम लोग जानते होंगे कि वह कवि और गल्पकार भी थे। जितना प्रेम संस्कृत से था, उससे कम उर्दू शायरी से नहीं। अकबर की शायरी के तो वह मखजन थे।

क्या हृदय उन्होंने पाया था! जान्हवी के समान पवित्र, निर्मल और शीतल। जो उनके निकट आता उसे वह इस मनोजान्हवी से सिंचित करते रहते; आप्यायित करते रहते।

मैंने पहले-पहल एक कर्त्तव्यनिष्ठ स्वयंसेवक के रूप में उनका परिचय पाया, जब १९२५ ई० के अन्त में वह कानपुर-कांग्रेस की प्रदर्शनी में हिन्दू-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों वाले स्वयंसेवक-दल में गए थे। मैं प्रदर्शनी के चित्र-कला-विभाग

के चार्ज में था। कार्यवश बार-बार वहाँ जाना पड़ता था। वहाँ के सभी कर्मी पहचान गए थे; इसलिए बैंज या पास रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। किन्तु वासुदेव जी नए थे। उन्होंने मुझे दृढ़तापूर्वक रोक दिया। उनकी इस कर्त्तव्यनिष्ठा पर मैं रीझ गया। एक अधिकारी ने मेरा परिचय दिया, तभी मैं भीतर जा पाया।

वे रमणीय संध्यायें

इस श्रीगणेश के बाद कई वर्ष बीते। वह एक प्रभूत प्राच्यविद्याविशारद के रूप में निरन्तर आगे आ रहे थे। मथुरा-संग्रहालय के संग्रहाध्यक्ष हो गए थे। १९२९ ई० में मैंने उनसे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के लिए लेख माँगा और उन्होंने वहाँ की पौराणिक धर्मवाली एवं बौद्ध धर्मवाली मूर्तियों पर दो सचित्र तथा लम्बे लेख तैयार करके भेज दिए।

इस प्रकार यह सम्पर्क बढ़ते-बढ़ते, अगले वर्षों में, बन्धुत्व में परिणत हो गया। तब वासुदेव जी मथुरा-संग्रहालय से लखनऊ राजकीय संग्रहालय के अध्यक्ष होकर आ गए थे। ऐसा कोई महीना न जाता कि हम लोगों का एक सप्ताह संग न बीते। सन् १९४६ में वह दिल्ली आ गए। कितनी रमणीय वे संध्यायें बीतती थीं दिल्ली की––पुरातत्त्व-विभाग के विद्वान् पदाधिकारी, दिल्ली के साहित्यिक, बाहर से आए साहित्यिक, और भी विद्या-प्रेमी इष्ट-मित्रों का अच्छा जमावड़ा रहता उनके यहाँ। क्या-क्या खुश-गप्प होती, किन्तु उन सभी से विद्वत्ता की एक गूँज बनी रहती। जो लोग आते वे तबीयत की ताजगी के संग-संग कुछ-न कुछ नया ज्ञान भी लेकर जाते, साथ ही यह भावना भी कि कल पुनः इस मण्डली में आना चाहिए।

इसके बाद वासुदेव जी अपने गम्भीर अध्ययन में निमग्न हो जाते और ग्यारह बजे तक लगे रहते। साढ़े चार बजे प्रातः से पुनः वही क्रम, फिर घंटे-डेढ़ घंटे के मनन के उपरान्त वह टहलने जाते; आकर दुग्धपान करते और उसके बाद उनका पदाधिकारी-जीवन आरम्भ होता। यह पदाधिकार था––नवजात राष्ट्रीय संग्रहालय का संवर्धन। सच तो यह है कि राष्ट्रीय संग्रहालय को यदि वासुदेव जी न मिले होते तो वह राष्ट्रीय संग्रहालय न हो पाता!

जहाँ किसी महत्वपूर्ण वस्तु का पता लगा, किसी विक्रेता के पास हो, किसी छोटे संग्रहालय में हो, किसी राज-रियासत में हो, वासुदेव जी वहाँ पहुँच जाते और वह वस्तु प्राप्त करके ही चैन लेते। इस प्रकार उन्होंने मानो छू-मन्तर में राष्ट्रीय संग्रहालय का निर्माण कर डाला। और ऐसा निर्माण किया कि वह नित्य विकासशील है।

इसके उपरान्त १९५० ई० में स्व० गोविन्द मालवीय उन्हें हिन्दू-विश्वविद्यालय में खींच लाए, साथ ही उनके जीवन का क्रम एकदम बदल गया। वह एकदम अध्ययन-मनन और लेखन में गर्क हो गए और सामाजिक जीवन एवं पुनर्नवता की एकदम परिसमाप्ति हो गई। केवल जब स्व० राष्ट्रकवि मैथिलीशरण या डॉ० मोतीचन्द्र आते तब उतने दिनों पुरानी चहल-पहल अनुप्राणित हो उठती। अन्यथा वासुदेव जी, उनकी किताबें और उनके सामने बैठे हुए तीन-तीन, चार-चार अनुलेखक! वह शतावधानी थे। एक साथ कई-कई ग्रन्थ बोलकर लिखाते चलते।

इस प्रकार जहाँ एक ओर वह ज्ञान का अजस्र वितरण करने लगे, वहाँ उनके स्वास्थ्य में पोल पड़ने लगी। वह किसी की कुछ सुनने को तैयार न थे। उन्हें अपनी प्राचीन मान्यताओं पर इतनी आस्था थी कि विज्ञान की ओर भी वह ध्यान देने को तैयार न थे। इसका जो दुष्परिणाम हुआ, उस पर चौधार आँसू बहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहा है।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभारपूर्वक)

'आपका जीवन तो वेदविद्या के लिए हुआ है!'

'मुझे लगता है, आपका जीवन तो वेदविद्या के लिए हुआ है!'— इस युग के महान् वेदविज्ञानविद् स्व० पं० मधुसूदन ओझा द्वारा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के साथ अपनी एकमात्र भेंट के समय अभिव्यक्त आशीर्वादसूचक हृदयोद्गार।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और उनका जनपदीय आन्दोलन

श्री वृन्दावनदास

जिस काल में स्व० अग्रवाल जी मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय के अध्यक्ष थे, मैं और ज्यो० राधेश्याम जी उन्हीं दिनों आगरा से अपना अध्ययन समाप्त करके मथुरा आ गए थे। हम लोग लगभग नित्यप्रति अपने प्रातः-कालीन भ्रमण के मध्य अग्रवाल जी के निवास-स्थान पर पहुँचते और उनसे वार्ता-लाप का आनन्द उठाते। उनकी वह सौम्य मूर्ति आज भी हमारी आँखों के सामने नाच रही है! बहुधा हम उनके मेज पर लिफाफों का ढेर पाते और उन्हें एक प्रकार से साधनारत। वह अपने प्रातःकालीन कार्यक्रम में अपने साहित्यिक मित्रों को पत्र लिखा करते थे। लिफाफों की अधिक संख्या देखकर हम लोग आपस में कहते कि इतने पत्र तो अग्रवाल जी शायद रात्रि को तीन बजे से उठकर ही लिख पाये होंगे!

उनके पत्र क्या होते थे, इसे समझने की उस समय हमारी क्षमता न थी। उस समय उस पत्र-लेखन का महत्व हमारी समझ में नहीं आया था। यह तो हमने कई वर्ष बाद जाना कि अग्रवाल जी का एक-एक पत्र साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था, उसमें अपूर्व शोध-सामग्री निहित रहती। किसी पत्र में किसी लोकभाषा के शब्द की व्युत्पत्ति और उसके वैदिकी संस्कृत के किसी शब्द से सामं-जस्य, तो किसी में किसी वैदिक मन्त्र की व्याख्या। किसी में कोई वैदिक उपाख्यान, तो किसी में कोई लोककहानी। यह एक विचित्र संयोग था कि अग्रवाल जी एक तरफ लोकभाषा-साहित्य के मर्मज्ञ थे, तो दूसरी तरफ वैदिकी विद्या और वैदिक ज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित। उनका सम्पूर्ण जीवन लोकसाहित्य और वैदिक साहित्य के

मन्सवय को ही समर्पित रहा है। वह जनपदीय भाषाओं में प्रचलित अनेक शब्दों का बड़ी निष्ठा से संस्कृत शब्दों से सन्धान लगाते और उनके निष्कर्षों की अकाट्य उक्तियों का किसी के पास कोई उत्तर न था। उनके तथ्य सदैव प्रमाण और साक्ष्य से समन्वित होते थे।

उन्होंने जनपदीय आन्दोलन को हिन्दी के कार्यकर्त्ताओं तक पहुँचाने के लिए एक पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक था 'पृथिवीपुत्र'। श्रद्धेय पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी कहा करते हैं कि 'पृथिवीपुत्र' जनपदीय कार्यकर्त्ताओं की बाइबिल है। उन्होंने मुझे कई पत्रों में लिखा कि मैं 'पृथिवीपुत्र' की विस्तृत समीक्षा लिखूँ। डॉ० अग्रवाल की मान्यता थी कि लोकभाषाएँ साक्षात् कामधेनुएँ हैं, जिनके दोहन से हमारा निरुक्त समृद्ध बनेगा। वह कहते थे कि लोकभाषाएँ अमर वाणियाँ हैं, इनको समय की परिधि में बाँधना उचित नहीं, ये अनादिकाल से चली आती हैं।

लोकभाषाओं में निहित लोकविधान और संस्कृति के उद्गम को अग्रवाल जी वैदिक काल तक ले जाते हैं। अग्रवाल जी ने इस प्रकार भारतीय संस्कृति के शाश्वत स्वरूप का अमर सन्देश दिया है। उन्होंने लिखा है, "हमारा अनुमान है कि विविध क्षेत्रों में बिखरी हुई सामग्री किसी एक मूल स्रोत की ओर संकेत कर रही है और वह मूल स्रोत उस वैदिक युग तक जाता है, जब भारतीय लोकविधान और संस्कृति के बीजांकुर पहली बार प्रस्फुटित हुए और शनैः-शनैः उन्होंने भारतीय मानव की चेतना को सब क्षेत्रों में व्याप्त कर लिया। इसके लिए 'लोके वेदे च' यह सूत्र स्मरण रखना चाहिए। भारतीय साहित्य और भारतीय श्रुति दोनों धाराओं से लोकसाहित्य की सामग्री का अधिकाधिक मन्थन उचित है। यह मार्ग विशेष फल-सिद्धि तक ले जानेवाला है, जिसका लक्ष्य समन्वय, संप्रीति और समवाय के रूप में प्राप्त होगा।"

डॉ० अग्रवाल का मत था कि जनपदीय भाषाओं से लगभग ५० हजार शब्द ऐसे लिये जा सकते हैं, जिनके समावेश से हिन्दी के साहित्य की अपार वृद्धि हो सकती है और हिन्दी में अभिव्यक्ति को सरल, सुगम और समृद्ध बनाया जा सकता है। या तो हम उन जनपदीय शब्दों को जानते ही नहीं और अगर थोड़े बहुत शब्दों को जानते भी हैं, तो उन्हें गँवारू और महत्वहीन समझकर छोड़ देते हैं। हमारे साहित्यिकों की इस प्रवृत्ति ने हिन्दी का अहित ही किया है। यदि हम जनपदीय शब्दों का उचित प्रयोग करने लगें, तो हमारा भाषा-ज्ञान बढ़ेगा और हमारे भीतर शब्दों की संस्कृतमूलकता ढूँढने की जिज्ञासा जाग्रत होगी। हम यहाँ डॉ० अग्रवाल के समय-समय पर बताए हुए कुछ उन शब्दों का उल्लेख करेंगे, जो स्पष्ट रूप से अपनी उत्पत्ति के लिए संस्कृत की ओर संकेत कर रहे हैं। खेत काटने के लिए 'लावा'

ा है। गन्ना काटने के लिए 'कपटा' संस्कृत के
कुएँ की 'आन्हर' के लिए संस्कृत शब्द 'अंध्रि',
ीय शब्द 'ओसर' के लिए 'उपसर्या', बीज बोने
' आदि संस्कृत शब्द इतने प्रत्यक्ष रूप से उप-
आपत्ति ही नहीं हो सकती।

ी कि भारतीयों के नामों, तथा प्रत्येक गाँव,
ाषाशास्त्र से मिश्रित सामाजिक इतिहास का
तृत व्याख्या करके यह सिद्ध कर दिया कि
ाणचन्द्र का, 'नानक' ज्ञानदत्त का अपभ्रंश है।
कंठ से स्वीकार किया है। इसी प्रकार उन्होंने
ा, 'प्लक्ष' गाँव से पिलखुवा, 'गंधकुलिका' से
ी' से सिधौली, 'मिहिरकुलिका' या 'मिहिर
अग्रवाल ने ठीक ही लिखा था कि जनपदीय
ुहाविरों, कथाओं, कहानियों और गीतों से
् बना सकते हैं।

जनपदीय आन्दोलन के कर्णधार थे। उनको
सीदास जी चतुर्वेदी, डॉ० सत्येन्द्र, श्री देवेन्द्र
।

ं अग्रवाल जी वेदों पर अधिक काम कर रहे
...के माध्यम से वेदों के नवनीत को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। कदाचित् इस पीढ़ी में डॉ० अग्रवाल के सदृश कोई अन्य विद्वान् ऐसा न हुआ, जिसने वेदों की महत्ता और सार का इस प्रकार प्रस्तुतीकरण किया हो।

डॉ० अग्रवाल संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे। उनका संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन बड़ा गहन था। अपने इस ज्ञान के बलबूते पर वह हिन्दी-जगत् में जनपदीय आन्दोलन की जड़ें मजबूत बना सके। अपने इस आन्दोलन के समर्थन में उन्होंने जो तर्क दिए हैं अथवा जो मान्यतायें स्थापित की हैं, वे अकाट्य हैं।

डॉ० अग्रवाल की मान्यता थी कि देश की मौलिक एकता जनपदीय अध्ययन द्वारा और भी पुष्ट हो सकती है। अन्त में हम जनपदीय अध्ययन के महत्व पर उन्हीं की पंक्तियों को उद्धृत कर इस लेख को समाप्त करना चाहते हैं। "किस प्रकार एक ही महान् विस्तार के अन्तर्गत हमारा समाज युग-युगों से अपना शान्तिमय जीवन व्यतीत करता रहा है, किस प्रकार उसकी आध्यात्मिक और मानसिक प्रेरणाओं में सर्वत्र एक-सी मौलिक पद्धति है, किस प्रकार एक ही संस्कृत भाषा के

मन्सवय को ही समर्पित रहा है। ... ों का
बड़ी निष्ठा से संस्कृत शब्दों से ... काट्य
उक्तियों का किसी के पास कोई ... साक्ष्य
से समन्वित होते थे।

उन्होंने जनपदीय आन्दोल... के लिए
एक पुस्तक लिखी, जिसका शीर्ष... ास जी
चतुर्वेदी कहा करते हैं कि 'पृथि... ल है।
उन्होंने मुझे कई पत्रों में लिखा कि... । डॉ०
अग्रवाल की मान्यता थी कि लो... ोहन से
हमारा निरुक्त समृद्ध बनेगा। वह ... हैं, इनको
समय की परिधि में बाँधना उचि... ।

लोकभाषाओं में निहित ... अग्रवाल
जी वैदिक काल तक ले जाते हैं ... कृति के
शाश्वत स्वरूप का अमर सन्देश ... ुमान है
कि विविध क्षेत्रों में बिखरी हुई ... केत कर
रही है और वह मूल स्रोत उस ... कविधान
और संस्कृति के बीजांकुर पहली ... भारतीय
मानव की चेतना को सब क्षेत्रों ... वेदे च'
यह सूत्र स्मरण रखना चाहिए। ... धाराओं
से लोकसाहित्य की सामग्री का अ... शेष फल-
सिद्धि तक ले जानेवाला है, जि... य के रूप
में प्राप्त होगा।"

डॉ० अग्रवाल का मत था कि जनपदीय भाषाओं से लगभग ५० हजार शब्द ऐसे लिये जा सकते हैं, जिनके समावेश से हिन्दी के साहित्य की अपार वृद्धि हो सकती है और हिन्दी में अभिव्यक्ति को सरल, सुगम और समृद्ध बनाया जा सकता है। या तो हम उन जनपदीय शब्दों को जानते ही नहीं और अगर थोड़े बहुत शब्दों को जानते भी हैं, तो उन्हें गँवारू और महत्वहीन समझकर छोड़ देते हैं। हमारे साहित्यिकों की इस प्रवृत्ति ने हिन्दी का अहित ही किया है। यदि हम जनपदीय शब्दों का उचित प्रयोग करने लगें, तो हमारा भाषा-ज्ञान बढ़ेगा और हमारे भीतर शब्दों की संस्कृतमूलकता ढूंढने की जिज्ञासा जाग्रत होगी। हम यहाँ डॉ० अग्रवाल के समय-समय पर बताए हुए कुछ उन शब्दों का उल्लेख करेंगे, जो स्पष्ट रूप से अपनी उत्पत्ति के लिए संस्कृत की ओर संकेत कर रहे हैं। खेत काटने के लिए 'लावा'

शब्द संस्कृत के 'लावक' का अपभ्रंश है। गन्ना काटने के लिए 'कपटा' संस्कृत के 'कल्पता' का बिगड़ा हुआ रूप है। कुएँ की 'आन्हर' के लिए संस्कृत शब्द 'अंध्रि', जवान बछिया के लिए प्रयुक्त जनपदीय शब्द 'ओसर' के लिए 'उपसर्या', बीज बोने के 'पवेड़ना' शब्द के लिए 'प्रवेरिता' आदि संस्कृत शब्द इतने प्रत्यक्ष रूप से उपयुक्त हैं कि इन पर किसी को कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती।

डॉ० अग्रवाल की मान्यता थी कि भारतीयों के नामों, तथा प्रत्येक गाँव, नगले और खेड़े के नाम के पीछे भाषाशास्त्र से मिश्रित सामाजिक इतिहास का कोई न कोई हेतु है। उन्होंने विस्तृत व्याख्या करके यह सिद्ध कर दिया कि 'सिब्बा' शिवदत्त का, 'कलुआ' कल्याणचन्द्र का, 'नानक' ज्ञानदत्त का अपभ्रंश है। विद्वानों ने उनकी व्याख्या को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। इसी प्रकार उन्होंने लिखा है कि 'न्यग्रोध' ग्राम से निगोहा, 'प्लक्ष' गाँव से पिलखुवा, 'गंधकुलिका' से गंधौली, 'सिद्धकुलिका' या 'सिद्धपल्ली' से सिधौली, 'मिहिरकुलिका' या 'मिहिर पल्ली' से मेहरोली बनते हैं। डॉ० अग्रवाल ने ठीक ही लिखा था कि जनपदीय बोलियों के शब्दभण्डार, कहावतों, मुहाविरों, कथाओं, कहानियों और गीतों से हम राष्ट्रभाषा का साहित्य सामर्थ्यवान् बना सकते हैं।

डॉ० अग्रवाल अपने जीवन में जनपदीय आन्दोलन के कर्णधार थे। उनको इस आन्दोलन के चलाने में श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी, डॉ० सत्येन्द्र, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी आदि से बड़ी सहायता मिली।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अग्रवाल जी वेदों पर अधिक काम कर रहे थे। उन्होंने अपने लेखों के माध्यम से वेदों के नवनीत को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। कदाचित् इस पीढ़ी में डॉ० अग्रवाल के सदृश कोई अन्य विद्वान् ऐसा न हुआ, जिसने वेदों की महत्ता और सार का इस प्रकार प्रस्तुतीकरण किया हो।

डॉ० अग्रवाल संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे। उनका संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन बड़ा गहन था। अपने इस ज्ञान के बलबूते पर वह हिन्दी-जगत् में जनपदीय आन्दोलन की जड़ें मजबूत बना सके। अपने इस आन्दोलन के समर्थन में उन्होंने जो तर्क दिए हैं अथवा जो मान्यतायें स्थापित की हैं, वे अकाट्य हैं।

डॉ० अग्रवाल की मान्यता थी कि देश की मौलिक एकता जनपदीय अध्ययन द्वारा और भी पुष्ट हो सकती है। अन्त में हम जनपदीय अध्ययन के महत्व पर उन्हीं की पंक्तियों को उद्धृत कर इस लेख को समाप्त करना चाहते हैं। "किस प्रकार एक ही महान् विस्तार के अन्तर्गत हमारा समाज युग-युगों से अपना शान्तिमय जीवन व्यतीत करता रहा है, किस प्रकार उसकी आध्यात्मिक और मानसिक प्रेरणाओं में सर्वत्र एक-सी मौलिक पद्धति है, किस प्रकार एक ही संस्कृत भाषा के

आधार से दरदिस्तान की दरद् और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त या प्राचीन गांधार की पश्तो भाषा से लेकर बंगाली, गुजराती और महाराष्ट्री तक अनेक प्रादेशिक भाषाओं का निर्माण हुआ है, और किस प्रकार इन भाषाओं के क्षेत्र में अगणित बोलियाँ परस्पर एक-दूसरे से और संस्कृत से गहरा संबन्ध रखती हैं––यह समस्त विषय अनुसंधान के द्वारा जब हमारे सम्मुख आता है, तब अपनी राष्ट्रीय एकता के प्रति हमारी श्रद्धा परिपक्व हो जाती है। अतएव राष्ट्रव्यापी ऐक्य का उद्घाटन करने के लिए जनपदों में बसनेवाली जनता का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी की जो सेवा करना चाहते हैं, उनके कन्धों पर जनपदीय अध्ययन का भार अनिवार्यतः आ जाता है।"

डॉ० वासुदेवशरण जी ने जनपदीय ज्ञान पर जिस सर्जनात्मक साहित्य का निर्माण किया है वह ज्ञान की खोज में लगे लोगों को एक प्रकाशस्तम्भ के सदृश है। डॉ० अग्रवाल के द्वारा निर्मित साहित्य से माँ भारती का भण्डार सदा आलोकित होता रहेगा, ऐसी हमारी मान्यता है।

'तुम भारत के सारस्वत तप-सिद्धि-विजेता'

पुरातत्त्व-पंडित, संस्कृति-लेखक महान् तुम !
भारतीयता के आजीवन तुम कल्पद्रुम !
विद्या और विनय के अविचल उदाहरण हे !
वर्तमान के वैदिक ऋषि-विज्ञान-चरण हे !
नूतन पाणिनि, नव पुराण के भाष्यकार तुम !
दिव्य देश के श्री-अतीत के ज्ञान-द्वार तुम !
सरस्वती-मंदिर के हे सांस्कृतिक पुजारी !
तुम अतीत-ऐश्वर्य-अमरता के अधिकारी !
लिखते-लिखते तुम सचमुच बलिदान हो गए !
स्वयं साधना से शब्दात्म-वितान हो गए !
अर्पित तुम्हें प्रणाम, अमर हे महाप्रणेता !
तुम भारत के सारस्वत तप-सिद्धि–विजेता !

—पोद्दार रामावतार 'अरुण' द्वारा अर्पित श्रद्धांजलि।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभारपूर्वक)

भारतीय संस्कृति के ज्योतिर्धर

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के देहावसान से भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व का एक गम्भीर विद्वान् तथा अध्येता सदा के लिए हमारे बीच से उठ गया है। उसके साथ ही वेद के एक प्रमुख व्याख्याता का अन्त हो गया है और हिन्दी साहित्य के इतिहास-सम्मत शोध का एक सुदृढ़ स्तम्भ ध्वस्त हो गया है।

भारतीय संस्कृति के तिमिराच्छन्न तथ्यों तथा सामग्रियों को आलोक में लाने का जो भगीरथ प्रयास डॉ० अग्रवाल ने किया है, वह अविस्मरणीय रहेगा। उनकी लोकपरक व्याख्याएँ हमें उद्घाटित तथ्यों को समझने और परखने की एक दृष्टि प्रदान करती हैं, जो एक निश्चित महत्त्व की हैं। इसका प्रमाण उनके द्वारा सर्जित वह विपुल साहित्य है, जो उनके तप और साधना का सुफल है।

सन् १९४८ के जनवरी मास में डॉ० अग्रवाल से मेरा प्रथम साक्षात्कार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बईवाले अधिवेशन में हुआ था। उस समय डॉ० मोतीचन्द्र के साथ वह घूम-घूमकर आगत विद्वान् प्रतिनिधियों से सीधे परिचय प्राप्त कर रहे थे। संयोगवश मैं अपने अग्रज श्री परशुराम चतुर्वेदी के साथ था और वे दोनों उनसे भी आकर मिले थे। जहाँ तक स्मरण है, वार्ता के प्रसंग में चौरासी सिद्धों की चर्चा विशेष रूप से हुई थी। उसी समय से मैं डॉ० अग्रवाल की शोधवृत्ति और जिज्ञासा-भावना से प्रभावित हो गया था।

विश्वभारती (शान्तिनिकेतन) छोड़ने के बाद सन् १९५० के जून मास से जब मैंने साहित्य-भवन लि० (अब प्राइवेट लिमिटेड) इलाहाबाद के प्रकाशनाध्यक्ष का

कार्यभार ग्रहण किया, तो स्वभावत: मेरा ध्यान डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की ओर भी गया और उन्होंने स्नेहपूर्वक जिस त्वरा और तत्परता से मेरा अनुरोध स्वीकार किया, वह "कला और संस्कृति" के रूप में उपलब्ध है। डॉ० अग्रवाल ने पहले इस पुस्तक का नामकरण "संस्कृति और कला" किया था, किन्तु जब मैंने उसका नाम "कला और संस्कृति" रखने का सुझाव विनम्रतापूर्वक दिया, तो उसे उन्होंने पसन्द किया और सहर्ष स्वीकार कर लिया।

मुझे भली भाँति स्मरण है कि पुस्तक का अन्तिम रूप देने के पूर्व उन्होंने सहृदयतापूर्वक मुझे वाराणसी बुला लिया था। अपने अध्ययनकक्ष में छँटी और अनछँटी सामग्री को सौंपते हुए उन्होंने कहा था "लो, मैंने इतना देख लिया है, इसे तुम भी एक बार देख जाओ। इनमें से जो तुम्हें बेमेल अथवा स्तरीय न लगे, उन्हें अलग कर देना और अनछँटे से भी काम की सामग्री निकाल लेना। तब तक मैं कुछ और काम कर लेता हूँ।" इतने बड़े विद्वान् से इस प्रकार की निर-भिमान बातें सुनकर मैं श्रद्धावनत होने के साथ ही अपनी लघुता का बोध करने लगा। फिर भी उनके आदेश का पालन करना ही था, अतएव मैं कार्य में जुट गया।

कुछ ही देर बाद मैंने पीछे से अपने कन्धे पर स्नेह-स्पर्श का अनुभव किया और पीछे मुड़कर जो देखा, तो डॉ० अग्रवाल दूध का गिलास लिये खड़े थे! उन्होंने मीठी मुसकान के साथ कहा, "लो, तब तक यह थोड़ा-सा दूध पी लो। फिर बाद में साथ ही भोजन कर लेंगे। स्नान तो कर लिया है न?" उस समय मैं उनके पड़ोसी, अग्रजतुल्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के यहाँ से स्नान-जलपान करके सबेरे ही आया था। इसलिए स्नान-जलपान कर चुकने की सूचना देते हुए मैंने दूध लेने के प्रति अनिच्छा प्रकट की, किन्तु उनका आग्रह बना ही रहा। परन्तु उनसे जब मैंने दूध के प्रति अपनी अरुचि बतलाई, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा और दूध के गुणों का बखान करते हुए उसे पीने का उन्होंने पुनः आग्रह किया। परन्तु इतने पर भी मेरी उत्कट अरुचि देखकर उन्होंने फिर दबाव डालना उचित नहीं समझा और इस प्रकार मेरा संकट टल गया।

तीन-चार घंटे तक काम करने के बाद जब काम पूरा हुआ, तो उन्होंने स्वयं लेखों की क्रमबद्ध सूची बनाई और मुझे पूरी पुस्तक की सामग्री सौंप दी। यह अवसर मेरे लिए अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण रहा। चलते-चलाते उन्होंने पुस्तक को शुद्ध और सुरुचिपूर्ण रीति से छापने पर बल दिया था। शुद्धता के लिए उन्होंने स्वयं प्रूफादि देखने का कष्ट भी उठाया था। पुस्तक जब प्रकाशित हुई, तो अपना संतोष प्रकट करते हुए उन्होंने अपना स्नेहपूर्ण संबल भी प्रदान किया था।

इस सन्दर्भ में एक अन्य बात भी उल्लेखनीय है—वह यह कि योजनानुसार हम ऐसी प्रत्येक पुस्तक के साथ उसके लेखक का चित्र भी छापा करते थे, किन्तु डॉ० अग्रवाल को इसके लिए मैं राजी न कर सका। अपनी कृति के साथ अपना रूप नहीं, अपना नाम ही जुड़ा रहना वह पर्याप्त समझते थे। इसका कारण पूछने पर उन्होंने हँसते हुए कहा था,"संत-साहित्य के प्रेमी के लिए इसका कारण समझना कठिन नहीं होना चाहिए, जहाँ रूप का नहीं, नाम का ही महत्व है।"

धीरे-धीरे लेखक-प्रकाशक का यह सम्बन्ध वहीं तक सीमित नहीं रह गया और उनकी स्नेहपूर्ण सहृदयता तथा उदारता के फलस्वरूप वह आत्मीयता के स्तर तक उतर आया। सन् १९५३ की २५ जुलाई को जब भैया की साठवीं वर्षगाँठ आचार्य क्षितिमोहन सेन की अध्यक्षता में मनायी जानेवाली थी, तब उन्होंने अत्यंत आत्मीय भाव से लिखा हुआ भैया पर एक अंग्रेजी का लेख भेजा था, जो उक्त अवसर पर प्रयाग में 'लीडर' में प्रकाशित हुआ था।

कालान्तर में लेखकीय स्तर पर भी डॉ० अग्रवाल से मुझे प्रेरणा, प्रोत्साहन और पथप्रदर्शन मिलता रहा। जब कभी उनकी सहायता की मुझे आवश्यकता पड़ी, उन्होंने बड़ी तत्परता और उदारता से मेरी सहायता की। उनकी एक विशेषता यह भी थी कि वह छोटे-बड़े लेखकों की महत्वपूर्ण विषयों पर लिखी रचनाओं को पढ़ लेने के लिए प्रायः अवकाश निकाल लेते थे और यदि आवश्यक हुआ तो उचित सुझाव तथा परामर्श भी दिया करते थे। वह प्रायः नवीन तथ्यों या व्याख्याओं को पाकर गद्गद हो जाया करते थे। इन जैसी बातों से नये लेखकों को बड़ा बल तथा प्रोत्साहन मिल जाया करता था। फलस्वरूप जिज्ञासुओं तथा अनुसंधित्सुओं के शंका-समाधान के लिए उनका द्वार सदा उन्मुक्त रहा करता था, जो श्रमसाध्य ही नहीं, व्ययसाध्य भी था। उनकी अक्षय ज्ञान-राशि पावन गंगा की भाँति सर्व-सुलभ थी। उनका अध्ययन-कक्ष उनके बहुविध विद्या-अभिरुचि और अनुराग का द्योतक था।

पत्रों के उत्तर हों या पुस्तकों पर सम्मतियाँ, अपनी ओर से डॉ० अग्रवाल उन्हें भेजने में अनावश्यक विलंब नहीं करते थे। कभी-कभी अधूरे अथवा दुर्लभ सन्दर्भों के पते इस जल्दी दे देते थे कि जिज्ञासु अथवा अनुसंधित्सु का कार्य सरल हो जाता था। यह उनके विस्तृत और व्यापक अध्ययन का प्रसाद था।

डॉ० अग्रवाल के लिए साहित्य और इतिहास परस्पर पूरक विषय बन गए थे। उनकी इतिहासवाली दृष्टि उन्हें समस्या के मूल तक जाने की प्रेरणा प्रदान करती थी, जिसकी परिधि में लोक-परम्परा का भी सहज ही समावेश हो जाता था। उनकी चिन्तन-शैली विस्तार की ओर से गहराई तक जानेवाली थी। इसीलिए पहले वे

आनुषंगिक तथ्यों का संग्रह करके मूल विषय पर आ जाते थे। एक-एक पारिभाषिक शब्द का संदर्भगत अर्थ वह विभिन्न स्रोतों से उद्घाटित कर लेते थे और तदनुसार व्याख्या करके दुरूह विषयों तक को बोधगम्य बना देते थे।

'पदमावत' की संजीवनी टीका जब प्रकाशित हुई, तो विद्वन्मण्डली उनके श्रम और साधना को देखकर आश्चर्यचकित रह गई थी। निश्चय ही उनका यह कार्य धैर्य और श्रम-सापेक्ष था, जिसे पूरा करके उन्होंने अपनी क्षमता और सामर्थ्य की धाक जमा दी। परन्तु उसे पढ़कर मेरे मन में एक शंका घर कर गई थी कि जिन शब्दों के अर्थ प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के आधार पर खोले गए हैं, वे उसी अर्थ में जायसी के युग और क्षेत्र में कहाँ तक प्रयुक्त होते थे, इसे किस आधार पर संपुष्ट समझा जाय? उपयुक्त अवसर पाकर एक बार मैंने उनके समक्ष अपनी शंका प्रस्तुत करने की धृष्टता की। इस पर न तो वह रुष्ट हुए न झुँझलाए, अपितु अत्यन्त सहज भाव से उन्होंने कहा--"जहाँ अन्य कोई आधार नहीं है, वहाँ साहित्य के विद्यार्थी को इतिहास की सेवाएँ स्वीकार करने में कोई आपत्ति या हिचक नहीं होनी चाहिए।" मेरे समाधान के लिए उनका यह उत्तर पर्याप्त था।

डॉ० अग्रवाल के विद्यानुराग ने उन्हें साधनारत बना दिया था। फलस्वरूप वह जिस किसी दशा में रहते थे, उनका चित्त उसी में रमा करता था। यहाँ तक कि अस्वस्थता की दशा में भी उन्हें उससे विरत कर पाना संभव न हो पाता था। कभी-कभी तो उन्हें विरत करने का प्रयास ही उनके लिए दुखदाई बन जाता था। ऐसे अवसरों पर उनके सगे-सम्बन्धियों तथा शुभेच्छुओं के लिए एक समस्या उठ खड़ी हो जाया करती थी। जब तक वह सर्वथा अशक्त न हो जाते थे, तब तक कुछ किए बिना अपने को वह रोक नहीं पाते थे। अकर्मण्य बने रहना उन्हें असह्य था। उन्होंने एक ओर अपने तन पर शासन कर लिया था, तो दूसरी ओर अपने मन को एकनिष्ठ बना लिया था, जो अथक अभ्यास और साधना द्वारा ही संभव था। फलस्वरूप शरीर का निरन्तर ह्रास होता गया और एक दिन उसका अन्त हो ही गया।

संस्कृति एक और अविभाज्य होकर भी देशकाल से बाधित हो विविधता-सम्पन्न बन जाती है। इसीलिए कभी-कभी उसके आगे देश-काल अथवा जाति-वाचक विशेषण का प्रयोग भी कर लिया जाता है। भारतीय संस्कृति के प्रति डॉ० अग्रवाल मनसा-वाचा-कर्मणा श्रद्धालु थे। उसके गौरवमय अतीत में उनकी अडिग आस्था थी। त्रिकाल ऋषियों द्वारा प्रणीत मन्त्रों का मर्मोद्घाटन करने में इधर कई वर्षों से वह प्रवृत्त रहे। अब देखना है कि उन्होंने अपनी साधना द्वारा जिस आलोक को विकीर्ण किया था, उसका ज्योतिवाहक कौन बनता है?

एक विलक्षण व्यक्तित्व

डॉ० मंगलनाथ सिंह

स्वर्गीय डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल की विद्वत्ता की सुगन्धि देश भर में फैल चुकी थी, पर उनके दर्शन का सौभाग्य पहली बार मुझे कटक में सन् १९४९ के दिसम्बर में भारतीय इतिहास-कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ही मिला। इस वर्ष 'प्राचीन इतिहास' खण्ड के वह अध्यक्ष थे। मैंने डॉ० अग्रवाल के रूप में कोट और टाईवाले किसी हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति की कल्पना की थी, पर कृशकाय, मामूली खद्दर का कुर्ता और धोती, दोनों कन्धों से लटकता एक वैसा ही दुपट्टा और सिर पर गाँधी टोपी धारण किए उन्हें देखकर जहाँ मुझे आश्चर्य हुआ, वहाँ आनन्द भी। देखने में वह देहात के एक मामूली किसान-से मालूम पड़ते थे।

ऐसी परिषदों और सम्मेलनों में प्रायः मेले जैसा ही वातावरण रहता है। उद्घाटन के बाद दूसरे दिन से विभिन्न खण्डों की बैठकें होती हैं, जिनमें सम्मिलित होने के लिए विद्वानों के पास समयाभाव रहता है। किन्तु डॉ० अग्रवाल के साथ यह बात न थी। एक खण्ड के तो वह अध्यक्ष ही थे, वैसे दूसरे खण्डों की गोष्ठियों में वह केवल जाते ही नहीं थे, वरन् निबन्धों के विषय में अपना समाधान करने के लिए बड़े पैने प्रश्न भी पूछते थे। विद्वत्तापूर्ण निबन्धों की भूरि-भूरि प्रशंसा करने में वह संकोच नहीं करते थे।

इस प्रकार इतिहास-कांग्रेस में आए अधिकांश विद्वानों से एकदम अलग उनका अपना व्यक्तित्व था, जिसे सभी आदर की दृष्टि से देखते थे। यह बात इससे भी प्रकट थी कि उनके अध्यक्षीय भाषण के समय हाल खचाखच भरा था और सभी

मन्त्रमुग्ध हो उनका भाषण सुन रहे थे। उस बार की इतिहास-कांग्रेस में इतना विद्वत्तापूर्ण और रचनात्मक सुझावों से भरा दूसरा कोई भाषण या निबन्ध प्रस्तुत नहीं हुआ।

अधिवेशन के अन्त में उड़ीसा-सरकार की ओर से प्रतिनिधियों को स्थानीय मन्दिरों के दिखाने का भी प्रबन्ध किया गया था। इसी प्रसंग में कोणार्क, भुवनेश्वर, हाथीगुम्फा आदि स्थान प्रतिनिधियों को दिखलाए गए। मेरा सौभाग्य था कि मैं डॉ० अग्रवाल की ही पार्टी में था। उस पार्टी में मैं सबसे छोटा था, अतः स्वाभाविक ही मैं सबका- विशेषतया डॉ० अग्रलाल जी का - स्नेहभाजन हो गया था। यात्रा के दौरान डॉ० साहब की निजी सुख-सुविधा का भार एक प्रकार से मैंने अपने ही ऊपर ले लिया था। इस यात्रा में मुझे उन्हें निकट से देखने का अवसर मिला।

एक ओर जहाँ मैं उनकी प्रचण्ड विद्वत्ता से प्रभावित हुआ, दूसरी ओर उनके सतत जिज्ञासु जीवन की छाप भी मुझ पर पड़ी। जो भी नई बातें उनकी दृष्टि में आतीं, वह तुरन्त उन्हें अपनी डायरी में लिख लेते थे। उन्हें ज्ञान की अमिट पिपासा थी और वह उसका सोत्साह अर्जन ही नहीं करते थे, अपितु उसके निर्बाध वितरण के लिए भी तत्पर रहते थे। यात्रा का अधिकांश भाग जंगलों और ऊबड़-खाबड़ झाड़ियों के बीच पड़ता था, किन्तु सभी स्थानों में डॉ० साहब पार्टी के अन्य सदस्यों से एकदम आगे रहते थे। मन्दिरों के खंडहरों में हमारे देखते-देखते ऊपर चढ़ जाते थे। वस्तुतः सच्चे अर्थों में वह हमारे नेता थे। इन मन्दिरों का चप्पा-चप्पा कलात्मक पच्चीकारी से भरा हुआ है। जितनी सरलता से दृश्यों की पहचान कर वह उन पर व्याख्यान करते थे, वह हमारे लिए लाभप्रद तो था ही, साथ ही नया भी था।

इतिहास-कांग्रेस से मैं डॉक्टर साहब का भक्त बन चुका था। मन में बार-बार यही आता था कि काश डॉक्टर साहब काशी-विश्वविद्यालय में आ जाते! हमारे सौभाग्य से प्रायः दो वर्ष के भीतर ही वह कला और स्थापत्य के प्रोफेसर होकर वहाँ आ भी गए। तब से जीवनपर्यन्त प्रायः १५ वर्ष तक वह वहाँ रहे।

विश्वविद्यालय में उनकी उपस्थिति से जहाँ विद्यार्थियों को लाभ हुआ, वहां उनके कारण विश्वविद्यालय का गौरव भी बढ़ा। भारतीय संस्कृति के वह अन्यतम व्याख्याता थे। देश-विदेश के विद्वान् उनसे मिलकर शास्त्र-चर्चा करने आते थे। देश के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों की भाँति काशी-विश्वविद्यालय भी उन दिनों दलगत राजनीति का अखाड़ा बन चुका था। विश्वविद्यालय में कलह का वातावरण था। डॉ० अग्रवाल इस वातावरण में रहकर भी उससे एकदम अलग थे, जैसे कीचड़

से कमल होता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि यदि नम्र साधु साथी मिले तो बुद्धिमान सब झगड़ों को छोड़ प्रसन्न हो उसके साथ विचरे, किन्तु यदि ऐसा साथी न मिले तो अकेले विचरे। अपने स्वभाव के अनुकूल डॉक्टर अग्रवाल इस वातावरण में अकेले ही विचरते थे।

प्रति दिन प्रायः १७-१८ घंटे वह सरस्वती की उपासना में तल्लीन रहते थे। रात में प्रायः ९ बजे सो जाया करते थे। १ बजे या २ बजे जब भी नींद खुलती थी, वह उठ बैठते और नित्यकर्म से निवृत्त हो लिखने या पढ़ने में लग जाते थे। सबेरे प्रायः एकाध घण्टे टहला करते थे। उसके बाद वही लिखना-पढ़ना, विद्यार्थियों का मार्गदर्शन करना आदि रात के ९ बजे तक चलता रहता था। पिछले कुछ वर्षों में अत्यधिक परिश्रम के कारण वह थक जाया करते थे। उनके मित्रों ने दिन में दो एक घंटे आराम करने की सलाह दी थी। पर सिवा उन दिनों के जब वह बिस्तर पर पड़ गए थे, वह दिन में कभी नहीं सोए। वह बराबर काम करते रहते थे।

इस बीच उन्हें थकान मालूम भी होती, तब वह पद्मासन में कमर सीधी और आँखें बन्द कर बैठ जाते थे और १०-१५ मिनट प्राणायाम करते थे। जब उनकी आँखें खुलतीं तो ऐसा लगता था कि गई हुई सारी ऊर्जा वापस आ गई है और फिर वह द्विगुणित वेग से काम में लग जाते थे। वह स्वयं तो कार्य करते ही थे, अपने सहायकों और विद्यार्थियों से भी कसकर काम लेते थे। उन्हें कुछ लिपिकों, आर्टिस्टों और अनुसंधान-सहायकों की सुविधा प्राप्त थी। इन सबको उनके साथ इतना परिश्रम करना पड़ता था कि सब 'तबाह' रहते थे। यही वजह थी कि ६० वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रायः सात दर्जन पुस्तकें और ३००० से अधिक निबन्ध प्रकाशित करवा चुके थे! और इससे कई गुनी अधिक सामग्री वह नोट्स, पूर्ण और अपूर्ण ग्रन्थों तथा निबन्धों के रूप में अपने पीछे छोड़ गए हैं!

वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, व्याकरण, साहित्य, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, दर्शन, राजनीति, मानव-विज्ञान आदि के वह उद्भट विद्वान् थे। संस्कृत, पालि, अपभ्रंश, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, बंगला, गुजराती, आदि भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी और अनेक यूरोपीय भाषाओं के वह पण्डित थे। उनके अध्ययन और पाण्डित्य के विस्तार और गाम्भीर्य को देखकर आश्चर्य होता है कि अकेले एक व्यक्ति से यह सब सम्भव कैसे हुआ!

हिन्दी को उनकी देन अमिट है। कालिदास, बाण आदि संस्कृत के कवियों की उन्होंने नए सिरे से सर्वांगीण व्याख्या की। भारतीय टीकाकारों में वह अद्वितीय हो गए। इस क्षेत्र में उनकी तुलना यदि किसी से की जा सकती है तो मल्लिनाथ

से ही। सच तो यह है कि वह मल्लिनाथ से भी बढ़कर थे। डॉ० अग्रवाल जिस युग में हुए, उसमें वैज्ञानिक अध्ययनों के फलस्वरूप ऐसी अनेक बातें सामने आ गई हैं, जो मल्लिनाथ के युग में सुलभ नहीं थीं। मल्लिनाथ के शब्दों में ही कहें, तो जायसी और विद्यापति 'अभी तक दुर्व्याख्याओं के विष से मूर्च्छित थे।' डॉक्टर अग्रवाल ने अपनी संजीवनी रूपी टीकाओं से उन्हें उनके वास्तविक रूप में प्रकट किया। उन्होंने इन कवियों के मूल पाठों की ही खोज नहीं की, अपितु अनेक स्थलों से सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक अर्थ पहली बार प्रस्तुत किए। उनके ही प्रयत्नों से 'पदमावत' और 'कीर्तिलता' ने पहली बार अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया। इनकी सांस्कृतिक शब्दावली का द्वार उन्मुक्त हो जाने से अन्य मध्यकालीन ग्रन्थों के अध्ययन का भी मार्ग प्रशस्त हो गया।

नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'कीर्तिलता' की एक प्रसिद्ध भाषाशास्त्री की टीका के सहारे मैं उसका अध्ययन कर रहा था। इस टीका में अनेक स्थलों पर जहाँ संतोष नहीं होता था, वहाँ कहीं-कहीं खीझ भी आती थी। सराफा बाजार में हीरों के साथ लहसुन (लसूला) और प्याज (पेआजू) के तौले जाने पर जहाँ टीकाकार की बुद्धि पर तरस आता था, वहीं जौनपुर के शासकवर्गीय तुर्क के प्रसंग में 'आड़ी दीनि निहारि दवलि दाढ़ी थुकबाहइ' का अर्थ 'आड़ी नजर से देखकर दौड़कर दाढ़ी में थुकवाता है' पढ़कर खीझ भी होती थी।

ऐसे प्रसंगों को नोट कर मैं डॉक्टर साहब के पास गया। वह तो शब्दों की सात पीढ़ी की नब्ज पहचाननेवाले विद्वान् थे। पुस्तक हाथ में लेते ही 'थुकबाहइ' में 'थुक' और 'बाहइ' के बीच उन्होंने एक लकीर खींच दी और बोले—"अब अर्थ करो।"

अर्थ स्पष्ट हो चुका था—'तुर्क की दाढ़ी से थूक बह रहा है।' इसी प्रकार अन्य प्रसंगों की भी उन्होंने झट व्याख्या समझा दी। ऐसे अवसरों पर अधिकांश विद्वान् आँखों में विजय का भाव लिए विद्यार्थियों को देखकर आँखों से कह बैठते हैं कि देखा, मैं कितना बड़ा विद्वान् हूँ!

डॉ० अग्रवाल ने इतना ही कहा कि अर्थों में टीकाकार से चूकें हो गई हैं। टीकाकार का नाम लेते हुए बोले कि वह तो बहुत विद्वान् व्यक्ति हैं, पता नहीं कैसे उनसे भूलें हो गई हैं!

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

निकट दर्शन : वह मां सरस्वती के सच्चे तापस साधक थे

डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त

सम्भवतः १९४० के आसपास की बात है, उस समय मुझे पहली बार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल से मिलने का सुयोग मिला था। वह तब तक डाक्टर न हुए थे, पर कला और पुरातत्त्व के क्षेत्र में उनका नाम आदर के साथ लिया जाने लगा था।

उन दिनों मैं अग्रवाल जाति का इतिहास विशुद्ध पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा था। मैं अग्रवाल जाति के विकास के सम्बन्ध में प्रचलित किम्वदन्तियों की ऐतिहासिक व्याख्या ढूंढ़ रहा था। उस समय तक आर्यसमाज के प्रभाव और गांधी जी के नेतृत्व में जगी राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप जातियों के सामाजिक महत्व के प्रति लोग उदासीन होने लगे थे। अतः तत्कालीन इतिहासज्ञों में से कोई मेरी किसी प्रकार की सहायता कर सकेगा, ऐसी आशा मैं कम ही कर सकता था। फिर भी किसी दिशा-निर्देशक की टोह बनी हुई थी। तभी आजमगढ़ जैसे छोटे और पिछड़े नगर में पुरातत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा-शान्ति के लिए जो कुछ सुलभ था, उसके माध्यम से वासुदेवशरण जी का नाम सामने आया। उनके नाम और काम का परिचय मिला। सोचा वह स्वयं अग्रवाल हैं, कदाचित् वह मुझे इस दिशा में निर्देश कर सकें।

अतः एक दिन जब किसी प्रसंग से लखनऊ जाने का अवसर पाया, तब आजमगढ़ के खँडहरों में बिखरे हुए अतीत-चिन्हों में से जो दो-चार मूर्तिखण्ड और सिक्के एकत्र किए थे, उन्हें झोले में रखकर संग्रहालय जा पहुँचा। वे ही उनसे मिलने में सहायक थे। सहमते-सकुचाते अपने नाम की चिट भिजवाई। तत्काल उन्होंने अपने कमरे में बुला लिया। न तो उनमें थोथा बड़प्पन दिखाई

दिया और न अभिमान ! बड़े स्नेह से मिले । दो चार बातों के बाद तो जान ही नहीं पड़ा कि वह किसी प्रकार अपरिचित हों ।

साथ लाए मूर्तिखण्डों और सिक्कों को लेकर आजमगढ़ के खँडहरों से बात आरम्भ हुई और थोड़ी देर में अनेक दिशाओं और क्षेत्रों से होती हुई अपने ईप्सित विषय——अग्रवाल जाति के इतिहास–पर जा पहुँची । उन्होंने मेरी बातें सुनीं, कुछ सूत्र बताए । उसके बाद तो निस्संकोच अपनी उल्टी-सीधी जिज्ञासाएँ लिख भेजता और वह बड़े उत्साह और स्नेह से उत्तर देते । उन्होंने मुझे इस तरह अपना लिया कि जब मेरा 'अग्रवाल जाति का विकास' प्रकाशित हुआ, तब उस पर दो-चार पंक्ति की सम्मति नहीं, पूरा एक लम्बा लेख लिखा । उसमें मेरे कार्य की सराहना तो थी ही, उस विषय पर शोध जारी रखने की दिशा में भी अनेक नई जानकारियाँ उन्होंने दी थीं ।

जब राय कृष्णदास के सुझाव पर मैंने गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर एक विस्तृत पुस्तक लिखने का विचार किया और यह बात उन्हें लिख भेजी, तो उन्होंने तत्काल अंग्रेजी में एक लम्बा पत्र लिखा और उसकी आवश्यकता पर बल दिया । यही नहीं, अपने पत्र में अत्यन्त विस्तार के साथ बताया कि इस दिशा में किस तरह काम आरम्भ करना चाहिए । किस तरह सामग्री एकत्र की जानी चाहिए, क्या काम पहले करना चाहिए । साथ में यह भी लिखा कि वह प्रयत्न करेंगे कि भारतीय मुद्रातत्त्व-परिषद मुझे आर्थिक सहायता दे, जिससे मैं विभिन्न संग्रहालयों में जाकर सिक्कों को देख सकूँ और उनका अध्ययन कर सकूँ । उसके बाद जब मैंने सामग्री सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के निमित्त संग्राहकों और संग्रहालयों को भेजने के लिए परिपत्र तैयार किया, तब उसे स्वयं उन्होंने अन्तिम रूप दिया । परिपत्रों के जो उत्तर आए, उनसे मुझे और निराशा हुई। उस समय उन्होंने लिखा——"निराश तनिक भी मत हो । अपना काम जारी रखो ।" और प्राप्त उत्तरों के मूल में जो कारण थे, उसे विस्तार के साथ समझाया । इस ढंग से उत्साह के साथ प्रोत्साहित किए जाने पर कौन ऐसा होगा, जो काम छोड़ दे । मैं काम पूरा करने में जुट गया । पर तभी ज्ञात हुआ कि गुरुवर अल्तेकर जी भी इसी दिशा में काम कर रहे हैं । आगे काम करना उनसे प्रतिस्पर्धा करना होगा, अतः काम तो वहीं बन्द हो गया । पर शोध की दिशा में कार्य करने की एक व्यवस्थित पद्धति का परिचय मिला ।

अध्ययन-प्रणाली वैज्ञानिक हो

एम० ए० की परीक्षा के निमित्त जब मैंने 'गंगाघाटी की मृण्मूर्तियों पर शोध-निबन्ध प्रस्तुत करने का निश्चय किया और उसकी रूपरेखा अग्रवाल जी को

लिख भेजी, तब जिस ढंग से उन्होंने प्रोत्साहित किया वह अविस्मरणीय है। उन्होंने लिखा––"आपने मिट्टी के खिलौनों पर अपने ईप्सित निबन्ध का जो ब्योरा लिखा है, इतना कर लें तो बहुत बढ़िया चीज तैयार हो जायगी। अध्ययन की प्रणाली शुद्ध वैज्ञानिक होनी चाहिए। चुने हुए चित्रों का संग्रह कर लेना चाहिए। जब कुछ काम कर लें, तब फिर मुझे दिखला सकते हैं। सूची आपको स्वयं बनानी चाहिए। यह निबन्ध-लेखन की पहली सीढ़ी है।"

प्रेरणा-मन्त्र

अन्तिम दो पंक्तियों को पढ़कर मुझे लगा कि मैंने अध्ययन सम्बन्धी अपेक्षित सामग्री की सूची बना देने का अनुरोध कर अनुचित किया। मुझे सूची स्वयं बनाकर उसकी त्रुटियों को पूछना चाहिए था। अतः मैंने खेद प्रकट करते हुए इस अविनय के लिए क्षमा चाही। उसका जो उत्तर आया वह उत्तर मात्र नहीं है, अग्रवाल जी का अपना चित्र है और दूसरों के लिए प्रेरणा-मन्त्र। उन्होंने लिखा था––"पत्र पढ़कर गद्गद हो गया! ईश्वर करे विनय के क्षेत्र में भी विद्योपार्जन के साथ तुम्हारा प्रवेश-द्वार अधिकाधिक उन्मुक्त होता रहे। मानवीय हृदय में स्वयं जिस बात का अनुभव होता है, वही सच्चा मूल्यवान् अनुभव है। जिसे जो आता है, उसे उतना प्राप्त कर लेना मनुष्य की अपनी चतुराई पर निर्भर है। प्रत्येक विद्यार्थी सच्चा दोग्धा होता है। उसके पास जितनी ही युक्ति होगी, उतना ही अधिक दोहन वह कर सकेगा। मेरा मन तुम्हारी ओर से शुद्ध है, पर मुझे तुमसे बहुत आशाएँ हैं, इसीलिए चाहता हूँ कि तुम्हारा सर्वतोभावेन विकास हो। एक मन्त्र बताता हूँ। अपने अध्ययन में जो वस्तु जहाँ से ग्रहण करो, कृतज्ञतापूर्वक उसे स्वीकार करना। इससे मन और बुद्धि का विकास होगा।"

इस प्रकार उन्होंने न केवल एम० ए० के निबन्ध के प्रसंग से विद्याप्राप्ति की दिशा में मेरा मार्गदर्शन किया, वरन् पी-एच० डी० के निबन्ध का भी निर्देशन किया। किन्तु उनका निर्देशन अन्य निर्देशकों से सर्वथा भिन्न था। निबन्ध की जो रूपरेखा मैंने उनके सामने उपस्थित की उसे देखा, उसके सम्बन्ध में अपना विचार बतलाया और फिर मुझे काम करने को स्वतंत्र छोड़ दिया। दो वर्ष के अनुसंधान-काल में उन्होंने कभी नहीं पूछा कि मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने अपने कार्य का जो अर्धवार्षिक विवरण उनके सामने रखा, उसे उन्होंने सन्तोषजनक माना। किन्तु जब अनुसन्धान-काल समाप्त हो जाने के कई साल बाद तक विश्वविद्यालय के सम्मुख मैं अपना निबन्ध प्रस्तुत न कर सका, तब वह चिन्तित हुए। प्रायः अपने हर पत्र में पूछते रहे कि निबन्ध का क्या हो रहा है? वह सदैव इस बात के लिए

चिन्तित थे कि मैं निबन्ध शीघ्र प्रस्तुत कर दूँ और जब मैंने निबन्ध तैयार कर अन्तिम रूप देने से पूर्व सुझाव देने के लिए भेजा, तब एक बार आद्यन्त देखकर उन्होंने उसे रख दिया। जब मैं उस पर विमर्श करने के लिए गया, तब निबन्ध लौटाते हुए इतना ही कहा—"सबमिट् कर दो !" एक भी सुझाव देने की आवश्यकता उन्हें नहीं जान पड़ी ! यह है उनके उदार हृदय का परिचायक।

कार्य सच्चाई से हो

लेखक की पुरातत्त्व और कला सम्बन्धी गतिविधि पर ही उनकी दृष्टि नहीं थी, वह उसके अन्य कार्यों पर भी निगाह रखते थे। 'चन्दायन' की खोज का समाचार जब उन्हें मिला, तब उन्होने लिख भेजा—" 'चन्दायन' की नई प्रति के समाचार से चित्त प्रसन्न हो गया। अब इस ग्रन्थ के मूल पाठ का उद्धार हो जायगा। अवश्य प्रेस-कापी यथासम्भव शीघ्र तैयार करना—पाठान्तरों के साथ।" 'चन्दायन' के देखने के पश्चात् उन्होंने मुझे सुझाया था—

"पदमावत के मूल पाठ का संशोधित संस्करण नई सामग्री के आधार पर तैयार करें, अच्छा रहेगा। लेकिन सब पाठ सच्चाई से यथास्थान देना चाहिए।" नहीं जानता उनकी इस इच्छा की पूर्ति कब कर सकूँगा।

वासुदेव जी का इस रूप में मैं शिष्य था और उनसे मुझे गुरु का आशीर्वाद प्राप्त था। इतना ही नहीं, उन्होंने बड़े भाई का स्नेह भी दिया था और उन्हें "भाई साहब" कहने का अधिकार मुझे प्राप्त था। अपने सन्दर्भ में अग्रवाल जी के सम्बन्ध में जितना भी लिखूँ, थोड़ा है। वह मेरे निर्माताओं में थे। आज मैं जो कुछ हूँ, मेरे अस्तित्व का आज जो रूप है, उसे बहुत-कुछ उन्होंने साजा-सँवारा था, सहारा दिया था। उनका मैं ऋणी हूँ और आजीवन रहूँगा।

अग्रवाल जी के यहाँ मिलनेवालों का ताँता लगा रहता था, पर इससे उनके काम में कभी व्यवधान नहीं पड़ता था। ऐसे कम ही लोग थे, जिनके आने पर वह अपने सामने का काम छोड़कर बात करने बैठते थे। अन्यथा वह अपनी मेज के सामने बैठ काम करते जाते और आगन्तुक की बातें सुनते जाते थे तथा उसका यथोचित उत्तर देते रहते थे।

उनके सामने हर समय एक छोटी-सी नोटबुक रहती थी। यदि बाहर जाते तो यह नोटबुक उनकी जेब में पड़ी रहती। बातचीत के बीच जहाँ किसी ने कोई नई बात कही, नई जानकारी दी, तत्काल वह बात उनकी नोटबुक में दर्ज हो जाती। पीछे इस प्रकार की जानकारियों को बड़ी कापी में विषय के अनुसार छाँटकर लिख लिया करते और यथा समय उसका उपयोग करते।

माँ सरस्वती के तापस पुत्र

सच्चे अर्थों में अग्रवाल जी माँ सरस्वती के तापस पुत्र थे। भारतीय संस्कृति और वाङ्मय का कदाचित ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जहाँ उनका प्रवेश न रहा हो। वैदिक साहित्य के मंथन के रूप में उनके ग्रन्थ हैं––वेद-विद्या, वेदरश्मि, उरुज्योति, स्पार्क्स फ्राम वैदिक फायर, हिम आफ क्रियेशन, विजन इन लांग डार्कनेस, वेदिक लेक्चर्स। पुराणों के अध्ययन के परिणाम हैं–वामन-पुराण, मत्स्य-पुराण, देवी-माहात्म्य, मार्कण्डेय-पुराण––एक सांस्कृतिक अध्ययन। पाणिनि के अष्टाध्यायी जैसे शुष्क व्याकरण को मथकर "इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि" (पाणिनिकालीन भारत) के रूप में तत्कालीन भारतीय जीवन का चित्र उन्होंने उपस्थित किया। संस्कृत साहित्य में अध्ययन की एक नई दिशा उन्होंने बताई है अपने 'मेघदूत–एक अध्ययन' 'हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन' और 'कादम्बरी का सांस्कृतिक अध्ययन' में। कला सम्बन्धी उनकी कृतियाँ हैं–मथुरा-संग्रहालय की सूची, चक्रध्वज, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, इवोल्यूशन आफ हिन्दू टेम्पुल्स एण्ड अदर ऐसेज, कल्पवृक्ष। जायसीकृत पदमावत का संजीवनी भाष्य उपस्थित कर हिन्दी साहित्य की टीका और व्याख्या के क्षेत्र में उन्होंने एक क्रान्ति कर दी। विद्यापति की कीर्तिलता को सुबोध उन्होंने बनाया। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थ हैं––भारत-सावित्री, गीता-नवनीत, चतुर्भाणी, पृथ्वीपुत्र, कला और संस्कृति, भारत की मौलिक एकता। इनके अतिरिक्त भी उनके कुछ और प्रकाशित ग्रंथ हो सकते हैं। प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त अनुमान किया जाता है कि कई हजार पृष्ठों की लिखित अप्रकाशित सामग्री वह छोड़ गए हैं।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

प्रातःस्मरणीय डॉक्टर साहब

डॉ० भास्करनाथ मिश्र

सन् १९४७ में लखनऊ-विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास में एम०ए० कर लेने के बाद मैंने कुछ शोध-कार्य करने की सोची। गुरुजनों ने मुझसे डॉक्टर साहब के पास जाने को कहा। लखनऊ में हीवेट रोड पर स्थित उनके वास-स्थान, अग्रवाल कोठी, में मैं उनसे मिलने गया। उस समय वह दिल्ली से आए हुए थे। दोमंजिले से नीचे उतरकर उन्होंने मुझे शोध-कार्य के लिए कई विषय लिखवा दिए। इनमें से एक था "Geography in the Mahabharata"। इसी विषय को लेकर मैंने कार्य आरंभ किया। उन दिनों डाक्टर साहब अहिच्छत्रा की खोदाई से प्राप्त मिट्टी की पुरातत्त्व-सामग्री का अध्ययन कर रहे थे। उन्हें ऐसे व्यक्ति की खोज थी, जो इस कार्य में उनका हाथ बटाता। एक बार बातचीत के सिलसिले में मुझे सहयोग देने को कहा। मैं खाली था और ऐसे शुभ अवसर की बाट में था। सहर्ष स्वीकार कर लिया। उन्होंने कार्य सम्पूर्ण करने का पारिश्रमिक भी मुझे तत्काल ही सुना दिया, जो २००) था। अग्रवाल कोठी में ऊपर एक कमरा है। वहीं पर कार्य का आयोजन हुआ। गर्मियों के दिन थे। कमरे की फर्श के बीच खद्दर की धोती पहने डॉक्टर साहब बैठे। स्वाधीनता-संग्राम के बाद से खद्दर उनके जीवन का अंग बन चुका था। उनके पीछे आवश्यक पुस्तकें लगाई गईं। उनके दायें-बायें तथा आगे पुरातत्त्व-सामग्री सजाई गई। कमरे के दक्षिण-पूर्वी कोने में कुर्सी-मेज पर मैं बैठा। मुझे बड़ी झिझक लग रही थी कि मैं कुर्सी पर बैठा हूँ और डॉक्टर साहब सीधे फर्श पर, किन्तु मेरे कुछ कहने के पहले ही, उन्होंने मेरी स्थिति समझ ली और बोले—"जमीन पर बैठकर आपसे लिखते नहीं बनेगा।

इसलिए मैंने कुर्सी-मेज की व्यवस्था कर दी है।" कार्य आरम्भ हुआ, वह अंग्रेजी में बोलते जाते थे, और मैं लिखता जाता था। काम के समय उन्हें एक ही मुद्रा में घंटों बैठे देखा। पसीने की, गर्मी की, शरीर टूटने की उन्हें परवाह नहीं थी। कर्त्तव्य और काम के प्रति ऐसी निष्ठा, ऐसी तत्परता मेरे लिए नया अनुभव था। कभी-कभी मैं कठिन शब्दों के बारे में पूछता, वह शीघ्र ही संयत भाव से निराकरण कर देते। कार्य लगभग डेढ़ मास में सम्पन्न हो गया। वह मुझे अनेक धन्यवाद देते हुए जब पारिश्रमिक देने लगे, तो मैंने हाथ जोड़कर कहा "आपकी स्नेहमय छत्रछाया ही मेरा पारिश्रमिक है।" तब उन्होंने स्नेह से मेरे कंधे पर हाथ थपथपाते हुए कहा—"यह आपके सहयोग का पुरस्कार है, पारिश्रमिक नहीं"।

इसके बाद डॉक्टर साहब ने मुझे दिल्ली बुला लिया। वहाँ मैं उनके ही निवासस्थान पर ठहरा, और सहायक के रूप में कार्य करने लगा। उन दिनों डॉक्टर साहब एक हिन्दी शब्द-कोष तैयार कर रहे थे। काफी अरसे तक कार्य करने के बाद, उन्होंने मुझे कनाट सरकस में स्थित "सस्ता-साहित्य-मण्डल" में सहकारी संपादक के रूप में नियुक्त करा दिया। "मंडल" में डॉक्टर साहब की कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो रही थीं। उनमें से एक थी "पृथ्वीपुत्र"। यहाँ मुझे डॉक्टर साहब को और नजदीक से देखने का मौका मिला। उन्हें मैंने दिन में अधिक बात-चीत करते, सुस्ताते या निद्रा लेते नहीं पाया। कभी-कभी शाम के समय मेज पर बैठे-बैठे मुझसे कह देते कि पीठ कुछ अकड़ने लगी है। मैं अनुनय-विनय करता कि "थोड़ा दम ले लें तो मेज पर बैठें" किन्तु कार्य विरत होना उनके रक्त में नहीं था। ऐसा जीवट, अदम्य उत्साह! मुझे चट उत्तर मिलता था कि "समय भाग रहा है; निद्रा आ गई तो गए!" कार्य, कार्य, चारों ओर कार्य! बिना कार्य वाला जीवन क्या? मानो कार्य ही जीवन हो! उसके परे और कुछ नहीं। कभी-कभी उनके मन में भावों की, विचारों की बाढ़ आती थी। तब वह रात्रि के सन्नाटे में अपनी मेज पर अविरल कलम चलाते मिलते। एक बार उनसे "धरती" पर लिखने को कहा गया। मैंने यह बात उनसे शाम को कह दी। उन्होंने मुझे तैयार रहने को कहा। किन्तु दस बजे रात तक मैं उनके सामने मेज पर डटा रहा और वह अन्य कार्यों में ही लगे रहे। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि मैं किस हेतु उनके सामने कागज-कलम लिए बैठा हूँ। अन्त में मुझे सो जाने को कहा। रात को जब एक बजे मेरी नींद खुली तो देखा कि डॉक्टर साहब "धरती" पर कई पृष्ठ लिख चुके थे! उन्होंने संकेत से मुझे फिर सो जाने को कहा और प्रातः सात बजे लगभग बारह पृष्ठों का लेख उन्होंने मेरे हाथों में थमा दिया। बाद में जब यह लेख छपा, तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में धूम मच गई! भाषा का प्रवाह, विचारों का तारतम्य,

ठेठ ग्रामीण शब्दों का चुटीला-चोखा प्रयोग—कुछ ऐसे विशिष्ट गुण इस लेख में थे, जो एक ही साँस में लेख को पढ़ जाने के लिए विवश करते थे। डॉक्टर साहब संस्कृत और हिन्दी के असाधारण अधिकारी और सरस्वती के वरद पुत्र थे। अतः उन्होंने भारतीय इतिहास एवं साहित्य को अपने नवीनतम जगमगाते रत्नों से परिपूरित कर दिया। अपनी सार्वमौलिक प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने अनेक अभिनन्दन-ग्रन्थों का सम्पादन किया और साहित्य को लोक-जीवन तक पहुँचाने में महायोग दिया।

उनकी प्रबल धारणा थी कि भारत अपने गाँवों में बसा है। ये गाँव प्राचीन जनपदों के प्रतिनिधि हैं। इनकी भाषा, वेशभूषा, रहन-सहन में समुचित विकास होना चाहिए, जिससे इन्हें प्राचीन गौरव और श्रीसम्पन्नता पुनः प्राप्त हो सके। इस विषय पर उन्होंने दिल्ली में कई साहित्यिक गोष्ठियों में भाषण दिये। जिज्ञासु प्रश्नकर्ताओं का वह बड़े समय और विस्तार के साथ समाधान करते थे। उन्हें उत्तरी भारत के लगभग सभी गणमान्य विद्वान् जनपद-विचारधारा के अग्रिम प्रवर्तक मानने लगे थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते उन्होंने भारतीय कला-परम्परा का गहरा अध्ययन किया था। इस क्षेत्र में उन्हें डाक्टर कुमारस्वामी, हैवेल, डा० भण्डारकर, डा० राधाकुमुद मुकर्जी आदि से बड़ी प्रेरणा मिली थी। डा० कुमारस्वामी की पुण्यस्मृति में वह प्रति वर्ष किसी न किसी कार्यक्रम का आयोजन अवश्य करते थे। उनको लखनऊ और मथुरा के संग्रहालयों में कला-विषयक विशद ज्ञान प्राप्त हुआ। मथुरा-मूर्तिकला का वृहद् सूचीपत्र लम्बे अरसे तक मान्य रहेगा। विशिष्ट शैली को जाँचने-परखने में वह प्रवीण थे। कलाकृतियों को इतनी बारीकी से देखने के लिए उनके पास पैनी दृष्टि थी। मूर्तियों के उद्गम-स्थान, वेशभूषा, तिथिक्रम, प्रकार आदि इतने अचूक ढंग से व्यक्त कर देते कि सुननेवाला चकित ही रह जाता था! उन्होंने देश का कोना-कोना छान मारा था। उनकी कृतियों से ऐसा लगता है कि उन्होंने कई अज्ञात एवं महत्वपूर्ण स्थलों को भी देख लिया था, जिनके बारे में अनेक कलाप्रेमियों को अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। वह कहा करते थे कि हमको कला के पास जाना होगा, वह कला हमारे पास नहीं आएगी। वह कला के तुलनात्मक अध्ययन पर बहुत जोर देते थे, कहते थे कि भारत की कला-सामग्री विशाल और विस्तृत है। कलामर्मज्ञों को चाहिए कि लकीर के फकीर न बनकर मौलिक कार्य करें। मौलिकता और तुलनात्मक समीक्षा का पता उनकी विभिन्न कलाकृतियों से लगता है। वैसे उनकी पैठ भारतीय कला के सभी अंगों में थी, किन्तु कुषाण और गुप्तकला का जो चिरंतन रूप हमारे

सामने उन्होंने खोला था, वह अपूर्व और स्तुत्य है। उन्होंने मूर्ति, वस्तु, चित्र, मुद्रा आदि विभिन्न पुरातत्त्वीय क्षेत्रों में अपना समय लगाया था।

दिल्ली में उनके घर पर तथा कार्यालय में साहित्य, इतिहास, कला, ज्योतिष आदि के महारथियों की भीड़ लगी रहती थी। मुझे भी इनमें से कुछ के दर्शन मिल पाए थे। प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री वृन्दावनलाल वर्मा, राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, डॉ० अनन्त सदाशिवराव अलटेकर, डा० मोतीचन्द्र, पुरातत्त्ववेत्ता श्री कृष्णदेव आदि उनमें प्रमुख हैं।

सन् १९५० में डॉ० साहब ने बहुत प्रयत्नों के बाद मुझे नालंदा-पुरातत्त्व-संग्रहालय का अध्यक्ष नियुक्त करा दिया। उस समय ऐसी नियुक्तियाँ महत्वपूर्ण समझी जाती थीं। मुझे दुःख है कि मेरे कारण डा० साहब को पुरातत्त्व-विभाग के अधिकारियों को काफी कहना-सुनना पड़ा था। १९५१ में वह एक बार नालन्दा आए थे। उसके बाद उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु पुरातत्त्व-विभाग को त्याग दिया और काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय चले गये।

बाद में डाक्टर साहब की ही महान् अनुकम्पा से मेरा स्थानान्तरण नालन्दा से सारनाथ हो गया। सारनाथ में मुझे लगभग छः वर्ष रहने को मिला। इस लम्बी अवधि में डॉ० साहब से मेरा निरन्तर सम्पर्क बना रहा। प्रतिवर्ष वह अपने विद्यार्थियों को लेकर सारनाथ आते थे। साथ में पांडेपुर के रसगुल्लों की बाल्टी भी आती थी, जिसकी याद मुझे कभी-कभी रुला देती है। संग्रहालय में वह मुझसे छात्रों को समझाने के लिए कहते थे, लेकिन जब मैं कह देता कि "आपके आगे मैं क्या बोलूँ" तो मुस्कराकर वह स्वयं अपना भाषण आरम्भ कर देते थे।

डा० साहब से मुझे अनेक बातें सुनने और गुनने को मिलीं—जैसे शीलवान और परिश्रमी व्यक्ति की सहायता करना, जान-बूझकर अपराध करनेवाले व्यक्ति को समुचित दण्ड दिलाना, सबको समान दृष्टि से देखना, नियम पूर्वक काम करना, लोभ और मिथ्या विज्ञापन से बचना, सहायता देने के बाद चर्चा न करना, आँख खोलकर काम करना, सहायकों को पारिवारिक सदस्य मानना, सगे-सौतेले, की भावना को फटकने न देना, मनुष्यता की सही क़ीमत आँकना, सच्चा रास्ता किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ना, कानों से सुनने के बाद आँखों से देखकर भले-बुरे का पता लगाना, आज का काम कल के लिये नहीं छोड़ना, आदि-आदि।

मेरी दृष्टि में डाक्टर साहब योग्य एवं निर्धन का सहारा थे। उसे ऊपर उठाने वाले थे। जाति, वर्णभेद, ऊँच-नीच के संकीर्ण दायरों से वह बहुत ऊपर उठ गए थे। वह युगद्रष्टा थे। अपने ग्रन्थों में उन्होंने भावी भारतीय समाज एवं संस्कृति की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

वह हँसमुख और विनम्र चेहरा

श्री सुरेश सिंह

श्री वासुदेवशरण जी हम लोगों से सदा के लिए बिछुड़ गए। उनके निधन से हमारी भाषा का एक ऐसा विशाल वटवृक्ष अचानक सूख गया, जिसकी सघन छाया के नीचे बैठकर शतशः विद्यार्थी और शोधार्थी अपना ज्ञानवर्धन तथा अपनी जिज्ञासाओं का समाधान किया करते थे। ज्ञान का वह स्रोत जो अपनी शत-शत धाराओं से हमारी ज्ञान-पिपासा की शान्ति करता था, सदा के लिए शुष्क हो गया।

मुझे बचपन ही से पक्षियों से प्रेम था और उनके बारे में जानकारी प्राप्त करने की प्रबल इच्छा प्रारम्भ ही से थी। लेकिन यदि डॉक्टर साहब से मुझे इतना उत्साहवर्धन न मिलता, तो मैं प्राणिशास्त्र द्वारा हिन्दी की कुछ भी सेवा कर पाता या नहीं इसमें सन्देह है।

शरीर से दुर्बल रहने पर भी उनमें काम करने की ऐसी अद्‌भुत शक्ति थी कि उन-सा सक्रिय व्यक्ति मैंने कोई दूसरा नहीं देखा। मैंने जब उनके सम्मुख लखनऊ में प्राणिशास्त्र के प्रचार के लिए 'बाम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी' जैसी एक संस्था खोलने का प्रस्ताव रखा, तब वह प्रसन्न हो गए। उसी दिन से वह उसकी स्थापना में जी-जान से जुट गए। और जब तक वह संस्था स्थापित होकर चलने नहीं लगी, उन्होंने मुझे दम नहीं लेने दिया।

इस संस्था का नाम डॉक्टर साहब ने 'हिन्दी-प्रकृति-मण्डल' रखा और यह लगभग दो वर्षों तक सुचारु रूप से चली, लेकिन डॉक्टर साहब के दिल्ली चले जाने पर मेरे लिए उसका अकेले चलाना सम्भव न हो सका और वह सदा के लिए बन्द हो गई।

अभिमान जैसी कोई वस्तु भी संसार में होती है, डॉक्टर साहब ने कभी नहीं जाना। मुझे जीवन में बहुत-से विद्वानों के निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, लेकिन उन-सा सरल स्वभाव का निरभिमानी व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा। हिन्दी और संस्कृत के ऐसे प्रकाण्ड विद्वान्, जिन्हें खोकर आज हमारी भाषा अनाथ हो गई है, जब भारतीय साहित्य, दर्शन तथा कलाकृतियों के बारे में बताने लगते थे, तब वह मानों बालकों की तरह भोले और सरल लगते थे। अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करना वह जैसे जानते ही नहीं थे। और जिस बात को वह नहीं जानते थे, उसे पूछने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था।

इसका यथेष्ट प्रमाण मुझे उस समय मिला, जब वह 'पदमावत' की टीका कर रहे थे। चूँकि मेरी ननिहाल रीवाँ में है और रीवाँ में अधिक दिनों तक रहने के कारण जायसी की भाषा में बुन्देलखण्डी भाषा की पुट है, इससे डॉक्टर साहब 'पदमावत' में वर्णित भोजन, वस्त्र तथा पशु-पक्षियों के अर्थ तथा उनके अवधी रूप के बारे में मुझको अक्सर पत्र लिखा करते थे। जिस शब्द के लिए उन्हें जरा भी शंका रहती थी, वह उसका भली भाँति पता लगाकर ही उसे स्वीकार करते थे।

उदाहरणार्थ 'लगुना' शब्द को ही लें, जिसका जायसी ने एक जगह प्रयोग किया है—"जेते पसु लगुना बन बसे। चीतर गीड़न झाँक अरु ससे।"

किसी टीकाकार ने 'लगुना' को एक प्रकार का मृग लिखा है, तो किसी ने कुछ और; लेकिन वास्तव में 'लगुना' जंगल के उस भाग को कहते हैं, जो किसी मैदान या नाले से मिलता है। हाँके के समय सब जानवर आकर उसी में इकट्ठे हो जाते हैं और फिर अधिक दबाव पड़ने पर ही वे वहाँ से भागते हैं। रीवाँ की ओर 'लगुना' शब्द आज भी शिकारियों में प्रचलित है।

डॉक्टर साहब ने इस शब्द के लिए कई बार लिखा और जब तक उनको इसके अर्थ का पूर्ण रूप से सन्तोष नहीं हो गया, तब तक उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। उनके उस समय के कुछ पत्र यहाँ दे रहा हूँ, जिनसे आपको उनके परिश्रम तथा लगन की एक झाँकी मिल जायगी।

(१) म्यूजियम, १८—२—४१

प्रिय भाई सुरेश सिंह जी,

…………भारतीय जन्तु-जगत् के सम्बन्ध में मेरी जो मधुर कल्पना थी, उसे मैं आपके द्वारा चरितार्थ होता देख रहा हूँ। नामकरण के सम्बन्ध में जो मेरी सहायता अपेक्षित होगी, मैं प्रस्तुत हूँ। आपसे उस दिन जो हिन्दी नाम मालूम हुए, उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। आशा है, आपकी भेजी हुई अन्य सूचियों से यहाँ के नामकरण को व्यवस्थित करने में सहायता मिलेगी।

(२)

………आपने जो भारतीय चिड़ियों की सूची भेजी थी, वह मेरे बड़े काम की चीज है। उसे प्राप्त करके मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और उसके लिए मैं आपको जितना धन्यवाद भेजूँ, कम है। आपकी इस कृपा के लिए कि मैं उसका यथावश्यक उपयोग अजायबघर के कार्य में कर सकता हूँ, मैं और भी कृतज्ञ हूँ।

यह बहुत सुन्दर समाचार है कि आप अपना एकान्त का समय भारतीय पक्षियों के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखने में कर रहे हैं। भारतीय पक्षि-शास्त्र के जानकार हिन्दी में इने-गिने है और आपसे परिचय प्राप्त करके मुझे एकान्त आनन्द हुआ था। कृपा करके आप इस साहित्यिक कार्य को अवश्य पूरा करें, क्योंकि आपके सदृश पक्षि-जगत् का सुन्दर निरीक्षण बहुत कम लोगों ने किया होगा। संस्कृत साहित्य से भी इस सम्बन्ध की सामग्री को इकट्ठा करना होगा। पर वह कार्य पुस्तका या पंडिताऊ है और बाद में भी पूरा किया जा सकता है।

(३)

लखनऊ, ५–११–१९४३

………आपने जो मान मुझे दिया है, उसके लिए मेरा हृदय अत्यन्त कृतज्ञ है।……साहित्यिक क्षेत्र में आपका कार्य मुझे अभूतपूर्व और अभिनन्दनीय प्रतीत हुआ। आपने अपने-आपको इस अमृत क्षेत्र के साथ संयुक्त करके अपने लिए रस-ग्रहण का एक अक्षय स्रोत प्राप्त कर लिया है। संसार के वैभव का आनन्द जहाँ साथ नहीं देता, वहाँ भी साहित्य का रस व्यक्ति को आनन्द देता है। मैं जब आपकी परिश्रम-शक्ति को देखता हूँ, तब मुझे सच्चा आश्चर्य होता है। साहित्य-सेवियों की ऐसी साधना से मातृभाषा में रत्नों के कोष भर जाते हैं। ईश्वर आपकी इस प्रतिभा और एकनिष्ठता की उत्तरोत्तर वृद्धि करे। आप जैसे विनीत लेखक से हिन्दी को बड़ी आशाएँ हैं।

आपकी बार-बार की बीमारी से मेरे हृदय को दुःख हुआ था। अभी चिरगाँव गया था। गुप्त जी भी चिन्तित थे। मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि अब की बार घाव शीघ्रता से पूज रहा है। मैंने आहार में थोड़ा परिवर्तन करने की जो सलाह दी थी, उसे आपने इतने सहर्ष मान लिया, यह बड़ी शुभ बात है। घाव भरने के लिए रक्त का आहार की प्रतिक्रिया Alkanine (क्षारीय) होनी चाहिए। ऐसा मैंने पढ़ा और अनुभव किया है। आमिष का Reaction acidic (अम्लीय) होता है, जिसके कारण रक्त में पुराने विष पूर्ववत् संचित रह जाते हैं। प्रकृति के बार-बार भीतर से प्रयत्न करने का यही कारण जान पड़ता है। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने हितबुद्धि से वह बात आपको लिखना अपना

धर्म समझा। इस समय प्राकृतिक चिकित्सा विशेषत: आहार का ज्ञान करानेवाली दो-एक पुस्तकें आप पढ़ें, तो मन पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। Harry Benjamin कृत Your Diet in Health and Disease, 5th पुस्तक और Bernarr Macfadden कृत Eating for Your Health and Strength तथा Miracle of Milk पुस्तकें बड़ी रोचक और पठनीय हैं।·········

जो पुस्तक आपने भेजी थी, उसे मैंने यत्र-तत्र देखा। वह कुरान के अंशों का हिन्दी अवधी के दोहे-चौपाई में अनुवाद जान पड़ता है। उसके एक अंश का नाम दिया है—कयामतनामा, जिसमें मुसलमानी विश्वास के अनुसार इस विषय का वर्णन है। समय मिलने पर और अधिक देख सकूँगा। वह पुस्तक देखकर आपके पास भेज दूँगा या 'नागरी प्रचारिणी सभा' के हस्तलिखित संग्रह में।

(४)

लखनऊ, ३०–११–४३

२०–११–४३ का कृपापत्र मिला।

भारतीय पक्षियों के विषय में आप जो मौलिक कार्य कर रहे थे, उससे प्रभावित होकर उस कार्य का साहित्य जगत् में अभिनन्दन करके मैंने केवल अपने कर्त्तव्य का पालन किया, इससे अधिक और सब श्रेय आपको ही है। मैं उस दिन की बाट जोह रहा हूँ, जब एक ओर तो डेवर के जैसी रोचक शब्दावली से भरी हुई ५–७ पुस्तकें आप हमारे देश के गरुड़ के वंशजों पर लिख देंगे, और दूसरी ओर सैनफोर्ड जैसी एक वैज्ञानिक पद्धति से विषय का प्रामाणिक प्रतिपादन करती हुई बड़ी पुस्तक माता विनता की इस प्रभूति संतति पर, जिसने हमारे प्रकाश की गोद को भरा-पुरा कर रखा है, तैयार करके हिन्दी-साहित्य को कृतकृत्य करेंगे।

······आपके अतिरिक्त इस समय हिन्दी में और कोई इस कार्य की सिद्धि का वरदान नहीं प्राप्त कर सकता। सभा को आपने वह हस्तलिखित ग्रन्थ भेंट किया, इसके लिए धन्यवाद स्वीकार कीजिए। हाँ, एक कापी अलग बना लीजिए, उसमें पक्षियों की बोली, उनके रंग, उनके चुग्गे, बच्चे, घोंसले, उड़ान, झपट्टा आदिक, जंगल, बस्ती की यात्रा, जाया (बच्चा जनने की विशेषताएँ), नींद लेना, पानी में किलोल करना, धूप में नहाना, पालतूपना आदि उनके विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले शब्दों, मुहावरों, कहावतों और उस वर्णन के लिए चुस्त वाक्यों का जैसे-जैसे वे कान में पड़ें या ध्यान में आएँ संग्रह करते चलिए। यह पक्षी शब्दा-वली हिन्दी में Orinthological Vocabulary का काम देगी। इसी से हमारे साहित्य में यह शास्त्र पनप सकेगा। छोटे से छोटे ठेठ देहाती शब्द का भी स्वागत होना चाहिए। हमारी लेखनी उसे भी नागरिक साहित्य का नागरिक बना सकती

है। बया के घोंसले के लिए 'झोंझ' शब्द मैंने अक्सर गाँवों में सुना है। वह घोंसले से कहीं चुस्त है। वह बया के झूलते हुए तिनकों से गूंथे हुए घर का रूप खड़ा कर देता हैं। एक बार गांव में बैठा था। एक ठाकुर जमींदार ने बातचीत के सिलसिले में कहा—ये इनको ऐसे वश में कर लेते हैं जैसे गुरसल भैंसे को ढाह लेती है। इसका मतलब था मृदु उपाय से वश में करना। गुरसल को आपने भी भैंस की पीठ पर सवार दिल्लगी करते देखा होगा। धीरे-धीरे भैंस को ऐसा गुदगुदाती है कि भैंस स्वयं लेट जाती है और गुरसल अपनी चोंच से खुजलाहट मेटती रहती है।

हमारे जनपद इस प्रकार की शब्दावली में बड़े धनी हैं। वहाँ काम करने से ही उनके खजाने का पता चलता है। ऐसा मालूम होने लगता है कि पारिभाषिक शब्दों के कुबेर-कोष के साथ किसी ने हमारा परिचय करा दिया हो। मैंने इस दृष्टि से चार जनपदों में कुछ थोड़ा काम अभी तक किया। मेरठ, गढ़वाल, जौनसार, झाँसी और सब जगह एक सा ही अनुभव मिला। केवल गाय-भैंस के नामों से सम्बन्धित ५० शब्द मेरठ की बोली में एक गाँव में मैं इकटठा कर सका, जिनमें तो कई का सम्बन्ध वेदकाल और पाणिनिकाल की भाषा से था। आप स्वयं अपने विषय में पर्याप्त रुचि रखते हैं और बहुत सा काय उस दिशा में कर भी चुके है। आपसे अच्छा कौन जानता है कि गाँवों में कितना मसाला इस प्रकार के शब्दों का भरा पड़ा है। क्या ही अच्छा होगा जब हमारे साहित्यिक घर की इस महान् निधि की ओर ध्यान देंगे।

(५)

काशी-विश्वविद्यालय
२१–३–५७

विशेष प्रसन्नता यह जानकर हुई कि अब आप क्रमशः स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं। 'जीव-जगत्', 'शिकार के पक्षी' एवं 'भारतीय पक्षी' इन तीन पुस्तकों का १५०० पृष्ठों का साहित्य आपकी कीर्ति-पताका में नई वैजयन्ती जोड़ देगा। निस्संदेह आपने पिछले चालीस वर्षों में पशु-पक्षी संसार के मौलिक अनुसन्धान में जो साका किया है, उसकी उपमा हिन्दी क्षेत्र में तो नहीं मिलती। जो सामग्री का सुमेरु तिल-तिल करके आपने जोड़ा है, वह मातृभाषा हिन्दी के चरणों में अर्पित करके आपका मन अपूर्व शान्तिलाभ करेगा। ऐसा मैं मानता हूँ।..... ...

मैं भी इधर साहित्य के काम में लगा हूँ। महाभारत पर 'भारत-सावित्री' पुस्तक पूरी कर रहा हूँ। कला, साहित्य और वेद के अध्ययनक्षेत्र में नए द्वारों की खोज में हूँ।

डॉ० वासुदेव :: मेरे गुरु

डॉ० आनन्द कृष्ण

जब पहली बार अतिथि के रूप में वासुदेवशरण जी काशी में हम लोगों के यहाँ टिके, तब किसी को यह भान भी न था कि उसी मात्रा में वह हमारे परिवार के अंग बन जाएँगे। पर उनकी निश्छलता ने सबको मोह लिया। वह गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए भी सच्चे साधु थे— नरसी मेहता की परिभाषा में सच्चे वैष्णव। यह बात प्रायः १९४० की होनी चाहिए।

उन्होंने मथुरा-संग्रहालय में रहते हुए भारतीय कलाओं का गहन अध्ययन किया था। उनके प्रकाशन संसार के सम्मुख आ रहे थे और उनमें कुमारस्वामी की परम्परा अग्रसर होती दीख रही थी। भारतीय मूर्तिकला की कुंजी प्राचीन संस्कृत, पाली, अपभ्रंश साहित्य में है। यद्यपि पूर्ववर्ती विद्वानों ने इस दिशा में काम किया था, तथापि भारतीय परम्पराओं के इस अथाह सागर में बहुत अधिक अन्वेषण अपेक्षित था। भारतीय कलाओं की पृष्ठभूमि में एक-एक शब्द की सार्थकता उन्होंने इसी भाँति प्रकट की।

सिद्धान्त के मामले में वह सर्वथा दृढ़ थे, जिसके अनेक उदाहरण आज भी लोगों की जबान पर हैं। काशी-विश्वविद्यालय के एक भूतपूर्व अधिकारी लोगों से प्रायः टेढ़ी-मेढ़ी बातें करते। परन्तु वासुदेवशरण जी पर रोब गाँठने के लिए जब उन्होंने कहा—"मैं किसी की परवाह नहीं करता!" तो उन्हें छूटते ही बड़े विनम्र रूप में, पर दृढ़ स्वर में, उत्तर मिला—"मैं भी नहीं करता।" उसके बाद फिर ऐसी नौबत नहीं आई। वस्तुतः अध्यापकों की प्रतिष्ठा की उन्होंने जितनी रक्षा की और इसके लिए जितना बलिदान किया उतना अन्यत्र कम ही मिलेगा। एक बार तो वह नौकरी छोड़छाड़कर कुटिया छवाकर बसनेवाले थे।

उनकी ईमानदारी अडिग थी। स्वर्गीय एन० सी० मेहता उन दिनों उत्तर प्रदेश सरकार के सचिव थे और 'भाई साहब' (स्व० वासुदेवशरण जी) लखनऊ में राजकीय संग्रहालय के अध्यक्ष थे। एक बार हम लोग उनके साथ लखनऊ-संग्रहालय (तब पुरानी इमारत में) गए। उन दिनों 'भाई साहब' ने एक घर का टाँगा रखा था, जो उनकी सवारी में रहता था। एक दिन उन्होंने उसके घोड़े को म्यूजियम के अहाते में चरते देख लिया। बस, तुरन्त कोचवान बुलाया गया और हुक्म हुआ कि अब ऐसा न हो! उनके शब्द आज भी मेरे कानों में गूँजते हैं--"अजायबघर की घास मेरे घोड़े को न पचेगी!"

उनका परिवार यद्यपि लखनऊ में आकर बस गया था, तथापि काफी हद तक इन लोगों के संस्कार मेरठ जनपद ही के थे। वासुदेवशरण जी को अपनी इस परम्परा पर गर्व था। डॉ० मोतीचन्द्र जी के साथ जब उनकी मित्रता हुई, तब उनके जीवन में डबल रोटी जैसी चीजें आ गईं, अन्यथा इन सबका निषेध था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था--"मैंने जीवन में सोडावाटर तक नहीं पिया है।" चाय-काफी तो कोसों दूर थी।

एक बार दिल्ली में 'भाई साहब' (मेरे पिताजी से मिलने) लाला हरीचन्द जी के यहाँ गए। वह खाने-खिलाने के शौकीन थे, बल्कि उनका आग्रह सीमा पार कर जाता था। हम लोगों के साथ डॉ० मोतीचन्द्र जी भी वहीं टिके थे। डॉ० साहब खाने की चीज थाली में छोड़कर उठने के विरोधी सदैव रहे। उनका तो बुरा हाल था, अक्सर आँखों में आँसू भरकर विनती करते, तब कभी-कभी ही छुटकारा पाते।

हरीचन्द जी ने बढ़िया काफी बनवाई थी। हम लोग उसे पी रहे थे कि भाई साहब वहाँ मिलने आए। लाला हरीचन्द जी ने स्वभावतः 'भाई साहब' से इतना आग्रह किया, बल्कि इतना दबाव डाला कि वह बिल्कुल लाचार हो गए। अन्त में अपने जन्म भर के नियम को तोड़कर काफी पीने ही वाले थे कि पिता जी ने बीच-बचाव कर किसी प्रकार उनको छुटकारा दिलवाया। पिता जी जानते थे, यदि भाई साहब ने काफी पी ली, तो कई दिनों तक उपवास आदि शारीरिक यन्त्रणा से ही वह अपनी शुद्धि करेंगे!

जनपदीय प्रेम ने उन्हें जनपदीय संस्कृति की ओर आकृष्ट किया। पहले तो वह अपने घर ही में सुन पड़नेवाले शब्दों, मुहावरों या अन्य परम्पराओं का संग्रह करते रहे। फिर उन्होंने स्वयं तथा अपने सहयोगियों के द्वारा इस आन्दोलन को विस्तृत किया। एक बार उन्होंने लिखा था—'हिमालय से विन्ध्य तक का जनपद हमें पुकार रहा है।' जहाँ उन्हें काम का कोई शब्द मिला, उन्होंने नोट किया।

स्व० व्रजमोहन जी व्यास, प्रयाग-संग्रहालय के संस्थापक, 'भाई साहब' को नोट करते देखते, तो कहा करते——

"पहले नरपति अस भए, कवित सुनत कछु देत ।
अबके नरपति अस भए, कवित सुनत लिख लेत ।"

वह हिन्दी में लिखने के पक्षपाती थे । उन्होंने हिन्दी के भण्डार को कितने ही रत्न दिए और आगे भी देते । उनका अधिकांश सर्जन हिन्दी में हुआ । उनका शोध-ग्रन्थ 'पाणिनिकालीन भारत' लखनऊ-विश्वविद्यालय के अनुदान से जब अपने मूल अंग्रेजी रूप में छपा तो वह जैसे बेचैन से थे । हिन्दी-भाषी पाठक के लिए उसका सुलभ होना वह अपने कार्य का एक अंग मानते थे । उन्होंने अपने निजी व्यय से कम मूल्य पर उसका हिन्दी-संस्करण निकाला, तभी उन्हें सन्तोष हुआ । जब जवाहरलाल जी ने कलाभवन का उद्घाटन-भाषण अंग्रेजी में दिया, तब उन्होंने एक पुर्जे में लिखकर भेजा——'अब जनता के लिए कुछ हिन्दी में भी ।' जवाहरलाल जी को उनकी बात जँची और उन्होंने शेषांश को हिन्दी में पूरा किया ।

वह लगातार दिन-दिन भर अपने काम में लगे रहते । उससे उन्हें अनुराग था । उसी बीच लोग आते-जाते रहते । उनसे बातें भी कर लेते और फिर तत्काल अपने काम में रम जाते, मानो कोई व्यवधान ही न हुआ हो । वह समय का अधिक से अधिक भाग अध्ययन या लेखन में लगाते । यह धीरे-धीरे इतना बढ़ गया कि वह समाज से कतराने लगे । लोगों से मिलना-जुलना तो दूर, यदि लोग उनके पास आते, तो उन्हें जल्दी ही टाल देते । पर विद्यार्थियों, शोधकर्त्ताओं और विद्वानों से अधिक से अधिक बातें करते । एक बार बहुत आग्रह से लोग उन्हें एक नाटक दिखलाने ले गए । वह वहाँ बैठकर पुस्तक पढ़ने लगे ! डॉ० मोतीचन्द्र की कन्या की बारात आनेवाली थी । सैकड़ों व्यक्ति दीवानखाने में उसके स्वागत में बैठे थे । उन्हीं के बीच 'भाई साहब' अपनी पुस्तकों के प्रूफ देखने लगे और बारात के आते-आते उन्होंने प्रूफ का काम समाप्त कर डाला ।

कभी-कभी काम करने में उन्होंने हठयोग भी किया, जिससे स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा । एक बार मैं उनके पास गया, तो पाया कि थककर पड़े हैं । उन्होंने बताया कि एक आसन पर बैठकर वह विगत ३६ घंटों तक प्रूफ देखते रहे थे । इस बीच कुछ खाया-पिया भी नहीं । इन्हीं अत्याचारों से उनका शरीर जर्जर हो गया । जब वह स्वस्थ थे, तब स्वयं कहा करते थे कि कितना ही काम करता हूँ, कभी थकान नहीं आती । 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के 'विक्रमांक' के सम्पादन के समय हम लोगों ने यह पाया कि वह सुबह छह बजे से बारह बजे रात तक अनवरत

लिखते या डिक्टेशन देते रहते थे। बीच-बीच में घर के बने पेड़े खाते रहते थे, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय थे।

भारत के स्वतन्त्र होने के पहले ही वह दिल्ली चले गए थे। वहाँ पुरातत्त्व-विभाग के अन्तर्गत मध्येशिया-संग्रहालय के तथा उसके साथ उक्त विभाग के अधीन सभी संग्रहालयों के वह अधिकारी थे। अंग्रेजी साम्राज्य ने विदा लेते-लेते भारतीय कलाओं की एक विराट् प्रदर्शनी लन्दन में की थी। उसमें भारतीय संग्रहालयों ने अपनी चुनी हुई वस्तुएँ भेजी थीं। रियासतों से चीजें उधार मिलीं और स्वयं इंगलैण्ड के विश्वविख्यात संग्रहों के भारतीय कलारत्न तो उपलब्ध ही थे। उक्त प्रदर्शनी के समाप्त होने पर सामग्री लौटकर भारत आई और राष्ट्रपति-भवन के दरबार-हाल में उसकी एक प्रदर्शनी हुई। 'भाई साहब' ने बहुत दौड़-धूप के बाद अनेक व्यक्तियों और संस्थाओं को इस बात पर राजी कर लिया कि उक्त वस्तुएँ राष्ट्रीय संग्रहालय में रह जाएँ। इस प्रकार राष्ट्रीय संग्रहालय को प्रारम्भ में ही एक बड़ा भंडार मिल गया।

वासुदेवशरण जी का हिन्दू-धर्म जागरूकता, सहिष्णुता और जीवन-दर्शन पर आधारित था। जिस धर्म में मनुष्यता के कुल नियमों को तत्त्व रूप में ग्रहण किया गया है, जिसमें उपासना के किसी भी मार्ग के लिए अवरोध नहीं है, जो इन आर्य तत्त्वों को मनुष्य मात्र के लिए सुलभ करता है, उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता है? परवर्ती कुछ वर्षों में उनका बहुत-सा समय हिन्दू धर्म के प्रतीकों की दार्शनिक व्याख्या में अर्पित हुआ। इस दिशा में उनकी खोजें ठोस धरातल पर आधारित थीं। एक बार उन्होंने बड़े विस्तार से और गहनतापूर्वक यह समझाया था कि शुंग-कुषाणकाल में ईरान के अग्नि-पूजक धर्म का किस प्रकार वैष्णव धर्म में भारतीयकरण हुआ था।

हिन्दू-धर्म और विशेष रूप से वैष्णव धर्म के प्रति उनकी जो अपार श्रद्धा थी, उसके फलस्वरूप किसी भारतीय अथवा अभारतीय धर्म के प्रति वह विद्रोही न बने। विशेष रूप से जैन और बौद्ध सम्प्रदायों के विपुल वाङ्मय में उनका सहज प्रवेश था। वह इन्हें हिन्दू-धर्म के प्रति विद्रोह नहीं, वरन् उसी का एक विकास मानते थे। इन सम्प्रदायों के प्रति उनका दृष्टिकोण पारस्परिक समष्टि वाला था, मतभेद वाला नहीं।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

वह कपिल और कणाद की कोटि में थे

श्री कृष्णानन्द गुप्त

वह हिन्दी के अकेले लेखक थे, जिनकी विद्वत्ता और विनम्रता के समक्ष मेरा मस्तक श्रद्धा से नत हुआ। आज से बीस साल पहले एक बार अपने एक पत्र में मैंने उन्हें लिखा था कि 'हिन्दी की श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कृतियाँ भी मुझे बहुत कम आकृष्ट कर पाती हैं, किन्तु आपने मुझे अनायास अपना एक भक्त और प्रशंसक बना लिया है।' उनकी भाषा मुझे बहुत प्रिय लगती है-- एक साथ ही गम्भीर और प्रसाद गुण विशिष्ट। मैं उसे 'उल्लासमयी' कहता था। उन्हें यह विशेषण बहुत पसन्द आया।

मुझे सन् ४२ या ४३ के आसपास उनके निकट परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब से वह बराबर मेरे ऊपर कृपा करते रहे। मेरी 'लोकवार्त्ता' पत्रिका उन्हें बहुत प्रिय थी। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था---'मेरे यहाँ जितनी पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं, उनमें 'मधुकर' और 'लोकवार्त्ता' इन दो को मेरा मन विशेष रूप से ग्रहण करता है।'

वह स्वभाव से बड़े सरल और भोले थे। अहम्मन्यता उन्हें छू भी नहीं गई थी। मैंने कभी किसी की निन्दा करते उन्हें नहीं सुना। उनके अधरों पर सदैव बालकों जैसी एक शुभ्र और मधुर मुस्कान खेलती रहती थी। मित्रों को पत्र लिखते समय वह अपना हृदय उँड़ेल देते थे। और जब कभी किसी गम्भीर विषय की चर्चा पत्रों में करने बैठ जाते, तब अनायास विचारों के अनबिंध मोती पिरोते जाते थे।

वह कपिल और कणाद की कोटि में थे। उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता उनकी सहज विनम्रता के योग से शोभित और कृतकृत्य थी। उनके निधन से हिन्दी की ही नहीं, विश्व-वाङ्मय की अपार क्षति हुई है।

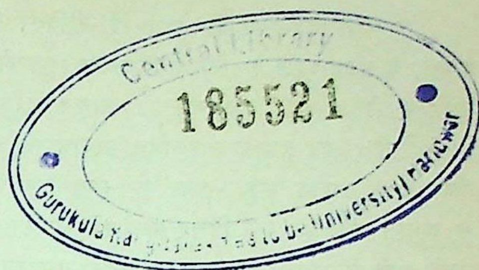
निरन्तर साहित्य-साधना में रत रहकर और अथक परिश्रम करके उन्होंने अपने शरीर को घुला डाला था। वह एक अर्से से अस्वस्थ थे, यह तो सभी को पता था और उनके सभी मित्र इसके लिए चिन्तित भी थे। पर पत्रों में उनकी अन्त समय की बीमारी और चिकित्सा का कैसा क्या विवरण प्रकाशित हुआ, यह एक देखने की बात है। उससे इस बात का अन्दाज आसानी से लगाया जा सकता है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में स्वयं अपने पैरों के बल खड़े होने की कितनी शक्ति विद्यमान है और हम स्वयं उसे कितना बल और जीवन प्रदान कर रहे हैं! यह एक दैनिक मेरे सामने पड़ा है। उसमें वासुदेवशरण जी के निधन का समाचार अत्यन्त साधारण ढंग से एक मामूली हेडिंग देकर छापा गया है! इसके पहले उनकी अस्वस्थता का कोई समाचार उस पत्र में मैंने नहीं पढ़ा! हर देश और काल में राजनीतिक पुरुष अपनी मृत्यु के दस वर्ष बाद भुला दिये जाते हैं; केवल इतिहास के पन्नों में उनका नाम रहता है। किन्तु वासुदेवशरण जी तो उन व्यक्तियों में से थे, जो काल को चुनौती देकर सदैव जीवित रहते हैं!

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभारपूर्वक)

'उनकी दृष्टि में छोटी से छोटी प्राचीन वस्तु का भी बड़ा मूल्य था!'

'भारत की पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री को वह प्राणों के समान प्रिय वस्तु मानते थे! उनकी दृष्टि में छोटी से छोटी प्राचीन वस्तु का भी बड़ा मूल्य था। जिन प्राचीन स्थानों को उन्होंने देखा, उनके बारे में उन्होंने अधिक से अधिक जानकारी अपने देशवासियों को दी। उनके ध्यान में यह बात रहती थी कि कहाँ कौन वस्तु सुरक्षित किए जाने योग्य है। इसके लिए वह सरकार को सुझाव भी देते थे। डॉ० वासुदेवशरण जी से इस विषय में मेरी कई बार बातें हुईं। उन्हें यह पता था कि मैंने उत्तराखंड की अनेक बार यात्रा की है। मेरे गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, बद्रीनाथ एवं अन्य स्थानों में जाने का उन्हें पता था। वह भी कई स्थानों की यात्रा कर आए थे। उनका कहना था—'उत्तराखंड में प्राप्त प्राचीन ग्रंथों, ताम्रपत्रों एवं अन्य प्राचीन सामग्री का विधिवत् संकलन एवं संरक्षण होना चाहिए।'

—श्री विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी'



डॉ० साहब का अन्तिम लेख

श्री प्रभुदयाल मीतल

स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् और सुप्रसिद्ध प्राध्यापक होने के साथ ही साथ एक महान् लेखक भी थे। उन्होंने बहुसंख्यक प्रौढ़ ग्रंथों की रचना की है। उनकी रचना के विषय अनेक हैं--इतिहास, पुरातत्त्व, भाषा, कला, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि। उन्होंने लोक-संस्कृति से लेकर वेद-विद्या तक के विविध विषयों पर खूब जमकर लिखा है। इस सम्बन्ध में उनकी तुलना केवल महापण्डित स्व० राहुल सांकृत्यायन जी से की जा सकती है। यद्यपि राहुल जी की तरह अग्रवाल जी की जीविका लेखन-कार्य पर आधारित नहीं थी, फिर भी उन्होंने अनेक मसिजीवी लेखकों से कहीं अधिक लिखा है। वस्तुतः उन्हें लिखने का व्यसन था। राहुल जी ने अधिकतर ग्रन्थ ही लिखे हैं, वह सामयिक पत्रों में कम लिखते थे। किन्तु अग्रवाल जी द्वारा लिखित बहुसंख्यक ग्रन्थों के साथ ही साथ सैकड़ों लेख भी हैं, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। ग्रन्थों तथा लेखों के अतिरिक्त उनके कितने ही विद्वत्तापूर्ण भाषण हैं, और साथ ही विविध लेखकों के ग्रन्थों के लिए लिखी हुई अनेक सारगर्भित भूमिकाएँ एवं प्रस्तावनाएँ भी हैं।

मेरे एक ग्रन्थ 'अष्टछाप-परिचय' की भूमिका उन्होंने अब से प्रायः २० वर्ष पूर्व उस समय लिखी थी, जब वह दिल्ली में 'सेन्ट्रल एशियन म्यूजियम ऑफ एण्टीक्वटीज" के अधीक्षक थे। मेरे नवीनतम ग्रन्थ 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' की प्रस्तावना उन्होंने अपने देहावसान से कुछ समय पहले ही लिखी थी। इस प्रकार वह कदाचित् उनका अन्तिम लेख है। इसलिए यहाँ उसकी विशेष रूप से चर्चा की जा रही है।

डॉ० वासुदेवशरण जी ने अपनी जीविका का आरम्भ पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा, के संग्रहाध्यक्ष के रूप में किया था। उन्होंने ब्रज के इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में जो महान् कार्य किया है, उसकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी। वह ब्रज के सांस्कृतिक उत्थान की गतिविधियों में सदैव बड़ी रुचि रखते थे। उन्होंने 'मथुरा-कला' पर स्वयं लेख लिखा है, किन्तु वह ब्रज-संस्कृति के समस्त अंगों पर एक विशद ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता समझते थे। मेरा उनसे तभी से सम्बन्ध था, जब वह मथुरा-संग्रहालय में थे। मुझ पर उनकी बड़ी कृपा थी। जब मैंने उन्हें पत्र द्वारा सूचित किया कि कई वर्षों के परिश्रम के उपरान्त मैंने 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' लिखा है, जो कई बड़े-बड़े खण्डों में पूरा हुआ है, तब वह बड़े प्रसन्न हुए थे। जब इस ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय खण्ड छप गए और उन्हें एक जिल्द में प्रकाशित करने का अवसर आया, तब मैंने इसकी 'प्रस्तावना' लिखने के लिए उनसे पत्र द्वारा प्रार्थना की थी। उसका उत्तर मुझे तीसरे दिन ही मिल गया। उन्होंने लिखा कि ग्रन्थ के छपे हुए फार्म मिलते ही वह तत्काल प्रस्तावना लिखकर भेज देंगे।

अध्ययन, अनुसंधान और लेखन में अपरिमित श्रम करने के कारण डॉ० वासुदेवशरण जी का स्वास्थ्य बिगड़ गया था और वह कई वर्षों से अस्वस्थ चले आ रहे थे। दो एक बार वह अत्यंत रुग्ण भी हो गए थे। जब मैंने उन्हें प्रस्तावना के लिए लिखा था, तब उनके लेख 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' तथा अन्य पत्रों में बराबर प्रकाशित हो रहे थे। मेरे पत्र का तत्काल उत्तर देने और प्रस्तावना लिखने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान करने से भी मैंने समझा कि वह अब स्वस्थ हैं और अपना कामकाज यथावत् कर रहे हैं। मुझे उनके रुग्ण होने की तनिक भी आशंका न थी।

जिस समय मैं अपने ग्रन्थ की फाइल उनके पास भेजनेवाला था, तभी मान्यवर राय कृष्णदास जी का काशी से मथुरा आना हुआ और वह मेरे निवास-स्थान पर ठहरे। उनसे वासुदेवशरण जी के सम्बन्ध में बातचीत होने पर उन्होंने बतलाया कि वह तो कई महीनों से बीमार हैं! जब मैंने उनसे वासुदेवशरण जी के नित्य नए लेखों के प्रकाशित होने, नियमित रूप से पत्रोत्तर देने और मेरे ग्रन्थ के लिए सहर्ष प्रस्तावना लिखने की बात कही, तब उन्होंने खेदपूर्वक कहा—"यही तो बड़ी परेशानी है। वह रोग-शय्या पर होते हुए भी इन कामों को बराबर करते रहते हैं और डॉक्टरों तथा इष्ट-मित्रों के निषेध करने की कतई परवाह नहीं करते हैं। इससे उनका रोग असाध्य होता जा रहा है।"

राय साहब से यह सब मालूम होने पर मुझे बड़ी चिन्ता हुई। बहुत दिनों से डॉ० अग्रवाल जी से मिलना भी नहीं हुआ था। मैं उनके दर्शनार्थ काशी चल

दिया और साथ में अपने ग्रन्थ की पूरी फाइल भी ले गया। मैं उन्हें अपना ग्रन्थ दिखलाना अवश्य चाहता था, किन्तु उनसे प्रस्तावना के लिए कहने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं थी। जब मैं उनके निवासस्थान पर पहुँचा, तब उनकी शारीरिक दशा देखकर मैं स्तम्भित रह गया। वह अत्यन्त रुग्णावस्था में शय्या पर लेटे हुए थे। उनके शरीर में रक्त-मांस नाम मात्र को ही शेष था, यहाँ तक कि उनकी अस्थियाँ भी सूखकर तिनके जैसी हो गई थीं! वह उठने-बैठने में सर्वथा असमर्थ थे और नेत्रों की ज्योति के लुप्तप्राय हो जाने से वह ठीक तरह से देख भी नहीं पाते थे। केवल आगत व्यक्तियों को पहचान लेते थे और बोलकर लिखाए हुए लेखों और पत्रों पर हस्ताक्षर कर देते थे। मुझे बतलाया गया कि उन्होंने ५६ दिनों से अन्न ग्रहण नहीं किया था——केवल थोड़े से दुग्धाहार से ही वह अपने मूल्यवान् जीवन को चला रहे थे! ऐसी चिन्तनीय शारीरिक अवस्था में भी उनका मस्तिष्क सर्वथा सशक्त और उनकी प्रज्ञा पूर्णतया प्रखर एवं चेतन थी। वह अपने लिपिक को बोलकर नित्य नये लेख लिखवाते थे और विभिन्न स्थानों से प्रतिदिन आनेवाले बहुसंख्यक शोधार्थियों एवं विद्वानों की शंकाओं का सन्तोषजनक समाधान करते थे। उनके निवासस्थान में प्रातःकाल से सायंकाल तक सरस्वती की वह अजस्र धारा निरन्तर प्रवाहित होती थी, जो ज्ञानपिपासुओं की तृष्णा को शान्त करती रहती थी।

जब मैं उनके निवासस्थान पर पहुँचा, तब भी कई विद्वान् उन्हें घेरे हुए शास्त्र-चर्चा में व्यस्त थे। दो शोधार्थी अपने शोध-प्रबन्धों को दिखाकर उनसे उपयोगी सुझाव प्राप्त कर चुके थे। मुझे प्रणाम करते देखते ही उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कुशल-मंगल की पूँछताछ की और पहला प्रश्न यह किया कि मैं अपने ग्रन्थ के छपे हुए फार्मों की फाइल लाया हूँ या नहीं। मैंने उनसे निवेदन किया—"मैं फाइल अवश्य लाया हूँ, किन्तु मुझे खेद है कि आपकी शारीरिक अवस्था से अपरिचित होने के कारण ही मैंने आपसे प्रस्तावना लिखने की प्रार्थना की थी। आपने कृपापूर्वक अपनी स्वीकृति अवश्य प्रदान की है, किन्तु मैं अब इसके लिए आपको कदापि श्रमित करना नहीं चाहता।" अग्रवाल जी ने तत्काल उत्तर दिया—"नहीं, मीतल जी, मुझे बिल्कुल श्रम नहीं होगा। मेरा काम तो इसी प्रकार प्रतिदिन चलता है। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आपने एक बड़ा उपयोगी कार्य कर लिया।"

उसके बाद उन्होंने मेरे ग्रन्थ की विषय-सूची को सुना, जहाँ-तहाँ से अनेक पृष्ठों को पढ़वाया, कई विषयों पर पूँछताछ की। इसमें एक घंटा लग गया। तब तक पूर्वान्ह के साढ़े दस बज चुके थे। फिर भी उन्होंने अपने लिपिक से कहा—"जो मैं बोलता हूँ, लिखो।" लिपिक ने और साथ ही मैंने उनसे निवेदन किया—

"आप प्रातःकाल से अब तक बराबर व्यस्त रहे हैं। अब आप विश्राम कीजिए। फिर देखा जायगा।" तब कहीं उन्होंने मुझे दूसरे दिन प्रातः नौ-दस बजे आने के लिए कहा। दूसरे दिन जब उनके निवासस्थान पर पहुँचा, तब प्रस्तावना लिखी हुई तैयार थी! मुझे उनकी तत्परता पर बड़ा आश्चर्य हुआ! वह प्रस्तावना तो मेरे ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई, किन्तु उससे एक सप्ताह पहले ही डॉ० अग्रवाल परमधाम को सिधार चुके थे!

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

'सारा इतिहास दूर अतीत का अंश बनकर पुराण ही बन जाता है!'

"इतिहास-दर्शन का चिन्तन भारतीय दृष्टि से करते रहने के कारण उन्हें पुराणों को मथना पड़ा था। उससे प्रेरित उन्होंने एक बार मुझसे पूछा—'आखिर पुराणों की ही भाँति इतिहास दृष्टान्तमूलक क्यों न हो?' मैंने इसका केवल इतना उत्तर दिया था कि 'तब शायद वह इतिहास न होकर पुराण होगा और प्राचीनों ने इतिहास-पुराण दोनों का एकत्र और प्रायः संयुक्त उपयोग करके भी दोनों की संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न रखी हैं, सो उसमें व्यवधान हो जायगा। पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया, कहा कि 'सारा इतिहास दूर अतीत का अंश बनकर पुराण ही बन जाता है।'

"इस दृष्टि में निश्चय एक सचाई है—इतिहास जब कालातीत हो जाता है, उसका तिथिक्रम जब बिगड़ जाता है, या उसमें तिथिक्रम होता ही नहीं, या घटनाओं का तिथि से जब सम्बन्ध नहीं रह जाता, तब वह इतिहास तो नहीं रह जाता, पुराण फिर भी वह निश्चय बना रहता है, क्योंकि घटना का काल विशेष से सम्बद्ध रहना और कालक्रम से संयुक्त होना ही इतिहास होना है और इसी विचार से वह पुराण से भिन्न अपनी स्थिति भी कायम रख पाता है, वरना निस्संदेह समूचा इतिहास अतीत होने से, पुराना होने से पुराण तो है ही। —

डॉ० भगवत शरण उपाध्याय-द्वारा स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल के सम्बन्ध में लिखित संस्मरण का अंश।

विद्वद्वर वासुदेवशरण जी

ज्यो० राधेश्याम द्विवेदी

सन् ३० या ३१ की बात है, मेरा भारत-भारती के महान् भक्त विद्वद्वर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल जी से परिचय हुआ था, जब वह मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय में संग्रहालयाध्यक्ष (Curator) होकर आए थे। डैम्पियर-नगर की सबसे छोटी (बाबू नरसिंह दास जी वकील की) कोठी के एक भाग में वह टिके थे! उन्होंने सबसे पहला कार्य जो किया, वह था मथुरा के संस्कृत और हिन्दी के विद्वानों और प्रेमियों से परिचय प्राप्त करना। अतएव वह मेरे पूज्य पितृव्य ज्यो० बाबा शिवप्रकाश जी द्विवेदी, विद्याकलानिधि, से मिलने जोशी बाबा की हवेली पर आए! यहाँ आने की उनकी एक भावना यह भी थी कि इस हवेली में ढाई वर्ष महर्षि दयानन्द जी ने अपने मथुरावास में नित्य भोजन किया और ग्रन्थावलोकन किया था। दुबले-पतले एकहरे बदन के तथा श्यामवर्ण के यह सज्जन कुर्ता धोती पहिने, एक उपवस्त्र ऊपर डाले, अत्यन्त साधारण वेशभूषा में आए थे। फिर साहित्य-वाचस्पति सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार के यहाँ तथा हिन्दी-साहित्य-परिषद् की बैठकों में उनसे समय-समय पर भेंट हुई और स्नेह बढ़ा। उनकी विद्वत्ता की गहरी छाप मुझ पर पड़ी और इनसे कुछ ज्ञान प्राप्त करने को मैंने परिचय बढ़ाया। मैं नित्य प्रति प्रातःकाल वायुसेवन के लिए डैम्पियर पार्क में घूमने जाता था, अतः मुझे प्रातःकाल के समय इनके निवास-स्थान पर जाने में इनसे मिलने और शास्त्रीय तथा साहित्यिक चर्चा करने का अवसर मिल गया। अब मैं प्रायः नित्य उनकी कोठी पर उनसे मिलता। मैं जब भी जाता था, यह तखत पर बैठे चौकी पर कोई वेद, उपनिषद् या ब्राह्मण ग्रन्थ का अवलोकन करते मिलते। अनेक पत्र-

पत्रिकाएँ इनके पास आती थीं, जिनकी सामग्री पर वह रुचि के अनुसार मुझसे सहज चर्चा करते थे। अग्रवाल जी अन्तःकरण के कितने उदारचेता थे, इसको मैं शब्दों में लिख नहीं सकता। उनके अथाह ज्ञानसागर से अनेक जानने योग्य विषय मुझे जानने को मिले। सूर्य के सामने एक दीपक के समान भी मैं नहीं था, तथापि वह मेरा अत्यन्त आदर और सत्कारपूर्वक स्वागत करते, पास बिठाते, वेद-उपनिषद् या ब्राह्मण के किसी मंत्र की व्याख्या सुनाते। पुरानी बातें, ऋषियों की बातें, सुनने का मुझे बड़ा चाव रहता था। मैंने थोड़ा वेदाभ्यास भी किया था! किन्तु वेदमन्त्रों के अर्थों का महत्व नहीं समझता था। अतएव उन्होंने मुझे कई वेद के मन्त्रों का अर्थ समझाया! मैं उस समय 'औदीच्य बंधु' मासिक का सम्पादन करता था, अतएव उनसे प्रेरणा लेकर मासिक "औदीच्य बंधु" के प्रथम पृष्ठ पर प्रतिमास कोई एक वेदमन्त्र अर्थ सहित मैं प्रायः दे देता था! श्रद्धेय अग्रवाल जी ने ही मुझे पुरातत्व की ओर विशेष रुचि रखने की प्रेरणा दी! पुरातत्त्व का ज्ञान सबसे पहले उन्होंने ही मुझे कराया, यह लिखना अनुचित नहीं होगा। अपने देश की और संस्कृति की प्राचीन बातें जानने की मेरी प्रारम्भ से ही रुचि रही। इस अभिरुचि की वृद्धि में श्री अग्रवाल जी से मुझे प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला! पुरातत्त्व-संग्रहालय की अनेक प्राचीन मूर्तियों के विषय में सबसे पहले उन्होंने ही मुझे बातें बतलायीं।

मथुरा के साहित्यकारों को उन्होंने नयी प्रेरणा दी और उनमें जागृति उत्पन्न की। हिन्दी-साहित्य-परिषद् के सदस्यों तथा अन्य साहित्यिकों को एकत्रित करके उन्होंने अ० भा० ब्रज-साहित्य-मण्डल की स्थापना कराई। 'ब्रज-भारती' त्रैमासिक पत्रिका निकलवायी और ब्रज-साहित्य-मण्डल को अपना पूरा समय, सहयोग और मार्गदर्शन देकर उसे खड़ा कर दिया। मुझ जैसे अनेक साहित्य-प्रेमियों को लेखक बनाने में भी मार्गदर्शन किया। मैं अपने लेख कहीं प्रकाशित होने से पूर्व उन्हें दिखाता, जिसे वे आवश्यकता होती तो ठीक कर देते। इस प्रकार मैंने इनसे बहुत कुछ सीखा। वेद, उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों के ही नहीं, पुराण, इतिहास, काव्य और छन्दशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति, तथा धर्मनीति सभी विषयों के वह महान् ज्ञाता महापंडित थे। उनका जीवन, रहन-सहन ऋषितुल्य था। अत्यन्त सादा वेश, किन्तु महान् उच्च विचार इस महापण्डित में भरे हुए थे! उनका ज्ञान उस कल्पवृक्ष के समान था कि जो भी उसके पास जाता उसे वही प्राप्त होता। वह सच्चे राष्ट्रभक्त थे! सदैव खादी के ही वस्त्र पहनते थे! उनका मुझ पर आत्मीयवत् स्नेह था। जब-जब मैं उनके पत्र पढ़ता हूँ, तब मुझे उस महान् उदारचेता पुरुष की स्मृति हो आती है। उनके प्रति जो भी लिखा जाय, थोड़ा ही है।

वह संयम तथा तपस्या की मूर्ति थे

डॉ० शान्ता शर्मा

"शिवाय लोकस्य भवाय भूतये
य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं,
मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ।। श्रीमद्भागवत, १.४.१२

जिन महापुरुषों का भूतल पर अवतरण केवल विश्व-कल्याण के लिए होता है, जो दूसरों के उपकारार्थ जीवन धारण करते हैं, अपने लिए नहीं, वे विभूतिरूप महापुरुष असमय में ही क्यों शरीर त्याग देते हैं ? आश्चर्य है !

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एक महती विभूति के रूप में भारत-भूतल पर अवतरित हुए थे । उनका ऋषिकल्प जीवन भारतीय संस्कृति तथा धर्म का आदर्शमय प्रतीक था । उनका स्वभाव सरल तथा जीवन सादा था । उन्होंने कड़ी साहित्यिक साधना तथा तपश्चर्या की । वह संयम तथा तपस्या की मूर्ति थे--स्नेह, सद्भावना और सरलता के साकार स्वरूप । अपनी अहिंसा और सत्यमय जीवन के कारण वह कदाचित् उन औपनिषद ऋषियों के आदर्श जीवन के उच्च स्तर पर पहुँचने का प्रयास कर रहे थे, जिनके प्रति अगाध श्रद्धाभिभूत हो, कभी-कभी वह गदगद् वाणी से अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहते —"हम तो सोच भी नहीं सकते कि उन महर्षियों ने कितना महान् त्याग और कितनी तपस्या करते हुए उपनिषदों जैसे महान् सत्य का अन्वेषण किया था ! जंगलों में रहकर अपने जीवन की रुचि-अरुचि को भूल, केवल एक ही सत्य के विषय में चिन्तन करते रहना मानव के लिए सचमुच दुःसाध्य है !"

डॉ० अग्रवाल की साधना या तपश्चर्या का रूप उन ऋषियों की तपश्चर्या से भिन्न था, फिर भी उनकी साधना तप का ही पर्याय थी। वह जब तक जिए, भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, कला और इतिहास की सेवा करते रहे। इसलिए वह प्रकाण्ड विद्वान्, महान् विचारक, इतिहासवेत्ता, पुरातत्त्व के पण्डित तथा दार्शनिक सभी कुछ थे। उनका दृष्टिकोण उदार था। वह देशी-विदेशी सभी विद्वानों का समान रूप से आदर करते थे।

भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के नवनिर्माण के महायज्ञ में उन्होंने अपने शरीर, मन और प्राण से हवन किया। अपनी साहित्यिक साधना में उन्हें अपने खान-पान अथवा शयन की भी सुध नहीं रहती थी! बीस-बीस घन्टे एक ही स्थान पर अथवा एक ही मुद्रा में बैठकर साहित्य-सर्जन या चिन्तन करते रहना तथा अपने कृश शरीर की तनिक भी चिन्ता न करना, तपस्या नहीं तो और क्या है?

१९६० तक डॉ० अग्रवाल को स्वास्थ्य सम्बन्धी कोई चिन्ता नहीं थी। लेकिन आसपास के लोग तब भी कहते थे कि डॉ० अग्रवाल स्वास्थ्य की बलि देकर विद्या की सेवा कर रहे हैं। कई बार डॉ० अग्रवाल अपने शयन-कक्ष में न जाकर अध्ययन-कक्ष के तख्तपोश पर ही सो जाते थे। उनके पास एक कम्बल या लोई रखी रहती। कई बार नाश्ता पास ही पड़ा-पड़ा नीरस हो जाता और खाने के लिए कई बार याद दिलानी पड़ती। गर्मी हो या सर्दी, सभी ऋतुओं में, उनकी साहित्य-साधना का कार्यक्रम एक-सा चलता रहता था। अपने जीवन के एक-एक क्षण से उन्होंने कुछ न कुछ उपलब्ध किया था। डॉ० अग्रवाल द्वारा रचित इतना विशाल साहित्य इन्हीं क्षणों की उपलब्धि है। परन्तु इतना सब होते भी उनके अध्ययन-कक्ष का बाहरी दरवाजा सर्वदा सबके लिए खुला रहता था। उनसे भेंट करने के लिए किसी तीसरे व्यक्ति या चपरासी की सहायता नहीं लेनी पड़ती थी। वह अधिक बातचीत तो नहीं करते थे, परन्तु संक्षिप्त शब्दों में ही भेंट करनेवाले का प्रयोजन सिद्ध हो जाता था।

वह मितभाषी और प्रगल्भ वक्ता थे। उनकी वाणी ओजस्विनी थी तथा उनकी आँखों में तेज था। उनके संक्षिप्त और ओजस्वी शब्दों से आदमी प्रभावित हो उठता था और किसी का साहस नहीं होता था कि उनके सामने अधिक बात कर सके।

उनकी उक्तियाँ तर्कपूर्ण होती थीं। शिष्यों को समय-समय पर वह खूब करारी डाँट भी देते थे। एक दो बार उन्होंने मुझे इतना डाँटा कि मैं अपने कमरे में आकर खूब रोई थी। और एक बार जब मैंने अपनी सफाई देनी चाही, तब वह बोल उठे थे कि "तुम क्या अदालत में खड़ी हो?"

उनका हृदय सचमुच नवनीततुल्य था। उनके कमरे में चिड़ियाँ कई घोंसले बनातीं, बच्चे देतीं और कमरा तिनकों से भर देतीं, परन्तु डॉक्टर साहब की आज्ञा थी कि उन चिड़ियों को कुछ न कहा जाय। उनके अध्ययन-कक्ष में उनकी मेज के नीचे कुत्ते सोए रहते थे, मगर उन्हें नफरत नहीं होती थी।

गर्मी के दिनों की बात है, एक बार डॉक्टर साहब अपने कार्य में तल्लीन थे। अचानक उनका ध्यान एक छोटी-सी बालिका के क्रन्दन से भंग हो गया, जो सड़क पर अकेली रो रही थी। डॉक्टर साहब नंगे पाँव दौड़ते हुए सड़क पर चले गए। बालिका को उन्होंने गोदी में उठा लिया। उसके पैर की एक अँगुली से खून बह रहा था। वह उसे घर ले आए। बालिका के घाव को धोया, उस पर डिटॉल लगाकर पट्टी बाँधी और फिर उसे श्रीमती अग्रवाल के पास छोड़ गए! वह किसी का कष्ट नहीं देख सकते थे। श्रीमती अग्रवाल तो अपनी देशी औषधियों से आसपास के गरीब-गुरबों की पर्याप्त सेवा करती थीं। डॉक्टर साहब लोगों की आर्थिक सहायता भी करते थे। एक विदेशी विद्वान, जो उनसे वेदों में प्रतीक-योजना सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने आया था, उन्हीं के यहाँ रहता भी था। और भी कई लोग तथा विद्यार्थी उनके यहाँ पलते थे। डॉक्टर साहब स्वकार्य में रत होने पर भी अपने अतिथियों की सेवा का खूब ध्यान रखते थे।

उनका जीवन पूर्णतया संयमित और नियमित था। वह प्रातःकाल धोती-कुर्ता पहन, हाथ में छड़ी लेकर, लम्बी सैर के लिए निकल जाते। उस समय जो भी उनके साथ जाता, भाग्यशाली समझा जाता था, क्योंकि चलते-चलते बातों ही बातों में वह कई विषयों पर एक अच्छा खासा भाषण दे देते थे।

यौगिक आसन, अभ्यास तथा प्राणायाम में डॉक्टर साहब की पूर्ण आस्था थी। वह आसन जरूर करते। सूर्यासन उन्हें विशेष रूप से प्रिय था। स्नान से पूर्व वह कई आसनों का अभ्यास करते थे। यदि सुबह न कर पाते, तो संध्या के समय अवश्य कर लेते। प्राणायाम में उनका विश्वास था। एक बार जब अचानक लेटे-लेटे उनकी साँस उखड़ने लगी, तब रुक-रुककर वह अपनी पत्नी से पूछने लगे—"मैं प्राणायाम करूँ क्या?"

वेदों की प्रतीक-योजना पर बोलते-बोलते वह प्राणायाम की महिमा का बखान करने लगते और कहते थे कि कहीं-कहीं वेदमन्त्रों का सीधा सम्बन्ध प्राणायाम से है। इस प्रसंग में वह दामोदर सातवलेकर जी की प्रशंसा भी करते। एक बार सातवलेकर जी ने कहा था—"मेरी अवस्था अभी १०० वर्ष की नहीं हुई है। मैं अभी मध्य प्राण में चल रहा हूँ। मुझे १२५ वर्ष तक जीना है।" डॉक्टर साहब सातवलेकर जी की दीर्घायु का रहस्य प्राणायाम को ही मानते थे। परन्तु स्वयं

उन्हें नवसाहित्यसर्जन, नवान्वेषण तथा चिंतन से प्राणायाम करने का अवकाश ही कहाँ मिलता था !

डॉक्टर साहब के घर की पाकशाला की व्यवस्था कट्टर ब्राह्मणों के घरों जैसी थी। वहाँ मांस, मछली, अंडे आदि की तो बात ही क्या, प्याज भी नहीं घुस सकता था। वह कुशा के आसन पर बैठते तथा चौकी पर उनके सामने खाना परोसा जाता था। रसोई की व्यवस्था भारतीय ढंग से होती थी। उस घर में कोई बर्तन बिना हाथ धोए नहीं छुआ जाता था और स्नान किये बिना कोई भोजन नहीं बना सकता था।

दुर्भाग्य से वह मधुमेह रोग से ग्रस्त हो गए थे। उनका अत्यधिक झुकाव प्राकृतिक चिकित्सा की ओर था। इसलिए डॉक्टरों के बहुत कहने-सुनने पर भी वह इन्सूलिन नहीं लेते थे तथा ऐलोपैथी की दवाइयाँ भी उन्हें लेना पसन्द नहीं था। इसी इलाज से बचने के लिए तथा प्राकृतिक चिकित्सा के प्रति अगाध श्रद्धा के कारण वह अपने इलाज के लिए प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र भी गए थे। वहाँ उन्होंने स्वास्थ्यलाभ भी किया। कई बार ऐसा हुआ कि अपने सम्बन्धी तथा मित्र-जनों के कहने-सुनने में आकर एलोपैथी का इलाज कराकर वह पुनः प्राकृतिक चिकित्सा की ओर लौटे, परन्तु उन्होंने अपनी समस्त शारीरिक सत्ता साहित्यिक महायज्ञ में जला डाली थी। उस सत्ता को वह फिर से वापस नहीं ला सके।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से आभारपूर्वक)

'हे मनीषि, ऋषियों की परम्परा तुमने निर्वाही !'

'संस्कृति के आख्यानों की तुमने व्याख्या की नूतन,
वेदों और पुराणों के सिन्धु में कर अवगाहन !
हे मनीषि ! ऋषियों की परम्परा तुमने निर्वाही,
धन्य तुम्हारी मनस्विता है, प्रणम्य सार्थक जीवन।'

— श्री देवव्रत 'देव' (साप्ताहिक हिन्दुस्तान से)

निराला जी की भविष्यवाणी सच निकली

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेई

अगस्त १९४३ में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के नाम श्रद्धेय राय कृष्णदास जी का परिचय-पत्र लेकर जब मैं लखनऊ पहुँचा, तब मुझे यह अनुमान न था कि अग्रवाल जी के साथ मेरा वह परिचय इतना शीघ्र घनिष्ठता में बदल जायगा। यही नहीं, वह सम्बन्ध इतना स्थाई हुआ कि तब से लेकर उनके अन्तिम समय तक मैं उनके कुटुम्ब का एक सदस्य जैसा रहा! उन्हें मैंने अपना अग्रज सदृश माना और उनका स्नेह मुझे निरन्तर मिला।

प्रोफेसर अनन्त सदाशिव अल्तेकर जैसे प्रकाण्ड विद्वान् का शिष्य रह चुकने के बाद, यह मेरा परम सौभाग्य था कि मुझे अग्रवाल जी के कर्मठ निर्देशन में काम करने का अवसर मिला। पहले 'नागरी प्रचारिणी सभा' के काम से और बाद में मेरी नियुक्ति राजकीय संग्रहालय, लखनऊ, के पुरातत्त्व-संरक्षक के रूप में होने पर मैं कई वर्ष उनके साहचर्य में रहा।

१९४३ में विक्रम सम्वत् के दो हजार वर्ष समाप्त होने के अवसर पर, 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का एक बड़ा विशेषांक निकालने का आयोजन किया। इसके प्रधान सम्पादक वासुदेवशरण जी बनाए गए। इस योजना की पूर्ति के लिए मैंने अग्रवाल जी के साथ कार्य करना स्वीकार कर लिया। इसमें मेरा सबसे बड़ा लाभ उनके सान्निध्य का था। भारतीय संस्कृति, संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति उनके उत्कट अनुराग ने मुझे विशेष प्रभावित किया था।

अग्रवाल जी की दिनचर्या नियमित थी। प्रातःभ्रमण, सूक्ष्म आहार, मिलनेवालों से भेंट और शेष समय में अध्ययन-लेखन यही उनकी चर्या थी। राजकीय संग्रहालय, लखनऊ, के अध्यक्षपद का भार उन्होंने छः वर्षों तक वहन किया। इस कार्य-काल में उनके साहित्यिक मित्रों की संख्या में वृद्धि हुई। स्व० मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्णदास, डा० मोतीचन्द्र आदि विद्वानों का समागम प्रायः अग्रवाल जी के यहाँ होता था। विविध विषयों पर साहित्य-चर्चा होती रहती थी। इन गोष्ठियों में हम सबको अपार आनन्द मिलता था। इतिहास, पुरातत्त्व, कला और साहित्य पर चर्चाएँ बड़ी रोचक होती थीं।

अग्रवाल जी की रुचि लोक-साहित्य की ओर भी बढ़ चली थी। सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णानन्द गुप्त, सत्येन्द्र आदि का यदा-कदा लखनऊ आना होता था। इन लोगों के साथ लोक-साहित्य के सर्जनात्मक स्वरूप तथा उसके संरक्षण-प्रकाशन के सम्बन्ध में विविध विचार-विमर्श होते थे। लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने की इच्छा रखनेवालों के लिए अग्रवाल जी ने एक नई व्यावहारिक दिशा सुझाई। इस दिशा की मुख्य बात यह थी कि लोक-साहित्य का समाज के बहुमुखी परिवेश में अध्ययन किया जाए, न कि उसके एकांगी चमत्कारी रूप में। पिछले कई वर्षों में इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किए गए हैं। भारत के विभिन्न जनपदों के साहित्य का नई वैज्ञानिक पद्धति पर आकलन हुआ है, जो बहुत उपयोगी है।

भारतीय कला के सम्बन्ध में मुझे डा० अग्रवाल जी से अनेक बार उपयोगी परामर्श के अवसर प्राप्त हुए। वह डा० आनन्द कुमारस्वामी की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे। उनकी मान्यता थी कि भारतीय कला को केवल चारुत्व की दृष्टि से न देखा जाए, अपितु उसमें निहित उन भावों तथा तत्त्वों को समझने की चेष्टा की जाए, जिन्हें भारतीय चिन्तकों ने शाश्वत रूप प्रदान किया है। कला और साहित्य के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर अग्रवाल जी बराबर ध्यान देते थे। उनके अनेक लेखों में इस सम्बन्ध पर विशेष बल दिया गया है। बाद में उन्होंने पाणिनि, बाणभट्ट, कालिदास आदि मनीषियों की रचनाओं में प्राप्त ललित कला सम्बन्धी सामग्री का इसी व्यापक रूप में अनुशीलन किया। संस्कृत के विद्वान् होने के कारण वह प्राचीन भारतीय कला के मर्म को भली भाँति समझते थे। लोक-मानस के उदात्तीकरण में कला के योगदान की उन्हें परख थी।

जीवन के पिछले कुछ वर्षों में डॉ० अग्रवाल का रुझान वैदिक साहित्य तथा पुराणों की ओर हो गया। 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' उनके जीवन का लक्ष्य हो गया। भारतीय साहित्य, दर्शन और कला के मूल तत्त्वों के ज्ञाता होने के कारण

अग्रवाल जी ने इस साहित्य का मर्म अपने लेखों और ग्रन्थों में उद्घाटित किया। वेदविद्या को समझने और समझाने का जो कार्य इस विद्वान् द्वारा निष्पन्न हुआ, वह निस्सन्देह बड़े महत्व का है। इस विद्या को भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में नए रूप में समझने का प्रयास अग्रवाल जी ने किया। पुराण-साहित्य के आलोड़न में भी उनकी व्यापक पैनी दृष्टि सहायक हुई। इस साहित्य-सागर में अवगाहन ने कितने ही बहुमूल्य रत्न निकालकर विद्वानों के समक्ष रखे।

लगभग ३५ वर्षों के अपने साहित्यिक जीवन में डॉ० अग्रवाल द्वारा जो कार्य पूरा किया गया, वह अत्यन्त महान् है। इतिहास और पुरातत्त्व के विद्वानों में वह बराबर आदृत रहे। साहित्य के विद्यार्थियों तथा गणमान्य सर्जकों ने भी उन्हें आदर दिया। १९४१ में अपने अध्ययनकाल में जब मैं महाप्राण सूर्यकान्त 'निराला' से काशी में मिला और मैंने उन्हें यह बताया कि मैं एम० ए० में प्राचीन इतिहास और संस्कृति का अध्ययन कर रहा हूँ, तब उन्होंने पहला प्रश्न यह किया कि क्या मैं वासुदेवशरण अग्रवाल को जानता हूँ ? मेरे स्वीकार करने पर, निराला जी ने उनके सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा—"वासुदेवशरण एक प्रतिभावान् व्यक्ति हैं, जो शीघ्र ही भारतीय विद्या के विद्वानों में अपना स्थान बनाएँगे !" निराला जी की यह भविष्यवाणी सोलह आने सही निकली !

पिछले २३ वर्षों के घनिष्ठ सम्बन्ध को एक लघु लेख में व्यक्त करना मेरे लिए सम्भव नहीं। अग्रवाल जी की कितनी ही स्मृतियाँ उभरकर मेरे सामने आ रही हैं। अपने समस्त जीवन को वाग्देवी की सेवा में उन्होंने अर्पित कर दिया। उन्होंने संस्कृति को व्यापक दृष्टिकोण में समझा, पुराने मूल्यों के सच्चे रूप का उद्घाटन किया तथा राष्ट्रीयता की उदार भावना को अपनाया। उनके अनेक पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं, जो उनके अगाध पाण्डित्य के साथ सहज स्नेह से ओत-प्रोत हैं।

१६ अप्रैल, १९६६, को काशी-विश्वविद्यालय के कुछ काम से मेरा वहाँ जाना हुआ। उस दिन कई घण्टे अग्रवाल साहब के साथ रहने का मुझे अवसर मिला। भारतीय कला पर हिन्दी में कुछ ग्रन्थ प्रकाशित करने के सम्बन्ध में बात-चीत हुई। उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की कि प्राचीनतम काल से लेकर अब तक भारतीय कला के विभिन्न रूपों पर कालक्रमानुसार दस ग्रन्थ हिन्दी में लिखे जाएँ। उन्होंने गुप्तकालीन कला पर विशेष ज़ोर दिया। वह स्वयं उस पर उन दिनों पुस्तक तैयार कर रहे थे।

१७ अप्रैल, १९६६, को मेरी उनसे अन्तिम भेंट हुई। अपने सामने उन्होंने मुझे भोजन कराया। मेरे बहुत आग्रह करने पर भी उन्होंने साथ भोजन न करके

बाद में किया। उनसे विदा लेते समय मेरी आँखें छलछला आईं! ऐसा मेरे जीवन में पहली बार हुआ। क्या मेरी आत्मा ने यह जान लिया था कि उनके पार्थिव शरीर का अन्तिम दर्शन कर रहा हूँ? उनके दिवंगत होने का समाचार सुनकर जब मैं काशी पहुँचा, उसके कुछ समय पूर्व ही वह पार्थिव शरीर दग्ध हो चुका था।

मेरे नाम भेजा हुआ १५ मई, १९६६, का उनका अन्तिम पत्र इस समय मेरे सामने है, जिसमें उन्होंने हिन्दू-धर्म और प्राचीन मन्दिरों के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण बातें लिखी थीं।

जिस ऊर्ध्वबाहु तपस्वी ने माँ भारती को एक से एक बढ़कर सुगन्धित हार भेंट किए, 'चरैवेति' की भावना जिसके जीवन को अन्तिम क्षण तक आन्दोलित करती रही, जिस सहृदय ने मुक्त हस्त से ज्ञान-राशि को लुटाया, जन्म से वणिक् होते हुए भी जिसने ब्रह्मकर्म के उदात्ततम रूप का आचरण किया, उस रससिद्ध शब्द-शिल्पी को श्रद्धांजलि देते समय आज इस जन के पास उपयुक्त शब्द नहीं।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

'सारा जीवन दे दिया राष्ट्र-गिरा-संस्करण में'

"भारतीय दर्शन जिनका जीवन-दर्शन था,
जनपदीय आन्दोलन के प्रति आकर्षण था।
चली लेखनी नित जिनकी संस्कृत-संस्कृति पर,
हिन्दी भी क्यों दिव्य न होती उनकी कृति पर!
सारा जीवन दे दिया राष्ट्र-गिरा-संस्करण में
अग्रवाल साहब गए, वासुदेव की शरण में।"

—श्री श्यामसुन्दर 'बादल' (साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से)

'सादा जीवन, उच्च विचार' की प्रत्यक्ष मूर्ति

श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल प्राचीन भारतीय कला एवं साहित्य के मर्मज्ञ बिद्वान् थे और उनकी ख्याति २५ वर्ष पूर्व ही पर्याप्त मात्रा में फैल चुकी थी। उस समय मैं काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में पढ़ता था और एम० ए० का विद्यार्थी था। प्रख्यात खननकला-विशारद डॉ० ह्वीलर ने सन् १९४६ में 'हड़प्पा' में खनन-शिविर का आयोजन किया था। उसमें विद्यार्थी के रूप में मैं भी गया था। उस समय एक दिन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का सारगर्भित भाषण सुनने का अवसर मिला था। 'सादा जीवन, उच्च विचार' की वह प्रत्यक्ष मूर्ति थे और ज्ञान के अगाध भण्डार।

इसके बाद दिल्ली के राष्ट्रपति-भवन में भारतीय कला की प्रदर्शनी देखने का अवसर मिला---उस समय डॉ० अग्रवाल स्थानीय 'सैण्ट्रल एशियन एण्टिक्विटीज म्यूजियम' तथा 'केन्द्रीय संग्रहालयों' के अधीक्षक थे। इस प्रदर्शनी के आयोजन एवं व्यवस्था का समूचा श्रेय डॉ० साहब को ही प्राप्त था। उनके ही सुझाव पर 'भारतीय ललित कला अकादमी' की भी प्रतिष्ठा हुई थी। विदेशी विद्वान् डॉ० अग्रवाल की विद्वत्ता से प्रभावित थे और समय-समय पर उनके द्वारा मार्गप्रदर्शन की कामना करते थे।

शोधकर्त्ता के रूप में, सरस्वती के परमोपासक के रूप में, डॉ० अग्रवाल को मैंने सन् १९५१ में देखा, जबकि वह दिल्ली के मण्डी-हाउस के पास सरकारी 'बैरक क्वार्टर्स' में रहते थे। उस समय मैं एम०ए० परीक्षा पास करके, दिल्ली में 'फ्रेंच' भाषा सीखने तथा शोध-निबन्ध हेतु पुस्तक एवं लेखसूची तैयार करने के लिए आया

था। सौभाग्य से १५-२० दिन डॉ० अग्रवाल के निवासस्थान पर मुझे ठहरने का अवसर मिला था। उस समय यह देखकर अपार आश्चर्य हुआ कि वह तपस्वी किस प्रकार साधना में लगे रहते थे——अहर्निश अध्ययन एवं लेखन मात्र ही उनकी दिनचर्या थी ! रात को दो-तीन बजे तक जागना तो उनके लिए साधारण बात थी और फिर वह प्रातःकाल उठ बैठते थे। भोजन की उन्हें लेशमात्र भी चिन्ता न थी। १५ दिन वहाँ ठहरा——दोनों समय भोजन मेरे लिए बना, परन्तु डॉ० साहब ने एक समय भी भोजन नहीं किया। वह प्रातःकाल दही आदि लेकर संतुष्ट हो जाते और फिर स्थितप्रज्ञ हो अध्ययन में लग जाते !

शोध के क्षेत्र में डॉ० अग्रवाल कुछ कठोर थे। उनकी देखरेख में जब मैंने प्रथम शोध-निबन्ध तैयार करना प्रारम्भ किया, तब उन्होंने मुझे भी अहर्निश लगकर कार्य करने का उपदेश दिया था। इतना ही नहीं, वह लेखन-शैली में एक निश्चित एवं सुनियोजित परिपाटी का पालन करना श्रेयस्कर समझते थे। उस समय मुझे उन्होंने प्रारम्भ में ही चेतावनी दी कि 'शोध-कार्यकर्त्ता को सदा ईमानदारी का बर्ताव करना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति से कोई सूचना एवं जानकारी मिले, तो उसका समुचितरूपेण लेखादि में साभार उद्धृत करना हमारा कर्त्तव्य है।' इस आदर्श को डॉ० अग्रवाल ने स्वयं कार्यरूप में परिणत कर दिखाया।

कुछ वर्ष बीते, 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित 'सूत्रधार मण्डन' शीर्षक लेख को पढ़कर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसमें मेरा नाम कई बार उद्धृत किया गया था। डॉ० साहब की इस उदारता का मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा और मुझे कृतघ्न होने की दुष्वृत्ति से दूर रहने में बड़ी प्रेरणा मिली। एक बार मैंने भूल से डॉ० अग्रवाल के समक्ष एक विद्वान् की आलोचना कर दी, जो बहुत से पंडितों को अपने पास नियुक्त करके उनसे सामग्री प्राप्त कर उसका उपयोग अपने नाम से कर लेते थे। डॉ० अग्रवाल ने तत्क्षण मुझे डाँट दिया और कहा कि 'शोधकर्त्ता को सर्वदा ज्ञानपिपासु रहना चाहिए, न कि किसी की टीका-टिप्पणी में व्यस्त। जो ग्राह्य है उसे प्राप्त कर समुत्कर्ष की ओर बढ़ना चाहिए, किसी के दुर्गुणों पर दृष्टिपात करना घातक है।' डॉ० अग्रवाल वर्षों संग्रहाध्यक्ष के उच्च पदों पर आसीन रहे। वह एक सफल शासक एवं अधिकारी थे। १९५३ में जब मैंने जोधपुर में 'पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग' के अध्यक्ष-पद का कार्य सँभाला, तब उन्होंने अपने दिनांक २०–५–१९५३ के पोस्टकार्ड द्वारा मुझे बधाई-पत्र भेजा था। वह पत्र मेरी राजकीय सेवा के लिए एक मशाल का कार्य कर रहा है।

उनका उक्त अति मूल्यवान् स्मरणीय पत्र यह है:—

काशी-विश्वविद्यालय : २०–५–५३

प्रिय श्री रत्नचन्द्र,

जोधपुर से कुशल-पत्र पाकर अति आनन्द हुआ। भगवान् तुम्हारा अभ्युदय करें। कार्य में सफलता का रहस्य है——नियमितता, व्यवस्था, परिश्रम, सचाई, हितबुद्धि, निष्पक्षपात, समझदारी। सरकारी काम में नियमित रहना, आज की बात यथासम्भव कल पर मत टालना, जहाँ गड़बड़ी है वहाँ तुम्हारा हाथ लगते ही व्यवस्था उत्पन्न हो, ऐसा प्रयत्न करना। निरन्तर परिश्रम करते रहना। नौकरी को परिश्रम का स्थान समझो, आराम का नहीं। रुपये-पैसे के मामले में अखंड सचाई का सदा पालन करना। अपने सहयोगी और नीचे काम करनेवालों के प्रति हितबुद्धि और सहानुभूति से बरतना। कभी दलबन्दी में मत पड़ना। दोनों पक्षों की बात सुनकर भी अपनी समझ से काम करना। सब तुम्हें अपना मित्र समझें और फिर भी अपनी स्वतंत्रता कायम रखना। श्री सत्यप्रकाश (अपने संचालक महोदय) को अपनी बातें लिखते रहना——उनसे कोई बात छिपाना मत। जो काम हो, जैसी हालत मिली हो, उसकी सूचना देते रहना। नित्य समुत्कर्ष (Development) के लिए प्रयत्नशील रहना——यही सफलता की सीढ़ियाँ हैं।

शुभेच्छु

वासुदेवशरण।

"उनकी मेधा का विस्तार बहुत था!"

जन्म से ही उनकी बुद्धि बड़ी गहरी (स्वभावगम्भीरधी) थी, उनकी मेधा का विस्तार बहुत था; जैसे एक बड़े पात्र में बहुत-सी सामग्री समाती है वैसे ही उनके मन में प्रत्येक विषय की अतुलित सामग्री भर जाती थी। दूसरे वे प्रत्येक वस्तु की जानकारी प्राप्त करने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। वह कहते हैं——'अतिपरवानस्मि कुतूहलेन', अर्थात् किसी नई बात जानने के लिए मेरे मन में तुरन्त ही कुतूहल का ऐसा वेग उठता है कि मैं लाचार हो जाता हूं।"

——महाकवि बाणभट्ट की प्रशस्ति में अंकित डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के उद्गार, जो स्वयं उनकी अपनी मेधा-प्रतिभा के संबंध में भी शतशः चरितार्थ हैं!

उन्होंने अधिकांश हिन्दी में क्यों लिखा ?

श्री सी० शिवराम मूर्ति

डॉक्टर अग्रवाल को केवल अध्ययन में ही रुचि नहीं थी, बल्कि साहित्य में निरूपित विभिन्न प्रकार के प्रसंगों और विचारों पर वाद-विवाद करने में भी उन्हें रस आता था। उसी रुचि के साथ उन्हें समझने का भी प्रयत्न वह करते थे। अपने साथी विद्वानों के साथ ऐसे विषयों और प्रसंगों पर वाद-विवाद करने की उनकी अत्यधिक रुचि पर मुझे सदैव विद्यानाथ द्वारा किए गए प्रतापरुद्र के वर्णन की याद आती है कि वह किस प्रकार कवियों के साथ साहित्यिक वाद-विवाद करने में आनन्द प्राप्त करते थे—'गोष्ठिभिः परितोषयन् बुधगणाम्।'

मुझे याद आता है कि किस प्रकार उनका घर साहित्यिक मित्रों से भरा रहता था और किस प्रकार अपने उत्तम विचारों से वह मित्रों का मनोरंजन कर प्रसन्नता अनुभव करते थे।

संस्कृत-साहित्य के उत्कृष्ट रत्नों को हिन्दी में प्रस्तुत करने की उनकी जितनी तीव्र इच्छा थी, उतना ही उन्हें संस्कृत-साहित्य से उत्कट प्रेम था। उनकी यह इच्छा थी कि साधारण वर्ग के व्यक्ति भी काव्यों और महाकाव्यों के बारे में जानें। ···जब मैंने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि वह अधिकांश हिन्दी में ही लिखकर संसार के बहुत-से अन्य व्यक्तियों को अपनी कृतियों से वंचित रख रहे हैं, तो उन्होंने मुझसे कहा था कि उनका पहला कर्त्तव्य अपने निकट के व्यक्तियों को अपने विचारों से अवगत कराना है। और सचमुच यदि वह ऐसा नहीं करते, तो निश्चय ही जो कुछ उन्होंने हमें दिया है, न दे पाते।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

भारतीय पुरातत्व-सामग्री उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय थी

श्री विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी'

वेद, पुराण और दर्शनों के ज्ञाता, भारतीय संस्कृति के पोषक, मानवता की प्रतिमूर्ति डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल अब इस लोक में नहीं रहे। शेष है उनका अमूल्य साहित्य, उनका शोध-कार्य और उनकी विद्वत्ता की वह स्मृति, जो उन्होंने न जाने कितने विद्वानों के हृदय-पटल पर अंकित की।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जीवनभर धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते रहे। उनका कहना था—"भारत के प्राचीन धर्मशास्त्रों में अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। इन्हें वे ही पा सकते हैं, जो इनकी खोज में समय लगाते हैं।" उन्होंने वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन करके, उस पर जो साहित्य समाज को दिया है, वह न केवल भारतवासियों को बल्कि संसार के अन्य व्यक्तियों को भी प्रकाश की ओर ले जाएगा।

पौराणिक साहित्य को भी उन्होंने बड़े परिमार्जित रूप में रखा है। पुराणों की कथाओं को उन्होंने ऐसे सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है कि उनके पढ़ने से मानव को अनेक शिक्षाएँ तो मिलती ही हैं, साथ ही उनके मन में अपने देवी-देवताओं और पूर्वजों के प्रति श्रद्धा भी उत्पन्न होती है। उन्होंने पौराणिक आख्यायिकाओं को कपोलकल्पित न मानकर इस रूप में प्रकट किया है कि उनसे मानव को धर्म के मार्ग में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिले। वेद, पुराण और धर्मशास्त्रों पर उन्होंने पचास से अधिक ग्रंथ लिखे हैं। भारत के प्राचीन इतिहास, कला-कौशल और विज्ञान पर भी उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की है। मुझे बताया गया है कि उनकी लिखी बहुत-सी पुस्तकों की पांडुलिपियाँ अभी ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं।

जहाँ तक उनके पुरातत्त्व-विषयक ज्ञान का प्रश्न है, वह अपने विषय के एक सुयोग्य एवं कुशल विद्वान् थे । भारत के जितने भी संग्रहालय हैं, उनमें कार्य करने-वालों में से अनेक उनसे निर्देश लेते रहे हैं । मुझे उनके कई ऐसे शिष्यों से मिलने का अवसर मिला, जो उनसे समय-समय पर अपनी कठिनाइयों को सुलझाने के लिए परामर्श लेते रहते थे । मुझे सागर-विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष श्री कृष्णदत्त वाजपेई से उनके सम्बन्ध में अनेक बार बातें करने का अवसर प्राप्त हुआ । वह उन्हें अपना मार्गदर्शक एवं सच्चा गुरु मानते थे । उन्होंने बताया कि 'मुझे या मेरे किसी साथी को जब कभी किसी वस्तु या मूर्ति के काल-निर्धारण में कोई कठिनाई हुई, तब हमने डॉ० वासुदेवशरण जी से सहायता प्राप्त करके उसे सुलझाया ।'

पुरातत्त्व-सामग्री की खोज में डॉ० अग्रवाल की विशेष रुचि रही । पुरातत्त्व-विभाग ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया । किसी कालेज में प्रोफेसर होकर काम करने की अपेक्षा उन्होंने उत्तर प्रदेश के राजकीय संग्रहालय (लखनऊ) में काम करना पसन्द किया । वहाँ वह क्यूरेटर के पद पर नियुक्त किए गए । उन्होंने इस संग्रहालय को सम्पन्न बनाने का भरसक यत्न किया । इसके पश्चात् वह दिल्ली के नेशनल म्यूजियम में कार्य करने लगे । देखा जाए तो वह इसके संस्थापक ही थे । इन्होंने इसे विस्तार देने का भरसक यत्न किया और बहुत-सी प्राचीन सामग्री एकत्र करके इसे सुन्दर रूप दिया ।

भारत की पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री को वह प्राणों से अधिक प्रिय वस्तु मानते थे । उनकी दृष्टि में छोटी-से-छोटी प्राचीन वस्तु का भी बड़ा मूल्य था । जिन प्राचीन स्थानों को उन्होंने देखा उनके बारे में उन्होंने अधिक से अधिक जान-कारी अपने देशवासियों को दी । उनके ध्यान में यह बात रहती थी कि कहाँ कौन वस्तु सुरक्षित किए जाने योग्य है । इसके लिए वह सरकार को अपने सुझाव भी देते थे ।

डॉ० वासुदेवशरण जी से इस विषय में मेरी कई बार बातें हुईं । उन्हें यह पता था कि मैंने उत्तराखंड की अनेक बार यात्रा की है । मेरे गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, बद्रीनाथ एवं अन्य स्थानों में जाने का उन्हें पता था । वह भी कई स्थानों की यात्रा कर आए थे । उनका कहना था—"उत्तराखंड में प्राप्त प्राचीन ग्रन्थों, ताम्र-पत्रों एवं अन्य प्राचीन सामग्री का विधिवत् संकलन एवं संरक्षण होना चाहिए ।" उनकी इच्छा थी कि बद्रीनाथ-मन्दिर-समिति इस कार्य को अपने हाथ में ले । उनका सुझाव था कि मन्दिर-समिति जोशीमठ में एक अच्छा संग्रहालय बना दे । उन्होंने मुझसे पांडुकेश्वर की मूर्तियों एवं वहाँ के ताम्रपत्रों की सुरक्षा किए जाने के

संबंध में भी चर्चा की थी। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि डॉ० सीताराम जी ने भी, जो बद्रीनाथ-मन्दिर-समिति के वर्षों तक अध्यक्ष रहे हैं, उक्त मन्दिर-समिति को सुझाव भेजा था कि सरकार बद्रीनाथ में एक संग्रहालय बना दे और वहाँ पर उत्तराखंड की पुरातत्त्व-सम्बन्धी सारी सामग्री एकत्र कर दे, ताकि उसका लाभ भारत भर से आनेवाले असंख्य यात्री उठा सकें।

डॉ० अग्रवाल जी ने मुझे सदा अपना स्नेह प्रदान किया। अभी पिछले दिनों दिसम्बर, १९६५, में वह काफी बीमार हुए थे। जब वह कुछ स्वस्थ हुए, तब उन्होंने मेरी पुस्तक 'हिमालय में भारतीय संस्कृति' की भूमिका लिखने की कृपा की। मेरा पुत्र वाराणसी में जब उनसे मिला, तब वह कहने लगे—"मुझे पुस्तक की भूमिका लिखने का साहस केवल इसलिए हुआ कि यह पुस्तक प्रेमी जी की है और मैं उनसे विशेष प्रेम रखता हूँ।"

श्री वासुदेव जी ने हिमालय का भ्रमण किया था। उनका कहना था—"हिमालय का अलौकिक सौन्दर्य मुझे अपनी ओर आकर्षित करता है, परन्तु वहाँ की यात्रा के लिए शरीर भी स्वस्थ होना चाहिए।"

उन्होंने लिखा है—"भारत के नवयुवकों के लिए आवश्यक है कि वे हिमालय के भूगोल को निकट से जानें। यह कार्य दो प्रकार से सम्भव है—एक तो प्रति वर्ष गर्मियों में छात्रों के दल यात्री रूप में हिमालय का भ्रमण करें, जिसका निर्देशन और व्यय विभाग की ओर से मिलना चाहिए, और दूसरा उपाय हिमालय-सम्बन्धी ग्रंथों को पाठ्यक्रम में स्थान देना है और विशेष व्याख्यानों का प्रबन्ध करना है।"

भारतीय संस्कृति के वह अनन्य भक्त थे। उनका कहना था—"पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में पड़कर हम अपनी आध्यात्मिकता की रक्षा नहीं कर सकेंगे। हमें पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से तो पूरा लाभ उठाना चाहिए, परन्तु वहाँ की सभ्यता का दास हमें नहीं बन जाना चाहिए।"

ज्ञान के कल्पवृक्ष

'शोध के विद्यार्थियों के लिए अग्रवाल जी कल्पवृक्ष थे। विभिन्न विषयों पर शोध-कार्य करनेवाले उनसे यथेष्ट ज्ञान उपलब्ध करते थे। उनसे मिलकर लौटनेवाले अनेक छात्रों ने मुझसे इस बात का बखान किया कि डॉ० अग्रवाल के रूप में उन्हें न केवल एक अधिकारी विद्वान् मिला, अपितु एक ऋषितुल्य महा-मानव के दर्शन का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।'—प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, अध्यक्ष, संस्कृति तथा पुरातत्त्व-विभाग, सागर-विश्वविद्यालय।

इतिहासवेत्ता और कला-समीक्षक

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का देहावसान भारतीय इतिहास और कला के क्षेत्र में क्षतिपूर्ण घटना है। यह क्षति मात्र हिन्दी की ही नहीं, सारे भारत की है। इस देश में कम लोग ऐसे हैं, या हुए हैं, जिनका साहित्य, संस्कृति, कला, पुरातत्त्व और इतिहास के विषयों पर समान रूप से अधिकार रहा है। वासुदेव जी ऐसे ही विद्वान् थे, जिनकी हानि उठा सकना सम्बन्धित अध्ययनक्षेत्र के लिए कठिन है।

मूलतः भारतीय दृष्टिकोण

मेरा उनसे सम्बन्ध घना और पुराना था —प्रायः चालीस वर्ष पुराना। तभी से उसका आरम्भ हुआ, जब सन् २५–२७ में हम दोनों हिन्दू-विश्वविद्यालय में पढ़ते थे—वह बी० ए० में थे, मैं आई० ए० में था। हम दोनों की समान रुचि थी। समान ही प्रयत्न भी थे—साहित्य, संस्कृति और इतिहास की दिशा में। दोनों साथ-साथ घंटों बैठते, इतिहास और उसकी प्राचीन और आधुनिक प्रवृत्तियों पर विचार करते। हम दोनों की इतिहास-सम्बन्धी दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न थीं। दोनों में प्रभूत अन्तर था। वह कालान्तर में परस्पर विरोधिनी भी हो गईं। वासुदेव जी का दृष्टिकोण मूलतः भारतीय था। इसी दृष्टि से प्रभावित उन्होंने डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के योग से संचालित भारतीय राष्ट्रीय इतिहास के खण्डों में गुप्त-युगीन खण्ड का औरों के साथ सम्पादन भी किया और उसका कला-सम्बन्धी अंश भी बड़े मनोयोग से लिखा। फिर भी यह राष्ट्रीय दृष्टिकोण श्री कन्हैयालाल

माणिकलाल मुंशी के दृष्टिकोण से, कम से कम अपनी प्रक्रिया में, सर्वथा भिन्न था। उसमें सीमित और अति-राष्ट्रीयता (शाविनिज्म) की गन्ध तक न थी। वह राष्ट्रीय प्रवृत्ति—जिसमें कुतुब-मीनार, ताज आदि हिन्दू बताए जा रहे हैं—उन्हें कतई मान्य न थी।

इतिहास और पुराण

इतिहास-दर्शन का चिन्तन भारतीय दृष्टि से करते रहने के कारण उन्हें पुराणों को मथना पड़ा था। उससे प्रेरित हो उन्होंने मुझसे एक बार पूछा था—"आखिर पुराणों की ही भाँति इतिहास दृष्टान्तमूलक क्यों न हो ?" मैंने इसका केवल इतना उत्तर दिया था कि 'तब शायद वह इतिहास न होकर पुराण होगा और प्राचीनों ने इतिहास-पुराण दोनों का एकत्र और प्रायः संयुक्त उपयोग करके भी दोनों की संज्ञाएँ भिन्न-भिन्न रखी हैं ; सो उसमें व्यवधान हो जाएगा !' पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया ; कहा कि 'सारा इतिहास दूर अतीत का अंश बनकर पुराण ही हो जाता है।'

इस दृष्टि में निश्चय एक सच्चाई है। इतिहास जब कालातीत हो जाता है, उसका तिथिक्रम जब बिगड़ जाता है, या उसमें तिथिक्रम होता ही नहीं, या घटनाओं का तिथि से जब सम्बन्ध नहीं रह जाता, तब वह इतिहास तो नहीं रहता, पर पुराण फिर भी वह निश्चय बना रहता है। क्योंकि घटना का काल विशेष से सम्बद्ध रहना और कालक्रम से संयुक्त होना ही इतिहास होता है और इसी विचार से वह पुराण से भिन्न अपनी स्थिति भी कायम रख पाता है, वरना निःसंदेह समूचा इतिहास पुराना होने से पुराण तो है ही।

वासुदेव जी का कहना था कि दृष्टान्तपरक इतिहास में——जहाँ इतिहास सामाजिक जीवन का लाभकर प्रयत्न होता है—तिथि का दैत्य प्रविष्ट होकर अनर्थ करता है और कालबोध का ज्ञान दूरी के कारण दृष्टिगत न होने से व्यर्थ हो जाता है। जैसे अगर मान्धाता के विषय में कोई कहे कि चार अरब, तेरह करोड़, सत्ताइस लाख, अट्ठावन हजार पाँच सौ तीन साल हुए, जब वह राजा हुआ था। तब संख्यापरक वाक्य में निहित बोध को कोई हृदयंगम नहीं कर पाएगा और न इस बोध को धारण कर लेने पर ही उसका कोई विशेष फल होगा, अतिरिक्त इस उपलब्धि के कि अत्यन्त प्राचीन काल में मान्धाता नाम का एक राजा था, जितना कहने से ही दृष्टान्तमूलक इतिहास का उद्देश्य सफल हो जाएगा। उसी दृष्टि से 'इतिहास-दर्शन' शीर्षक से उन्होंने 'माधुरी' में (शायद) एक लम्बा और विशिष्ट लेख सन् ३० के आसपास लिखा था। (पत्रिका का नाम और लेख

छपने के साल का उल्लेख याद से ही कर रहा हूं। उनमें कुछ भेद हो सकता है।) पर उनकी यह दृष्टि अधिकतर इतिहास-दर्शन के चिन्तन तक ही सीमित थी और इससे उन्होंने कभी तिथिपरक विधान में, इतिहास के तिथि-तथ्य में, कोई अन्तर नहीं पड़ने दिया।

उदाहरण के लिए, आर्यों के भारत में आगमन और उसकी तिथि अथवा कालिदास के समय के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में उनकी तिथियों को प्राचीनतर करने का जो आग्रह है, वह उनमें नहीं था। उस कमजोरी से वह सर्वथा वंचित थे। आर्य बाहर से आए थे या नहीं, इस सम्बन्ध में उन्होंने जहाँ तक मुझे ज्ञात है कोई सम्मति तो व्यक्त नहीं की, पर जिन अविनाशचन्द्र दास की सर्वथा अवैज्ञानिक तर्क-शृंखला को जो कुछ तथाकथित असंस्कृत विद्वानों ने फिर से उद्बोधित करने का प्रयत्न किया है, वह किसी अंश में भी उन्हें ग्राह्य न हो सकी।

वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय

हाँ, ऋग्वेद के सत्य के विषय में निश्चय उनकी धारणा इससे भिन्न थी। उसके मन्त्र-सत्य को काल-देशातीत सत्य मानने और उसका वैसा ही अर्थ करते समय वह उस सत्य को दोनों से स्वतन्त्र मानते थे। यह सही है कि वेद-मन्त्रों के उनके भाष्य को अनेक लोगों ने वैयक्तिक और "आर्बिट्रेरी" (निरंकुश) माना, पर उन मन्त्रों के ऋषियों अथवा उनमें उल्लिखित राजाओं के समय के अनुमान में उन्होंने कभी 'आर्बिट्रेरी' पद्धति को आश्रय नहीं दिया, सर्वथा वैज्ञानिक पद्धति से ही उनके कालक्रम को निरखा। मन्त्रों के सत्य-भाष्य-सम्बन्धी दृष्टि को छोड़ उनके प्रस्तुत रूप में ऋषि-प्रणयन का समय भी उन्होंने तिलक द्वारा सप्तर्षियों की गति से निर्धारित तिथि के उस पार ही स्वीकार किया।

ऐतिहासिक तथ्यों को मान्यता

इसी प्रकार महाकवि कालिदास की तिथि ५७ ई० पू० में अकारण रखने की जो प्रवृत्ति कुछ भारतीय विद्वानों में है, डॉ० अग्रवाल इस मोह से भी वंचित रहे। उन्होंने कालिदास को सतर्क पाँचवीं सदी में गुप्त सम्राटों का समकालीन माना। सो, इतिहास के प्रणयन में तिथिबोध को उन्होंने कभी अवैज्ञानिक तथा कथित राष्ट्रीय मोह द्वारा दूषित नहीं होने दिया। अपने बृहद् ग्रन्थ 'इण्डिया एज नोन टू पाणिनि' में भी (जिसका अनुवाद स्वयं उन्होंने 'पाणिनिकालीन भारत' नाम से किया है) उस महावैयाकरण का समय उन्होंने वही माना, जो वैज्ञानिक था और वैज्ञानिक विद्वानों को सम्मत था।

दृष्टिकोण संस्कृतिप्रधान

इतिहास पर उनकी कोई स्वतन्त्र पुस्तक तो प्रकाशित नहीं हुई, पर उनके प्रायः सभी सांस्कृतिक ग्रन्थ इतिहासप्रधान हैं। वस्तुतः उनका दृष्टिकोण ही सर्वथा संस्कृतिप्रधान है, जिससे उनके इतिहास, साहित्य, कला सभी पर विरचित ग्रन्थ सांस्कृतिक चिन्तनप्रधान हो गए हैं। उनका इतिहासपरक महान् ग्रन्थ–मैग्नम ओपस–'पाणिनिकालीन भारत' है, जिसमें पाँचवीं सदी ई० पू० से पहले और पीछे का भारतीय जीवन, हिन्दूकुश और सप्तसिन्धु पर्यन्त (युसुफजइयों का सिन्धुनदवर्ती) भरपूर खुल पड़ा है। यह सन्दर्भ-ग्रन्थ है, जिसका महत्व असाधारण है और जिसकी अधिकृत प्रामाणिकता अपने क्षेत्र में स्वयं प्रमाण बन गई है। अपने इस सांस्कृतिक सन्दर्भ को डॉ० अग्रवाल ने अपने वैयक्तिक बोध से अपने 'मेघदूत' आदि ग्रंथों में सम्बलित किया। मार्कण्डेय पुराण का अध्ययन उस दिशा में विशिष्ट प्रमाण है। इसी दृष्टि से वह अन्य पुराणों की भी व्याख्या करना चाहते थे, पर मृत्यु को यह मान्य न हो सका और उन्हें उसने अकालकवलित कर लिया।

एक सांस्कृतिक अध्ययन : कादम्बरी

उनकी 'माता भूमि' का सन्दर्भ भी इसी प्रकार सांस्कृतिक था—वैसे वह कादम्बरी आदि की भाँति का अध्ययन न होकर उनके लेखों का संग्रह था। वह निस्सन्देह मुझे पसन्द नहीं आया था। मैंने उसकी प्रतिकूल आलोचना भी की थी, पर इस कारण अनेक राष्ट्रीय सामग्री प्रस्तुत करनेवाला वह ग्रंथ अमान्य भी नहीं हो सकता। इस दिशा में सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से उनका बृहद् ग्रन्थ 'कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन' बड़े महत्व का है। पूर्व मध्ययुग का समूचा उत्तर भारतीय सामाजिक जीवन उसमें जाग उठा है। कादम्बरी का अध्ययन साहित्य का नहीं, संस्कृति और कला का अध्ययन है। कला के क्षेत्र में प्रतीकों और व्याख्या-मन्त्रों का डॉ० अग्रवाल ने उस ग्रन्थ में जो आलोचन किया है, उसका इस देश का विद्वत्समाज सदा ऋणी रहेगा। कला के क्षेत्र में वह विशिष्ट देन है। उसमें मृण्मूर्तियों (मिट्टी की मूर्तियों) के सन्दर्भ में उन्होंने जो खोज की है, वह सर्वथा मौलिक है।

मृण्मूर्तियों का अध्ययन

डॉ० अग्रवाल मृण्मूर्तियों के क्षेत्र में माने हुए पंडित थे। उनका अध्ययन उन्होंने अपने पुरातात्त्विक प्रयत्न में शायद 'पाणिनिकालीन भारत' को छोड़कर

सबसे पहले प्रारम्भ किया था। जब वह मथुरा-संग्रहालय के अध्यक्ष थे, तभी उन्होंने अपना 'मथुरा टेराकोटाज' लिखा और मथुरा तथा लखनऊ-संग्रहालय के विचारोत्पादक 'हैण्डबुक' भी बाद में शीघ्र ही प्रस्तुत किए। रामनगर की खुदाइयों से प्राप्त मृण्मूर्तियों पर तो उनका पुरातत्त्व-विभाग द्वारा प्रकाशित खण्ड है ही। उधर भारतीय कला पर जो इसका अध्ययन प्रकाशित हुआ है, वह भी कुछ कम महत्व का नहीं है। इस दिशा में विशेष कार्य डॉ० अग्रवाल ने दिल्ली के "म्यूजियम ऑफ एशियन एन्टिक्विटीज" का क्यूरेटर रहकर किया था। मूर्ति-कला और मृण्मूर्तियों पर तब उनके अनेक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए, जिनमें अध्ययन की उस वन्य भूमि में उन्होंने अपनी सामर्थ्य और सूझ से नई-नई राहें खोज निकालीं। अपने इस अध्ययन के दौरान उन्होंने कला के क्षेत्र में परिपोषित लाक्षणिक शब्दों का जो उपयोग किया, वह खोज और सर्जन दोनों का परिणाम था। उससे इस देश की भारती भरी-पुरी। उसके लिए न केवल हिन्दी, बल्कि इस देश की अन्य भी कितनी ही भाषायें समृद्ध होंगी।

प्राचीन भारतीय कला का अध्ययन

'यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी' की पत्रिका का बड़े मनोयोग से सम्पादन करते समय भी डॉ० अग्रवाल ने कला-सम्बन्धी अपनी संयोजित प्रक्रिया का बहुशः प्रकाशन किया। उस संस्था से प्रकाशित पत्रिका का विक्रम-सम्बन्धी विशेषांक उनके अध्ययन के अनेक पहलुओं को संयुक्त करता है। प्राचीन कला सम्बन्धी उनके लेखों की संख्या काफी बड़ी है, जिनका प्रकाशन अनेक खण्डों में होना चाहिए। उससे भारतीय प्राचीन कला के क्षेत्र में निश्चय ही एक आलोक-स्तम्भ खड़ा हो जाएगा।

अध्ययन-क्षेत्र में विशिष्ट योग

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का अध्ययन संस्कृति और कला के सम्बन्ध में तो विपुल है ही, अध्यापन का क्षेत्र भी उनके योग से विशेष समृद्ध हुआ। विशिष्ट गवेषक होने के ऊपर वस्तुतः मूर्द्धन्य रुप में वह अध्यापक थे। आज के अकारण 'आचार्य' उपाधि धारण करनेवाले तथाकथित आचार्य तो उनका शिष्य होने तक की भी योग्यता नहीं रखते। भाष्यकार के रूप में जब उनके चिन्तित बोध का स्रोत फूट चलता था, तब उसका प्रवाह अनवच्छिन्न हो जाता था।

अपनी इसी अध्यापन-रुचि के कारण ही डॉ० अग्रवाल ने हिन्दू-विश्व-विद्यालय के भारती-विद्यालय (कॉलेज ऑफ इण्डालोजी) में 'कला और वास्तु-विभाग'

का अध्यक्ष-पद स्वीकार किया। वस्तुतः उनका वह अध्यापन-काल कला-समीक्षा के उनके जीवन-अध्याय का ही एक प्रसार था। शुद्ध इतिहास से तो उनका सीधा सम्बन्ध वैसे कम रहा था, पर अब वह विशेष निष्ठा से संस्कृति की पृष्ठ-भूमि में कला के अध्ययन की सेवा करने लगे। पुराणों और विशेषकर कादम्बरी का अध्ययन उसी काल में सम्पन्न हुआ। इस काल का उनके जीवन में दो दृष्टियों से विशेष महत्व है। एक तो कला-सम्बन्धी शब्दावली निर्मित करने और कला के सांगोपांग चिन्तन से, दूसरे वैदिक प्रकरणों की व्याख्या से। वैदिक प्रकरणों की व्याख्या वैयक्तिक होने से सायण आदि की परम्परा से जो विच्छिन्न हो गई, तो वह अनेक वैज्ञानिक विद्वानों को मान्य न हो सकी। विशेषतः इस कारण कि वह अधिकतर स्वरचित, स्वचालित, स्वगर्भित होने से अन्तःप्रेरित 'डॉग्मा' बन गई। पर कला के क्षेत्र में डॉ० अग्रवाल का इस अवधि का अध्यवसाय न केवल प्रामाणिक सिद्ध हुआ, बल्कि वह उस दिशा के प्रयत्नों में असामान्य महत्व का है, जिसका प्रसार कला-समीक्षा के हित में मेरी राय में प्रचुर अनुकूल होगा। काशी-रामनगर के प्रयत्नों से पुराणों की पाठशुद्धि और प्रकाशन की योजना में भी डॉ० अग्रवाल का हाथ था। × × × ×

आशातीत कार्य किया

बासठ-तिरसठ वर्ष की आयु कुछ विशेष नहीं हुआ करती। फिर इतिहास, संस्कृति और कला के अध्ययन में (भारत के सन्दर्भ में) प्रायः पाँच हजार साल के दौरान तो निश्चय ही यह नगण्य है। इस अल्प अवधि में इतना काम कर लेना, जितना डॉ० अग्रवाल ने किया है, वस्तुतः आशातीत है। यह वही कर सकता था, जो असाधारण विद्याव्यसनी हो। डॉ० अग्रवाल केवल विद्याव्यसनी ही नहीं थे, बल्कि उस दिशा में वह अवधूत योगी थे। वह उस स्थिति के प्रज्ञाधारी थे, जिसमें 'शिथिल समाधि का दोष' असह्य होता है।

इतिहास के प्रति निष्ठा डॉ० अग्रवाल को डॉ० राधामुकुद मुकर्जी से मिली थी, जिनके 'हिन्दू सिविलिजेशन' का उन्होंने 'हिन्दू सभ्यता' नाम से (राजकमल प्रकाशन के लिए) अनुवाद भी किया था। उनकी 'फण्डामेन्टल यूनिटी' का अनुवाद भी डॉ० अग्रवाल के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। डॉ० मुकर्जी हम दोनों के गुरु थे।

(साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' से साभार)

उन्होंने जिस तत्त्व को छुआ, वह कुन्दन हो गया

श्री रामानन्द 'दोषी'

वह एक महान् पुरातत्त्ववेत्ता थे। वह मृण्मूर्तियों के विशेषज्ञ एवं मुद्राशास्त्रज्ञ थे। वह जनकलाओं एवं जनपदीय संस्कृति के विवेचक थे। वह ऊँचे भाष्यकार, शब्दशास्त्री, वेदविद्, दार्शनिक एवं संस्कृति के सच्चे व्याख्याता थे। एक ओर उन्होंने वेदों, पुराणों, गीता आदि का नवनीत ग्रहण कर उसे जनसुलभ भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, तो दूसरी ओर एक साहित्यकार के रूप में उन्होंने पाणिनि, कालिदास, बाण आदि की सर्वांगीण व्याख्या करके उनके युग की लोककलाओं और जीवन की वैज्ञानिक व्याख्या उपस्थित की। वह भारतीय कला के सूक्ष्म तत्त्वों के विवेचक थे। लोकसंस्कृति से लेकर वेद-संस्कृति तक उन्होंने जिस तत्त्व को भी छुआ, वह उनका पारस-स्पर्श पाकर कुन्दन हो गया!

उन्होंने विविध विषयों एवं विभिन्न दिशाओं में जो कार्य किया, उसमें अपनी कठिन साधना और तपस्या का माध्यम अपनी मातृभाषा हिन्दी को ही बनाया। उनके असामयिक निधन से केवल हिन्दी की ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, इतिहास, कला की क्षति हुई। उनके अवसान से ऐसा वटवृक्ष सूख गया, जिसकी छाया एवं आश्रय से शतशः विद्यार्थी नित-नवीन प्रेरणा एवं पथप्रदर्शन ग्रहण करते थे।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का प्रेरणाप्रद जीवन अनेक विचित्रताओं का अपूर्व संगम था। वह भारतीय संस्कृति, ग्रन्थों, कलाओं एवं परम्पराओं के प्रेमी साधक थे। **(साप्ताहिक "हिन्दुस्तान" से आभारपूर्वक)**

संत का वचन था, भला, वह झूठा कैसे होता ?

श्रीमती गिरिजादेवी 'निर्लिप्त'

स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल केवल अग्रवाल जाति के नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध विद्वानों में से एक थे। प्राच्यान्वेषकों में उनकी गणना मूर्धन्य है। उनका पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन अत्यन्त ही स्नेहपूर्ण, संयमी, सुनियोजित और सौहार्दपूर्ण था। उनका संतस्वभाव, ऋषितुल्य जीवनचर्या, अध्ययनशीलता, विवेकबुद्धिमत्ता, एवं विवेचनाशक्ति की विलक्षणता अद्वितीय थी। मैंने उनका नाम तो सुना था, लेखादि पढ़ने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ था, किन्तु दर्शन वाराणसी में ही उनके निवासस्थान पर किए।

मैं और मेरे पति बनारस-विश्वविद्यालय के रुइया-होस्टल के एक कमरे में एक छात्र के साथ ठहरे हुए थे। सायंकाल को मेरे पति अकेले ही उनसे मिलने गए। उन्होंने हम दोनों को रात्रि के भोजन पर आमंत्रित किया। तभी प्रथम बार मैं उनसे मिली। उस दिन विश्वविद्यालय में महामना मालवीय जी के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में कवि-सम्मेलन का आयोजन था, यह बात उन्होंने बताई। कहने लगे, 'जाना तो मुझे भी था, परन्तु अब जाऊँगा नहीं।' इस पर पतिदेव ने मेरे कवि होने की बात कही। तो बोले, 'ठीक है, आप इन्हें ले जाइए।' मैंने कहा—'मेरे पास वहाँ का कोई निमंत्रण तो है नहीं।' इस पर कहा—'निमंत्रण तो मैं दे रहा हूँ। हजारीप्रसाद द्विवेदी अध्यक्षता कर रहे हैं, वह मेरे मित्र हैं, यह कार्ड उन्हें दे देना।' फिर पूछा, 'मालवीय जी पर कुछ लिखा है? मैंने कहा—'अभी तक तो नहीं लिखा।' तो बोले, 'लिख लो कुछ थोड़ा-सा, वही पढ़ देना!' मैंने वहाँ बैठे-बैठे ही एक कविता लिख डाली, जिसकी पंक्तियाँ कुछ स्मरण हैं—"हे

महामना ! हे महासिंधु ? श्रद्धांजलि मम स्वीकार करो, नैनों के खारे अश्रुबिन्दु !"
इसी प्रकार से कविता आगे चली। जब मैंने कविता उन्हें सुनाई, तो बोले, 'अच्छी है।'

मुझे जाने में संकोच हो रहा था। मैंने कहा—"देर हो गई है !" तो बोले, 'जाओ भी, अभी कहाँ देर है ! अच्छे कवि तो पीछे ही पढ़ते हैं। कवि-सम्मेलन अब जमाव पर आया होगा। कह देना, तो जल्दी नाम आ जाएगा।' उनकी इस सोत्साह प्रेरणावश आखिर मैं वहाँ गई।

दूसरी बार 'सर्वदर्शनाचार्य्य' की अंतिम वर्ष की परीक्षा के पश्चात् जब मैं उनके स्थान पर पुनः दर्शनार्थ गई, तो पूछा––'कैसे पर्चे करके आई हो ?' मैंने कहा––'बस, यूँ ही हो गए हैं। एक तो खराब हो गया है।' बोले, 'यह तुम कह रही हो। इससे तो तुममें आत्मविश्वास की कमी मालूम होती है।' मैं चुप ! बोले, 'सारी दुनिया कहे कि तुम्हारा पर्चा खराब हो गया है, परन्तु तुम न कहो। तुमको तो यह कहना चाहिए कि तुमने बहुत अच्छा लिखा है, परन्तु मूर्ख परीक्षक की समझ में आ जाय तब है !' इस पर मुझे हँसी आ गई। अन्त में जब परीक्षा-फल प्रकाशित हुआ, तो जिस पर्चे को मैं खराब कह रही थी, उसमें सबसे अधिक नम्बर मुझे मिले थे ! संत का वचन था, भला, वह झूठा कैसे होता ?

तीसरी बार जब मैं 'वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय' की कार्यकारिणी की मनोनीत सदस्या होकर गई, तब भी उनसे मिली। जब उन्हें मालूम हुआ तो बड़े प्रसन्न हुए। कहने लगे, 'देखा, हाथों हाथ फल मिल गया ! विद्या तो कल्पवृक्ष के समान है, इससे जो माँगोगे, मिलेगा !'

उस दिन उनका प्रवचन था एक घंटे का। बोले थे–"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्" पर। वह प्रवचन क्या था मानो कहीं से अमृत का स्रोत अजस्र गति से प्रवाहित हो रहा था ! मैं मंत्रमुग्ध-सी बैठी रही। ऐसा लग रहा था, मानो कहीं संजीवनी-शक्ति का आगार है, जहाँ से कुछ शीतल कण हम जन्म-जन्मान्त के पिपासुओं पर छिड़काए जा रहे हैं। प्रवचन बहुत विद्वानों के मुख से सुने, परन्तु उस दिन जो मुझे आत्म-विस्मृति हुई, वैसा कभी नहीं हुआ !

अचल गुरुभक्ति :: अडिग राष्ट्रवादिता

डॉ० बैजनाथ पुरी*

डॉ० अग्रवाल के साथ मेरा सम्बन्ध लगभग तीस वर्ष तक रहा और मैं उनको गुरुभाई के रूप में बराबर अपना बड़ा भाई समझता रहा। सबसे प्रथम १९३६ ई० में अन्य विद्यार्थियों के साथ मैं (पुरातत्त्व-विषयक दर्शन-यात्रा के क्रम में) मथुरा-संग्रहालय गया था। अग्रवालजी ने संग्रहालय ही नहीं दिखाया, बल्कि अपने घर पर आमंत्रित करके खाना भी खिलाया। उसी समय से मेरा उनका परिचय आरंभ हुआ। १९३७ ई० में मैं (एम० ए० की थीसिस के रूप में) अपना प्रथम शोध-ग्रंथ तैयार कर रहा था। तब गुरुवर डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के घर पर पुनः उनसे मिलने का अवसर मिला। वहीं उन्होंने कुछ सुझाव भी मुझे दिए थे।

उसके बाद तो यह क्रम बराबर चलता रहा—१९३७ से लेकर ठेठ १९६४ ई० तक। जब कभी मेरा कोई ग्रंथ प्रकाशित होता, तो वह स्वयं ही माँगकर उसकी प्रतिलिपि ले लिया करते थे और कुछ सुझाव भी दे देते थे तथा और भी कुछ बातें किया करते थे। उनके यहाँ—शिवाजी मार्ग पर—न जाने कितनी बार ऊपर जाने का अवसर मुझे मिला था। साथ ही साथ, जब वह यहाँ पर संग्रहालय में थे, तब तो न मालूम कितने मास मैंने उनके साथ व्यतीत किए थे। मैंने ऐसा व्यक्ति दूसरा नहीं देखा, जो निस्वार्थ भाव से सुझाव देता और बताता कि किस तरह से प्रयास करना चाहिए। उन्होंने पाणिनि पर जब अपना ग्रंथ

*डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के ६८ वें जन्मदिवस पर आयोजित समारोह के अवसर पर अर्पित श्रद्धांजलि का एक अंश।

लिखा था, तब उन्होंने अपने बहुत-से रिप्रिन्ट्स (लेखों की मुद्रित प्रतिलिपियाँ) मुझे भेजने की कृपा की थी, जिनके आधार पर मैं बहुत-कुछ लिख सका। कुषाण-काल पर जो ग्रंथ मैंने लिखा, उसके संबंध में भी उन्होंने अपने लेखों का संग्रह तथा कलात्मक दृष्टि से जो कैटलॉग वगैरह निकले थे उनके बहुत-से रिप्रिन्ट्स मुझे दिए थे।

उनके साथ आखिरी बार सम्पर्क गौहाटी में प्राच्य सम्मेलन के अवसर पर हुआ था। वह उसके अध्यक्ष थे। उस समय वह बहुत ही दुर्बल अवस्था में हो गए थे। वह वहाँ के सर्किट-हाउस में ठहरे थे और संयोग की बात थी कि मैं भी वहीं उनके साथ ठहरा था। मैं उनसे मिला। बहुत देर तक बातचीत हुई। परामर्श हुआ। अधिवेशन में जिस समय उन्हें मंच पर ले जाया गया, उस समय का दृश्य तो आज भी आँखों में झलक रहा है कि किस प्रकार से दो आदमियों ने पकड़कर(सहारा देकर) उन्हें अध्यक्ष की कुर्सी पर बिठाया था और उन्होंने पूरा भाषण भी नहीं पढ़ा था। वह थोड़ा-सा ही भाषण पढ़ पाए थे, उसके बाद डॉ० मोतीचन्द ने उनका वह भाषण पूरा पढ़कर सुनाया था। लेकिन वह भाषण (यदि आज भी उसकी प्रतिलिपि देखी जाय तो) कितना विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित था !

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की दो बातें मुझे विशेषतया रुचीं। उनमें प्रथम यह थी कि उन्होंने जीवन में एक ही गुरु किया।* मिलिन्द-पण्हों तथा धम्मपद में गुरु के पचीस लक्षणों एवं शिष्य से दस लक्षणों का उल्लेख है। गुरु के लक्षणों में यह साफ कहा गया है कि जितनी विद्या उनके पास हो, उसे खंड रूप में न पढ़ाएँ, बल्कि अच्छी तरह से संपूर्ण विद्यादान करें। शिष्य के लक्षणों में एक मुख्य बात यह बताई गई है कि वह एक से दूसरे गुरु को न टटोलता फिरे। एक गुरु को छोड़कर दूसरे के पास जाना और फिर दूसरे को छोड़कर तीसरे के पास तथा तीसरे को छोड़कर चौथे के यहाँ जाना, यह प्राचीन परम्परा नहीं है। यद्यपि इस तरह की परम्परा आजकल कोई अनहोनी बात नहीं, परन्तु डॉ० वासुदेवशरण ऐसे नहीं थे। १९२९ ई० में उन्होंने एम० ए० की परीक्षा पास की, तब से लेकर १९६२ ई० में जब डॉ० राधाकुमुद का देहान्त हुआ, तब तक उन्होंने शुरू से आखिर तक एक ही गुरु को माना, उसी के चरण छुए और उसका पूर्ण आशीर्वाद पाया !

दूसरी विशेषता जो मैंने डॉ० अग्रवाल में पाई, वह थी उनकी अडिग राष्ट्रवादिता। १९२९ ई० में एम० ए० पास करने के बाद उनके गुरुजी ने

***यहाँ आशय मात्र इतिहास के क्षेत्र से ही है। अन्यथा संस्कृत-विद्या के क्षेत्र में पं० जगन्नाथजी भी उनके गुरु रहे, यह किसे नहीं मालूम है ?—सं०।**

उनकी नियुक्ति 'मथुरा-म्यूजियम' के क्यूरेटर-पद पर करवा दी थी। वह वहाँ पर गए, उस समय सर मालकम हैली प्रदेश के गवर्नर थे। वह म्यूजियम के भवन का उद्घाटन करने के लिए आनेवाले थे। अग्रवालजी के सामने यह समस्या थी कि किस तरह से उनके सामने जाएँ! क्योंकि उन्होंने अंग्रेजी पोशाक कभी नहीं पहनी थी। वह तो हमेशा देशी पोशाक में रहते थे और गाँधी-टोपी लगाते थे! तो फिर किस तरह से जाएँ? आखिर वह इस्तीफा तक देने के लिए तैयार हो गए! कहा, 'वेशभूषा नहीं बदलूँगा, चाहे मुझे इस कारण पदत्याग ही करना पड़े!' यह बिल्कुल सच्ची बात है। आखिर में समस्या इस तरह से हल हुई कि उन्होंने अचकन और चूड़ीदार पायजामा पहनकर गवर्नर को ले जाकर म्यूजियम दिखाया, पर सूट नहीं पहना! इस बात से जाहिर है कि उनके चरित्र में कितनी दृढ़ता थी! जो उनकी अपनी विचारधारा थी, उससे वह तनिक भी विचलित नहीं हो सकते थे, यही उनकी विशेषता थी।

उनकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी थी कि उन्होंने जो कुछ भी लिखा, उसे या तो अपनी कलम से लिखा या डिक्टेट कराकर (निज मुख से बोलकर) लेखबद्ध कराया। ऐसा नहीं किया कि किसी दूसरे ने ही लिखा हो और अपने नाम से उन्होंने उसे छपवा दिया हो! उनके चरित्र में यह बात बिल्कुल नहीं थी। ऐसे बहुत से 'स्कॉलर' हैं, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि विद्यार्थियों ने कोई शोध-ग्रंथ तैयार किया और जब उस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ, तो विद्यार्थियों के साथ पहले अपना नाम उन्होंने जोड़ दिया! या पहले शोध-निदेशक का ही नाम आ गया और विद्यार्थी का नाम पीछे ठेल दिया गया! यह भावना वासुदेवजी में नहीं रही।

सच तो यह है कि वह भले ही विदेश न गए हों, लेकिन विदेशों तक उनका नाम अवश्य पहुँच चुका है। उनकी कृतियाँ—चाहे वे वास्तुकला से संबंधित हों चाहे मूर्तिकला अथवा चित्रकला से; चाहे वे साहित्य से संबंधित हों, चाहे संस्कृति से——सदैव अध्येताओं को प्रेरणा देती रहेंगी और कम से कम नई पीढ़ी का तो निश्चित रूप से वे मार्गदर्शन करती रहेंगी।

डॉ० साहब के पास जो कोई भी आता, कुछ लेकर ही जाता

डॉ० रामाश्रय अवस्थी*

उत्तर प्रदेश प्रशासन की ओर से जिला-गजेटियर्स लिखे जा रहे थे। इस कार्य की परामर्शदात्री समिति के डॉ० अग्रवाक सदस्य थे। उन दिनों मैं जिलों का प्राचीन इतिहास लिख रहा था। मैं चाहता था कि उनके विचार मुझे मिलें। इसी उद्देश्य से मैं बनारस गया था। तब वह काशी-विश्वविद्यालय के प्रांगण के भवन में रहते थे। छत तक भरी किताबों के बीच बैठे, सबेरे से शाम तक साधक तपस्वी की भाँति वह लीन रहते थे। मैंने जब अपना लखनऊ जिले का प्राचीन इतिहास उन्हें दिखाया, तो उन्होंने पहली ही बार में उसे ठीक कर दिया और पूछा कि 'कुछ शोधकार्य भी कर रहे हो ?' मैंने बताया कि 'देव-प्रतिमाओं पर कुछ काम कर रहा हूँ।' × × × × इस क्रम में दो सप्ताह तक निरन्तर उनके उस अध्ययन-कक्ष में उनके साथ मैं बैठा। उसे अध्ययन-कक्ष कहूँ या 'ड्राइंग-रूम कहूँ ? क्योंकि वही उनका ड्राइंग-रूम था, वही उनका अध्ययन-कक्ष भी था और जब थक जाते थे, तो थोड़ा-बहुत आराम भी वह वहीं कर लेते थे। दस बजे तक एक साधक तपस्वी के समान वह वहीं बैठे रहते थे। आठ बजे के बाद कुछ लोग आते थे, उनसे बातचीत करते थे। दिन में जब खाली समय होता था, मैं डरते-डरते उनके पास पहुँच जाता था। अनेक देव-मूर्तियों की पहचान के बारे में जो बातें उन्होंने मुझे बताईं, उन्हीं के आधार पर और वस्तुतः उन्हीं की प्रेरणा से मैं खजुराहो की असंख्य देव-मूर्तियों की पहचान का कुछ कार्य कर

***डॉ० अग्रवाल की ६८वीं जन्मतिथि पर 'डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल संस्कृति-संस्थान' द्वारा आयोजित समारोह में अर्पित श्रद्धांजलि का एक अंश।**

सका। इस काम में जो भी सफलता मुझे मिली, वह उन्हीं की प्रेरणा और आशीर्वाद का फल मैं मानता हूँ।

डॉ० साहब एक आदर्श शिक्षक थे—ऐसे शिक्षक नहीं जैसे आज के विश्वविद्यालय के शिक्षक हैं, वरन् एक साधक तपस्वी, जो निरंतर शोध में, विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों में, तर्क-वितर्क में लगे रहते थे। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आता था, उनसे कुछ लेकर ही जाता था। डॉ० साहब ने प्राचीन भारतीय संस्कृति पर लिखा। उन्होंने पुराणों पर भी लिखा——कई पुराणों का उन्होंने आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। वेदों पर भी लिखा——वेदविद्या तो उनके जीवन के अंतिम दिनों का प्रिय विषय बन गया था। उपनिषदों का जो नवनीत है, उसे भी उन्होंने हमारे सामने रखा। 'गीता-नवनीत' को भी जनसाधारण के सामने प्रस्तुत किया। धर्म के अनेक पहलुओं पर भी लिखा। जहाँ शैव्य धर्म से सम्बन्धित शिव-मूर्तियों पर उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा, वहाँ मथुरा-म्यूजियम कैटेलॉग में उन्होंने विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों के साथ वैष्णव धर्म से सम्बन्धित जिन मूर्तियों का विवरण दिया, वह भी अपने क्षेत्र में अद्वितीय है। डॉ० जोशी उसी दिशा में और कुछ काम बढ़ा रहे हैं और आशा है कि मथुरा-म्यूजियम कैटेलॉग अब नए रूप में सामने आएगा। लेकिन उसकी नींव डॉ० साहब ने ही डाली थी। इसके अतिरिक्त अनुवाद के कार्य में भी उनका स्थान अद्वितीय है। आजकल जब कोई व्यक्ति बहुत बड़ा विद्वान् हो जाता है, तो अनुवाद के कार्य में वह हाथ नहीं लगाता। "हिन्दू सिविलाइजेशन" एक किताब थी डा० राधाकुमुद मुकर्जी की। उसका हिन्दी अनुवाद डॉ० वासुदेवशरण जी ने ही प्रस्तुत किया है। वह हिन्दी अनुवाद अंग्रेजी की पुस्तक से भी अच्छा और अधिक मूल्यवान् बन गया है। उन्होंने पाणिनिकालीन भारत से सम्बन्धित अनेक शब्दों को हिन्दू सभ्यता के तारतम्य में पिरोकर उनका जो रूप रखा है, वह मूल पुस्तक से कहीं अच्छा है। उन्होंने संस्कृत-साहित्य को भी मथा। संस्कृत-काव्य, नाटक, कथा आदि पर तमाम लोगों ने काम किया है। दुनिया भर में अनेक विद्वानों ने इस दिशा में काम किया है। लेकिन डॉक्टर साहब की केवल एक ही पुस्तक उठाकर आप देख लीजिए—'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन'! और मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि दुनिया के किसी भी साहित्य पर इस कोटि का काम नहीं हुआ है। हर्ष के समय का जो सांस्कृतिक जीवन है, उसकी जो झलक इस ग्रन्थ में देखने को मिलती है, वैसी गुप्तकालीन जीवन को हम लें तो अजन्ता की गुफाओं में भी देखने को नहीं मिल सकती। यहाँ एक-एक शब्द की जैसी व्याख्या उन्होंने की है, एक-एक रूप का जैसा चित्रण किया है, साथ-साथ में जैसे अनूठे रेखाचित्र दिए हैं, वे अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। 'कादम्बरी : एक

सांस्कृतिक अध्ययन' इसी का एक पूरक ग्रन्थ है। इसी तरह से पुराणों पर जो-जो बातें उन्होंने सामने रक्खीं, उनमें कला से सम्बन्धित जो साक्ष्य निकला, वह भी अद्वितीय है। आज हिन्दी में कला पर जो लोग लिखते हैं, वे अंग्रेजी के शब्दों का अनुवाद मात्र कर देते हैं। मुझसे उन्होंने एक बात कही थी कि 'यदि तुम्हें शोध करना है, तो मौलिक शोध ही करना-- हैवेल, पर्सी ब्राउन, क्रेमरिश आदि के शब्दों का कोरा हिन्दी अनुवाद न करना।' उनका मत था कि आर्ट पर काम करनेवाले के लिए यह जरूरी है कि वे प्राचीन शिल्पशास्त्र में पैठें और उसका नवनीत निकालें।

डॉ० साहब जहाँ बहुत बड़े साहित्यकार थे, धर्मशास्त्र और शैव्य धर्म, वैष्णव धर्म आदि पर लिखते थे, वहाँ लोकधर्म पर भी उन्होंने लिखा था। 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' उनकी एक ऐसी पुस्तक है, जो है तो छोटी, लेकिन शायद दुनिया भर में धर्म के इतिहास पर ऐसी अनूठी पुस्तक नहीं लिखी गई। गाँव-गाँव के आँचल-आँचल में जो लोकधर्म का तत्त्व व्याप्त है, उसे खींचकर उन्होंने जिस सूत्रीय भाषा में प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। धर्म के क्षेत्र में ही नहीं—कला के क्षेत्र में, आर्कीटैक्चर, स्कल्पचर, पैंटिंग, आदि सबके विषय में सबसे बड़ी बात उनकी यह थी कि वह शतशः भारतीय थे। एक बहुत बड़ी समस्या चली आ रही थी--मथुरा के कला-संप्रदाय के बारे में कि मथुरा में जो बुद्ध की मूर्ति बनी, वह विदेशी थी या शुद्ध भारतीय? विदेशी लोग चिल्लाते थे कि उसे गांधार कलाकारों ने ही पहली बार बनाया था। इधर हम लोग बहुत ही दबी जबान में कहते थे कि नहीं, मथुरा के शिल्पी ने ही पहली बार बुद्ध की मूर्ति गढ़ी। पर हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं था। इस संबंध में पहली बार सशक्त और तर्कपूर्ण शब्दों में 'इंडियन आर्ट' नामक अपनी कृति में डॉ० अग्रवाल ने अपने जो विचार रखे, उनसे अब दुनिया में कोई विद्वान् नहीं है, जो यह मानने के लिए तैयार न हो जाय कि भारतीयों ने ही पहली बार बुद्ध की मूर्ति गढ़ी थी। इसका श्रेय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को ही है।

मथुरा-कला वस्तुतः उनका विशेष विषय था। इस कला पर उन्होंने अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे हैं। इसी विषय पर गुजरात में उन्होंने एक भाषणमाला भी दी थी, जो 'मथुरा-कला' नामक एक छोटी-सी पुस्तक में ग्रन्थबद्ध हुई है। यह एक बहुत ही छोटी पुस्तक है और शायद आज सब लोग उसे जानते भी न हों। पर इतनी छोटी-सी पुस्तक में भी कला के पारिभाषिक शब्दों का जो संचय उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह किसी डिक्शनरी ऑफ आर्कीटैक्चर या डिक्शनरी ऑफ स्कल्पचर में भी नहीं मिलेगा। यह विशेषता थी डॉ० साहब में!

वेद उनके अमृत-कूप थे :: प्यास लगी कि पहुँचे उस कूप पर

श्री अमृतलाल नागर

किसी भाषा और समाज का तप जब संचित हो जाता है, तब डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसी प्रतिभाएँ उन्हें मिलती हैं। जैसा कि हमारे परम मित्र डॉ० पुरी ने संकेत किया है, उनका मन कितनी ही दिशाओं में चलता था, रमता था, और उन-उन दिशाओं में वह काम करते थे। वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, पुरातत्त्व, कला, साहित्य, लोक-संस्कृति, भाषा-विज्ञान आदि-आदि कितने ही विषयों की दिशा में डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल हमें उपकृत कर गए हैं।

वह आयु की दृष्टि से देखा जाय, तो मेरे लिए तो बड़े थे ही। पर क्या आयु पाई उन्होंने? अगर आज होते, तो ६८ वाँ साल लगा होता! यदि वह यहाँ होते, तो हम उनको फूलहार पहनाते और वह संकोच के मारे दबे-दबे चले जाते! लेकिन वासुदेवशरण अग्रवाल जैसी हस्ती भला कहीं मरने के लिए पैदा होती है? वह तो आज भी जीवित है और सदैव जीवित रहेगी!

अग्रवालजी जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही विनम्र भी वह थे, और थे उतने ही बड़े साधक भी। वह रात-दिन पुस्तकों में ही लीन रहते थे—जैसा कि हमारे मित्र जोशी जी ने कहा है। यहाँ शिवाजी मार्ग वाले मकान में या बनारस के घर में, जब कि लू का दौर चल रहा हो, पास में पानी की सुराही रखकर अपने ग्रंथों में तल्लीन रहनेवाले अग्रवालजी का तो जिक्र किया गया, पर उनकी उस सुमरनी माला पर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया, जो कि उस पानी की सुराही के पास ही सदैव रक्खी रहती थी। बस, जहाँ खाली बैठे नहीं कि वह सुमरनी चलने

लगी ! वैसे विद्वान् आदमी को प्रायः सुमरनी से बड़ी चिढ़ होती है। वह तो यही सोचता है कि फुर्सत हुई, तो लाओ इतना और पढ़ डालें ! इतना और सोच लें ! पर वासुदेव जी साधक जो ठहरे ! सो सुमरनी उन्होंने कभी नहीं छोड़ी !

उनकी एक और बहुत बड़ी विशेषता, जो कि मुझ जैसे छोटे आदमी को विशेष आकर्षक लगी, यह थी कि वेद उनके लिए अमृत-कूप जैसे थे ! जब भी जिस प्रकार की प्यास उन्हें लगती थी, तब पहुँच जाते थे उसी अमृत-कूप के पास ! भारतीय साहित्य एवं चिन्तन की दिशा में जो कुछ भी उन्होंने सोचा, इस वेदरूपी अमृत-कूप के पास जाकर ही उसकी पूर्ति उन्होंने की !

एक और विशेषता उनमें मैंने देखी थी। जब भी किसी बात को कहते थे, तो बहुत ठंढे में ! एक बार ऐसी बात आ गई थी कि मैं अपने में बहुत उत्तेजित हो गया था—एक बड़े आदमी का सहारा पाकर ; ऐसे बड़े आदमी का, जिसे सहजभाव में मैं कुछ भी कह सकता था ! मैंने बात कही अपनी। वह ठंढे-ठंढे बैठे रहे ! तब बोले--'देखो भाई, ब्राह्म बुद्धि से इस पर इस तरह से कार्य किया जा सकता है। क्षात्र बुद्धि से इस प्रकार 'एक्शन' लिया जा सकता है। वैश्य बुद्धि से इस प्रकार से !' उस बात को हर दृष्टि से इस तरह से उन्होंने पेश किया कि मेरा गुस्सा ठंढा हो गया ! × × × ×

मेरठ साहित्य-सम्मेलन में वासुदेवशरण जी देर से पहुँचे। दर्शकों ने भी नहीं पहचाना, इतने सीधे-सादे लिबास में रहते थे। कौन जाने कि यह इतने बड़े विद्वान् हैं ! सामने आकर नीचे बैठ गए ! तब मंच से बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने देखा ही था कि झपटकर उन्हें उठा ले जाते हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ही एक ऐसा व्यक्ति था, जो फिर रुक नहीं सकता था ! सम्मेलन के सारे कार्यक्रम रोककर पहले माइक्रोफोन हथियाया और उन्होंने डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का प्रशस्ति-गान करना आरंभ किया ! यह खरी बात है कि वह चिरप्रशस्तिगान के योग्य और अद्भुत प्रतिभाशाली थे। × × × × × × × × × वह खरे ऋषि थे। महामानव थे। साधक थे। उनका जलाया दिया सदा जलता रहे, यही कामना करते हुए, उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।*

***डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की ६८वीं जन्मतिथि पर लखनऊ के हिन्दी-भवन में आयोजित समारोह में श्री अमृतलाल जी नागर की श्रद्धांजलि का एक अंश।**

एक श्रद्धांजलि

श्री कमलापति मिश्र

स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय विद्या की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के अप्रतिम विद्वान् तो थे ही; वह असाधारण तपस्वी और त्यागी भी थे। उनका जीवन असाधारण जीवन का एक उदाहरण था। वह "एकः शब्दः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" के परम व्रती थे। वह शब्द-ब्रह्म के परम उपासक थे। वह प्रकृत्या सरल और बहुत ही उदार महापुरुष थे। वह प्राच्य और अर्वाचीन संस्कृति के बड़े ही समन्वित व्यक्तिव थे। वह स्वभावतः ईश्वरवादी, व्यवहारतः सनातनधर्मी, विचारतः सुधारवादी, कर्मणा उद्योगनिष्ठ और प्रखर परिश्रमी थे। कहा जाता है कि विद्वान् रूक्ष होते हैं, मनीषी चिंतक तो प्रायः अवश्य ही। प्रथम श्रेणी के चिंतक और मनीषी वासुदेव जी को देखते ही यह भ्रम दूर हो जाता था।

"पाणिनिकालीन भारतवर्ष" में अग्रवाल जी ने पाणिनि के समय के समाज की ऐसी सांस्कृतिक व्याख्या प्रस्तुत की है कि पढ़कर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। अग्रवाल जी का "हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन" असाधारण ग्रन्थ है। वैदिक वाङ्मय का भी उनका अध्ययन उच्च कोटि का था। वेदों में आए हुए शब्दों के इतिहास की उनकी जानकारी असाधारण थी। जब वह किसी मंत्र की व्याख्या करने लगते, तो उनके पांडित्य को अनुभव करके महान् आश्चर्य होता।

संस्कृत-साहित्य पर ही नहीं, संस्कृत-भाषा पर भी उनका प्रामाणिक अधिकार था। सर्वथा शुद्ध, सुसंयत और अर्थ-गर्भ भाषा पर उनका अबाध

अधिकार था। वह शब्दों की व्युत्पत्ति पर जब बोलने लगते, तो सुननेवालों को साहित्य का-सा रस मिलता था। अग्रवाल जी के निकट व्याकरण भी साहित्य हो गया था।

अग्रवाल जी संस्कृत की विभिन्न शैलियों के जानकार तो थे ही, परिष्कृत शैली के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका अध्ययन प्राचीन पद्धति का था। यही कारण है कि शब्द-शास्त्र पर उनका विश्लेषण हमारे इतिहास की स्थायी सम्पत्ति बन गया है।

मैं सन् १९३६ में स्वर्गीय पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के साथ इलाहाबाद में था। त्रिपाठी जी हिन्दी-मन्दिर-पुस्तकालय में बैठे थे। नयी गढ़ी के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय ठाकुर गोपालशरणसिंह त्रिपाठी जी से मिलने आए। थोड़ी देर बाद गोपालशरण जी ने जाने की आज्ञा माँगी, तो त्रिपाठी जी बोले—कृपया थोड़ी देर और रुकिए, एक बहुत बड़े विद्वान् से आपका परिचय करवाता हूँ।

फिर एक-एक करके अग्रवाल जी की अनेक विशेषताओं का वर्णन त्रिपाठी जी ने उनसे किया। त्रिपाठी जी ने उनसे कहा कि इस समय अग्रवाल जी के समान हमारे बीच ऐसा कोई शब्द-शास्त्री नहीं है, जिसका हिन्दी और संस्कृत पर समान अधिकार हो।

हिन्दी भाषा को समृद्ध करने के उनके प्रयत्न को इतिहास गर्व और गौरव से स्मरण करेगा। लोक-भाषाओं के भी वह मर्मज्ञ पण्डित थे। जायसी के पदमावत पर उनका संजीवन भाष्य असाधारण कोटि का है। इस ग्रन्थ पर अग्रवाल जी को साहित्य-अकादमी-पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। पदमावत के अनेक ऐसे शब्दों का अर्थ उन्होंने स्पष्ट किया है, जिसके बारे में विद्वानों को अब तक बहुत बड़ा भ्रम रहा। प्रत्येक शब्द के पारम्परिक इतिहास का उनका ज्ञान अद्भुत था। कौन शब्द कब, किस अर्थ में प्रचलित हुआ, किस समय में उसका क्या अर्थ रहा—इसका विवेचन वह करने लगते थे, तो अनुमान नहीं होता था कि उनका पाण्डित्य कितना तलस्पर्शी है।

वस्तुतः उनका सम्पूर्ण जीवन भारतीय विद्या को समर्पित जीवन था। वह हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संस्कृति के महान् प्रहरी थे। उनका अभाव अभाव ही रहेगा।

वह सच्चे अर्थ में 'विप्र' और 'विद्वान्' थे

डॉ० रामकुमार दीक्षित

शरीर दुर्बल था, लेकिन भजन, भक्ति और सेवाभाव से उन्होंने उसकी उपासना-आराधना की, जिसे प्राप्त करना मनुष्य का उद्देश्य होता है। अगर मैं कुछ परिवर्तन करने का अधिकारी माना जाता, तो उन्हें कहता — डॉ० वासुदेवशरण 'विद्वान्', न कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ! क्षमा करें मुझे अग्रवाल भाई, परन्तु मैंने उन्हें 'विद्वान्' कहना इसलिए चाहा कि इस शब्द का एक अर्थ है और वह अर्थ मैं अभी बताता हूँ। उस अर्थ को उन्होंने और मैंने सीखा था अपने गुरु डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी से, जब हम साथ-साथ पढ़ते थे। डॉ० मुकर्जी के प्रिय विषय थे—"याज्ञवल्क्य" और याज्ञवल्क्य ने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को बताया था कि 'अमृत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति !' अर्थात् वित्त या धन से तो अमृत की आशा ही नहीं है ! डॉ० अग्रवाल ने उस अर्थ को पकड़ा। इसी-लिए उस वर्ग में पैदा होकर और पलकर—जो कि धन का उपासक है— उन्होंने धन की उपासना न करके, विद्या की उपासना की ! इस प्रकार विद्या के द्वारा उन्होंने अमृत प्राप्त किया। इस अर्थ में मैं उन्हें 'विद्वान्' कहता हूँ।

नागर साहब ने कहा है और मैं भी यह मानता हूँ तथा यह सच है कि वह अमर हैं—वह अपनी कृतियों में सदैव ही अमर रहेंगे। उनकी कृतियाँ बहुमुखी हैं और उनमें से प्रत्येक एक मार्ग की परिचायक है। उनका सबसे पहला शोधग्रंथ पाणिनि पर था ! उसी का अनुसरण करते हुए, आगे 'इण्डिया इन द टाइम्स ऑफ पतंजलि', 'इण्डिया इन द टाइम्स ऑफ कालिदास' जैसे ग्रन्थ चल पड़े। वह मार्ग बना गए और उस मार्ग पर चलकर दिखा गए। तब आगे अन्य लोग भी उस मार्ग पर चलने लगे !

लखनऊ में पढ़े थे, पर सिद्ध हुए मथुरा में। मथुरा उनकी सिद्धि-भूमि थी। यहीं से सिद्ध होकर दिल्ली गए और साधना परिपक्व की। तब उस परिपक्व साधना की परीक्षा हुई काशी में, क्योंकि काशी विद्यासदन है। वहाँ (काशी में) विद्वानों के बीच, पग्गड़वाले पंडितों के बीच, निर्भीक होकर वह अचल विद्यासेवी बनकर बैठे रहे!

पाणिनि के बाद उन्होंने कला के क्षेत्र को छुआ और कला की जितनी भी उपधाराएँ थीं, उन्होंने उनको छूकर ऐसा उठाया कि इसके पूर्व किसी ने किया ही नहीं था। कला के क्षेत्र में डॉ० आनन्द कुमारस्वामी से वह प्रेरणा लेते रहे। आगे चलकर उन्होंने वेदविद्या का भी अध्ययन करके वैदिक दृष्टिकोण से कला की व्याख्या करना प्रारंभ की। पुराणों का भी अध्ययन उन्होंने प्रारंभ किया। अब तो पुराणों को बहुत-से लोग पढ़ने लगे हैं। पर १९४७-४८ ई० तक एक ही ग्रन्थ पुराणों के बारे में सामने आया था—पटेलकृत 'कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम वायुपुराण'। डॉ० अग्रवाल ने उसे देखा। कहा कि कुछ है नहीं, कुछ जँचता नहीं। तब उन्होंने भी पुराणों पर काम किया और लगातार करते रहे। एक विषय तो ऐसा था, जिस पर शायद ही किसी ने कोई काम किया था—'प्राचीन भारतीय भूगोल!' उन्होंने उसे हाथों में लिया। उधर 'पदमावत' की व्याख्या वैसे तो हिन्दी में बहुत विद्वान् कर सकते थे और की भी होगी, लेकिन "गौर गाजना"* की व्याख्या डॉ० अग्रवाल ही कर सकते थे, क्योंकि "गौर गाजना" का 'गाजणक' रूप—जो पुराणों में है—हिन्दी में जरा कम ढूँढे मिलेगा।

वह सही मायने में विप्र थे। इसीलिए मैंने कहा कि मैं उन्हें 'अग्रवाल' नहीं मानता, 'विद्वान्' ही मानता हूँ! वह अंतिम श्वास तक पढ़ते रहे। रोशनी आँख की चली गई, फिर भी लिखते रहे, लिखाते रहे! इसीलिए वह विद्वान् थे। × × × उन्होंने साधारण जीवन से आरंभ करके विद्या के माध्यम से उस ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त कर दिखाया, जो कि अंतिम तत्त्व है! †

*** 'हेम सेत औ गौर गाजना'—(पदमावत, ४२६/९)।**

† डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की ६८वीं जन्मतिथि पर आयोजित समारोह के अध्यक्ष-पद से प्रदत्त भाषण का एक अंश।

जीवन-वृत्तान्त

'पिता-पितामह' की स्वचित्रित शब्द-झांकी

'गीता-नवनीत' की भूमिका से*

यह विराट् विश्व ही जिन दो तत्त्वों से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् परमेष्ठी प्रजापति और उनके भी जनक स्वयंभू प्रजापति, उन्हें भी शतपथ ब्राह्मण में पिता-पितामह कहा गया है, और यह विश्व (जिसके केन्द्र में सूर्य है) उन दोनों की परम्परा में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ है। उन आद्य पिता-पितामहरूपी तत्त्वों से भूत भौतिक जगत् के प्राणियों में अनन्त पिता-पुत्रों की शृंखला है। बिना माता-पिता के कोई प्राणी जन्म नहीं लेता। भगवान् अर्धनारीश्वर शिव की सृष्टि का यही नियम है। मनुष्य और पशु क्या, पुष्प, वृक्ष और वनस्पतियों में भी यह नियम मुख्य है। इसे ही वेदों में भगवान् रुद्र का रोदसी ब्रह्माण्ड कहा जाता है। जहाँ तक रोदसी जगत् का विस्तार है, वहाँ तक माता-पिता के युग्म से ही चैतन्य प्राणियों का जन्म सम्भव है।

इस नियम के अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि में जहाँ तक प्राण की सत्ता है, वहाँ तक उसे शुक्र-सृष्टि कहा जाता है। यहाँ तक कि प्रत्येक वृक्ष, वनस्पति अदि भी बीज से ही जन्म लेते हैं। उदाहरण के लिए, आम की गुठली एक बीज है। वह पृथ्वी की कुक्षि में गलकर (अंकुर के रूप में बढ़ती हुई) वृक्ष बन जाती है और फिर अपने जैसी गुठली को जन्म देती है। एक बीज से मातृगर्भ की रहस्यात्मक रचना का आश्रय लेकर दूसरे बीज का जन्म, यही चेतन जगत् में प्रकृति का पूरा चक्र है। यह चक्र अनन्त काल से घूम रहा है और आगे भी इसका घूमना इसी प्रकार चालू रहेगा। इस चक्र के देश और काल में अनन्त अरे हैं।

*इस लेख को अग्रवाल जी ने यह पुस्तक उन्हें समर्पित करते समय लिखा था।

अनन्त की वैदिक संज्ञा सहस्र है। इसलिए विश्व के इस चक्र को सहस्रार चक्र भी कहा जाता है। हममें से प्रत्येक प्राणी सहस्रार चक्र के किसी एक अरे से नियंत्रित होकर उसी के साथ घूम रहा है।

कोई भी व्यक्ति हो, वह अपने माता-पिता या पिता-पितामह की वंश-परम्परा में ही जन्म लेता है। ऋग्वेद के अनुसार हममें से प्रत्येक व्यक्ति की संज्ञा यामायन कुमार है (ऋ० १०/१३५/१)। समस्त विश्व का जो पूर्वपुरुष है, उसकी संज्ञा यम है, वही यम काल है। इसी काल से सबकी रचना होती है। प्रत्येक प्राणी उसी कालरूपी यम का कुमार है। हमारे इस प्राणात्मक जीवन को ही कुमार कहना चाहिए। 'नवो नवो भवति जायमानः', अर्थात् जन्म-जन्म में यह नया बन रहा है। इस नियम के अनुसार प्राणतत्त्व की वेगवती धारा प्रत्येक पीढ़ी में नई होती हुई आगे बढ़ रही है। सैकड़ों-सहस्रों पीढ़ियाँ पहले बीत चुकी हैं और भविष्य में उत्पन्न होंगी। इसे पुराणपुरुष या पूर्वजों की शृंखला कहा जाता है। हममें से कोई भी ऐसा नहीं है, जो इस शृंखला की कड़ी न हो। प्रत्येक पिता सच्चे अर्थों में अपने पुराणपुरुषों से मिला हुआ है—

अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणां अनु वेनति (ऋ० १०/१३५/१)

अर्थात् इस शरीररूपी घर का स्वामी जो पिता है, वह आगे आनेवाले सबका आवाहन करता है कि तुम्हें पूर्वजों की शृंखला के साथ मिले हुए रहना है। यह कल्पना या अर्थवाद नहीं, यह तो जीव-विज्ञान का ध्रुव सत्य है। इसी अटल नियम के कारण प्रत्येक चेतन प्राणि-केन्द्र में मन, प्राण और पंचभूतों की जो सत्ता है, उसका उद्‌गम उस एक पुराणपुरुष से हुआ है, जिसमें ये तीनों तत्त्व थे। इसे यों कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर जो मन है, उसके विकास में उस आदिम पुराणपुरुष के मन की प्रभावसत्ता चली आई है। और वह प्रत्येक पीढ़ी या शरीर में अपने विशेष पूर्वपुरुषों से ही हमें पितृ-दाय के रूप में मिलती है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने पिता-पितामह का बड़ा महत्व है। उनसे ही यह पंचभौतिक शरीर मिलता है। वे ही प्राणशक्ति को क्रियाशील स्वरूप प्रदान करते हैं। उनसे ही मन की विशेष शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति अपने सपिण्ड पूर्वपुरुषों के लिए श्राद्ध-कर्म करे। श्राद्ध-कर्म पितरों के प्रति व्यक्ति के दायित्व और स्मरण-तर्पण का बहुत ही उत्कृष्ट प्रकार है। उसकी पूरी उपयोगिता अपने-अपने हृदय की श्रद्धा-शक्ति पर निर्भर है। उस स्मरण का एक विशिष्ट अंग यह भी है कि संस्कृति की जो परम्परा हमें पूर्वजों से मिली है, उस शृंखला की अपनी कड़ी को हम अपने द्वारा खंडित न होने दें और संभव हो तो और भी दृढ बनावें।

निजवार्ता-गृहवार्ता के रूप में, मैं यहाँ अपने पिता और पितामह का कुछ स्मरण करना चाहता हूँ। मेरे पितामह का नाम ला० छब्बामल था। उन्हें गाँव के लोग 'साहजी' कहा करते थे और खेड़ा गाँव में हमारा परिवार इसी नाम से प्रसिद्ध है। पितामह को मैं बहुत बचपन से, सम्भवतः अपनी आयु के तीन वर्ष से ही, निकट से देखने और जानने लगा था। मेरे पिता बाहर नौकरी में प्रायः रहते थे। अतएव गाँव में अपनी माता के साथ और अपनी दादी और बाबा के पास रहने के कारण मैं बाबा (पितामह) का बहुत प्रिय बन गया था। लगभग ३५ वर्षों तक मैंने उनके स्वरूप को बहुत निकट से देखा तथा उनके गुणों का अंतरंग अनुभव किया। मुझे इस बात से अनेक बार संतोष होता है कि मुझे अपने पितामह से चरित्र सम्बन्धी अनेक गुण सीखने का अवसर मिला। मेरे पितामह शरीर से अत्यन्त स्वस्थ थे। वह देह में लम्बे, बलिष्ठ और दृढ़ थे। रंग (जैसा उत्तर भारत में प्रायः सम्भ्रान्त घरानों में होता है) गेहुँआ था, जो उनके यौवनकाल में विशेष रूप से दमकता था। उनकी आँखें विशेष चमकीली और स्नेहपूर्ण थीं। उनकी प्रशान्त मुद्रा सदा एकरस रहती थी। नसें तारकशी-सी खिंची हुई थीं। आलस्य का तो उनमें लेषमात्र भी नहीं था। नियमित जीवन, आहार-विहार में संयम, अथक परिश्रम, प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में जागरण, ये उनके स्वाभाविक गुण थे। उनके इस स्वरूप को देखकर नेत्र कभी थकते न थे और मन अघाता न था। जिसे हम प्राचीन ग्रन्थों में कुलवृद्ध या स्थविर कहते हैं, मेरे पितामह उसके बहुत ही असाधारण प्रतिनिधि थे। इस प्रकार की लगभग २०० पीढ़ियाँ उनके समय से लेकर उस प्राचीन युग तक बीत चुकी थीं, जब पूर्व पूर्वज आर्य कुलवृद्धों ने हमारी जनपद और ग्रामभूमियों में भूसन्निवेश के सूत्र डाले थे। मेरे पितामह की बुद्धि जैसी विलक्षण थी उससे अधिक की कल्पना करने लगूँ, तो मुझे कठिनाई होगी। जिसे गीता और विदुरनीति में प्रज्ञा कहा है और जिसे हम सरल भाषा में सूझ-बूझ और समझदारी कहते हैं, उसके वह सच्चे प्रतिनिधि थे। सुलझी हुई बुद्धि उनका स्वाभाविक गुण था। संसार के व्यवहारों को करते हुए ही उन्होंने यह गुण सीखा था।

महाभारत में मैंने एक जगह पढ़ा था कि जो लोकव्यवहार को अपनी आँखों से देखता है, उसी का देखना पूरा सच्चा है (प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः)। आस-पास के पचासों गाँवों में उनकी बुद्धि की पूछ थी। लोग उससे लाभ उठाने के लिए उन्हें आदर से बुलाते थे। यह कहना ठीक होगा कि आस-पास के गाँवों में कोई सार्वजनिक काम उनकी सम्मति के बिना होता ही नहीं था। गाँवों में उनके अनेक मित्र थे। वे उन्हें अपने कुटुम्ब के कामों में भी बराबर

पूछते और बुलाते थे। गाँव के पण्डित, गाँव के चौधरी, ठाकुर और मुकद्दम——ये सब बाबा के घनिष्ट मित्र थे और प्रायः प्रतिदिन उनकी दूकान के चबूतरे पर आकर बैठते थे, जहाँ उनके लिए पुराने ढंग की खादी की छपी हुई जाजम बिछा दी जाती थी। उन गोष्ठियों का वातावरण हलका-फुलका होता था। अपनी कहना, दूसरे की सुनना, यही उनका हाल था और सबको सबकी बातों में रुचि थी। गाँव का या निज का कोई समाचार ऐसा नहीं था, जिसकी चर्चा वहाँ खुले जी से न होती हो। मेरे लिए इन सबका लाभ यह हुआ कि मेरा मन गाँव के जीवन में पग गया।

जिस जनपदीय जीवन के लिए मेरे मन में १९४० ई० में अपने पितामह के चले जाने के बाद विचारों का महान् वेग उत्पन्न हुआ, उसकी नींव जब मैं आज सोचकर देखता हूँ, तो उसी समय रक्खी गई थी जब मेरे पितामह की ये सरल ग्रामगोष्ठियाँ अविकल रूप से होती थीं। इनमें ग्राम-जीवन से सम्बन्धित सैकड़ों, सहस्रों चर्चाएँ मैंने सुनीं। अनेक ब्याह-शादियों के मंडान और भाँति-भाँति के टेहलों के बन्धान मुझे निकट से जानने को मिले। जब मैं गाँव में होता, तो बाबा के साथ प्रायः ब्याहों में जाया ही करता था। कितने ही दमदार ठाकुरों के सरल जीवन को निकट से देखने का अवसर मिला। वे बात के धनी, हृदय के मरोड़दार, पर बालक जैसे सरल थे। अपने-अपने स्वभाव की मरोड़ यह गाँव के जीवन की विशेषता है। लोगों के पास प्रायः पैसा नहीं होता, पर आत्मसम्मान की निजी धज से वे बड़प्पन का अनुभव करते हैं और उसी ठसक से जीवित रहते हैं। मुझे अब ज्ञात होता है कि इस मरोड़ या ठसक में ही सारे गाँव का व्यक्तित्व पीढ़ी-दरपीढ़ी सकुशल बना रहता है। जैसे गुरसल पक्षी भैंस के शरीर पर बैठकर उसकी आँख या नाक से मैल निकालता है, मैल निकालता हुआ उसे ढाह लेता है, वैसे ही सरल बातों से गाँव के ठाकुरों को भी वश में किया जा सकता है। पर कोई उनसे लगना चाहे, तो उनका सोया हुआ राउतपना चौकन्ना हो उठता है, फिर चाहे वे टूट जाएँ, पर झुकने का नाम नहीं लेते। बाबा ने अपनी आयु के ८० वर्ष ऐसे ही अग्निकणों के बीच बिताए, पर उन्हें नम्रता की राख से ढककर सदा शीतल बनाए रखा।

गाँव के पण्डित (ब्राह्मण) परिवारों के छोटे बालकों के लिए भी वह पालागन कहकर अभिवादन करते थे और ठाकुरों के छोटे बालकों को भी आदर से ही बुलाते थे। यह उनका स्वाभाविक शिष्टाचार था। इसके कारण गाँव के आपसी व्यवहारों में तनाव की मात्रा नहीं आने पाती थी। हम लोग जब अंग्रेजी पढ़कर गाँव में पहुँचे, तो वहाँ के निर्मल गंगाजल में अपने ठमकदार

विचारों को नहीं मिला पाए। हमने जो मानसिक ग्रन्थियाँ अंग्रेजी शिक्षा से सीखी थीं, वे गाँव के जीवन में नहीं थीं।

मैं कह चुका हूँ कि बाबा का स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। उनके भीतर प्राण की धारा अत्यन्त वेगवती थी। वह सदा ही ब्राह्म मुहूर्त में उठते और लम्बी लाठी लेकर गाँव के बाहर चले जाते थे। इस प्रकार शुद्ध वायु का सेवन और भ्रमण अनायास ही हो जाता था। वहीं से वह कई गाँवों में बँटी हुई अपनी ज़मींदारी के काम से चले जाते। कार्य के द्वारा व्यायाम की उनकी यही युक्ति थी। आलस्य तो उनमें था ही नहीं। काम को टालते न थे। कार्य-क्षिप्रता उनका गुण था। उन्होंने अपने जीवन के आरम्भ में कसकर खेती की। हल चलाना, खेत में पानी देना, निराई करना और पक जाने पर कटाई करना इन सब कामों को वे जैसी फुरती से और श्रम से करते थे, उसे देखकर गाँव के पुराने किसान भी अचरज में आ जाते थे।

आगे चलकर उन्होंने अन्न का व्यापार आरंभ किया। उस समय वह १०० मन अन्न की पैर या राशि अपने हाथ से तौलकर उठते थे। बाद में वह प्रायः लेन-देन और बंज का काम भी करने लगे थे। वह हिसाब के बड़े पक्के थे। गाँव भर के खाते उनकी बही में खुले रहते थे। राजपूतों के घर के आय-व्यय का लेखा-जोखा उन्हीं की बही में लिखा जाता। सब हिसाब सदा उन्होंने अपने ही हाथ से लिखा। वह अपनी बही मुड़िया लिपि में ही लिखते थे। हैसियत के समय उनका हिसाब सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता था। अधिकारी उस पर यहाँ तक विश्वास करते थे कि उसे कचहरी के लिए भी प्रामाणिक मानते थे। तहसील भर में उनका हिसाब सबसे अधिक टकसाली था। वह नित्य का हिसाब नित्य लिखने के अभ्यासी थे। घर के सब लोगों को वह हिसाब के विषय में शिक्षा दिया करते थे। उनका कहना था कि हिसाब पिता-पुत्र के बीच में भी आवश्यक है।

वह पाई-पाई का हिसाब रखते और बहुत मितव्ययी थे। किन्तु अपने लिए व्यय न करके परिवार के सब कुटुम्बी जनों के ऊपर व्यय करते रहते थे। अपने विषय में तो वह तपस्वी जैसे ही कड़े थे। शुद्ध कौड़ी की भावना उनके मन में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। अनीति का पैसा अपने पास नहीं आने देते थे। एक बार उनकी जमींदारी के छजारसी गाँव के नम्बरदार ने कुछ भूमि लगान उघाहने के लिए उन्हें सौंप दी और देकर बहुत वर्षों तक भूले रहे। पर बाबा अपनी बही में बराबर उसका लाभ उनके नाम से जमा करते रहे। जब २०००) जुड़ गए, तो उन्हें लेकर वह नम्बरदार को सौंपने गए! इस पर सारे गाँव को आश्चर्य हुआ, पर उनकी अपनी वृत्ति यही थी।

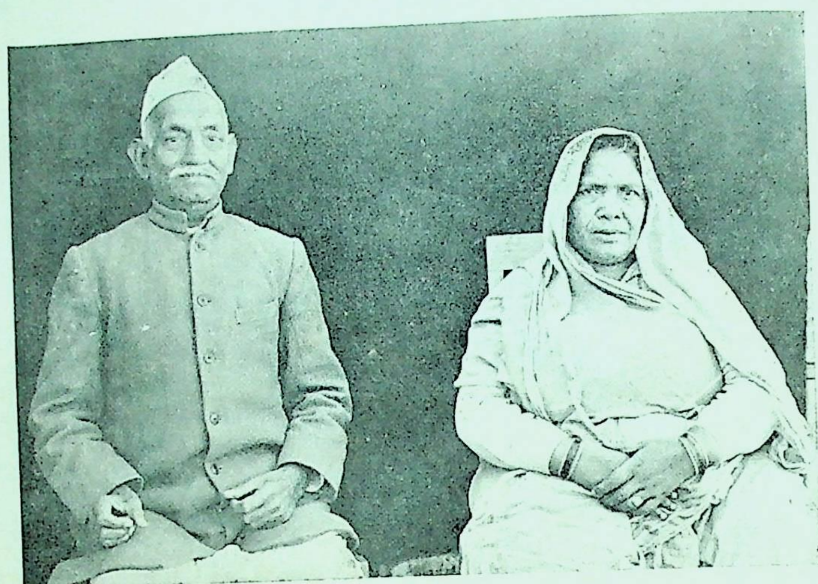
धर्म में उनकी आस्था थी। स्नान के बाद नित्य विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते थे। जब गाँव में होते, तो नित्य ही सायंकाल गाँव से बाहर के मन्दिर में शिवजी के दर्शन करने जाया करते थे। मैं भी जब कभी गाँव में होता, तो बचपन से ही उनके साथ मन्दिर जाया करता था। सनातनधर्मी परम्परा को मानने के कारण वह सभी हिन्दू देवी-देवताओं के भक्त थे। उनकी सब निष्ठायें सनातन काल की थीं, जैसी आज तक गाँवों में मिलती हैं। गंगा, गौ और गायत्री के वह भक्त थे। व्रत और उपवास का पालन करते थे। कर्मफल में उनकी निष्ठा थी और उसका आधार था अपने हाथ से हर एक कार्य स्वयं करना। वह कहा करते थे कि हाथ रत्न हैं, ये कभी गन्दे नहीं होते। जिसे बाद में मैंने व्यासजी द्वारा कहा हुआ पाणिवाद समझा, उसकी व्यावहारिक सीख मुझे जीवन भर के लिए उन्हीं से मिली। वह पुराणों के भक्त थे। दक्षिण के एक शास्त्री जी को अपने यहाँ रखकर महाभारत और पुराणों की कथा उन्होंने सुनी थी। अपने जीवन के २५ वर्षों तक उन्होंने स्वयं सुखसागर पढ़ा था और गाँव के अपने मित्रों को उसे बाँचकर सुनाया करते थे। उनकी तीसरे प्रहर की गोष्ठियों का यह एक अंग था। भागवत-धर्म के सूक्ष्म संस्कार मुझे उन्हीं से प्राप्त हुए। भागवत-धर्म के अनुयायी को जीवन में कैसा होना चाहिए, यह भी उन्हें देखकर मैं सीख सका। स्त्री-जाति के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त शुद्ध था। उनके पाँच पुत्र और एक कन्या थी। अपने जीवन के अन्तिम ३५ वर्षों तक उन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

वह सच्चे कुलधुरंधर थे। उनके एक शरीर से पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रों की संख्या पचास से अधिक थी। अपने परिश्रम से उपार्जित अर्थसंचय भी था। मेरी दादी अत्यन्त साध्वी, स्नेहमयी और तपस्विनी थीं। उनका हृदय अत्यन्त उदार था। उनका अपरिग्रह व्रत नितान्त स्वाभाविक था। मेरे पितामह के प्रति उनकी भक्ति विलक्षण थी। उसके ध्यान से ही मन गद्‌गद हो जाता है। पितामह अपने स्वभाव के जिस गुण की स्वयं श्लाघा किया करते थे, वह उनकी अविचल पितृभक्ति थी। बाबा का जन्म आषाढ़ वदी ८ संवत् १९१७ को हुआ था। उनके गाँव का नाम लाखन था। वहीं उनके छोटे भाई बहुत दिन तक जीवित रहे। संवत् १९३२ में अगहन सुदी दोयज के दिन मेरे पितामह लाखन से लगभग ३ मील पर खेड़ा नामक दूसरे गाँव में गोद आ गए। उस समय उनकी आयु लगभग साढ़े पन्द्रह वर्ष की थी। इसी नए गाँव में उन्होंने छोटी-सी दूकान और खेती करते हुए वाणिज्य के द्वारा पाँच गाँवों में जमींदारी का विस्तार किया।

वह सच्चे पृथ्वीपुत्र थे। सन् १९१२ से मेरे पिताजी लखनऊ में रहने लगे थे। जब कभी हम लोगों को देखने के लिए पितामह लखनऊ आते, तो वह शहर के



डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के पूज्य पितामह लाला झब्बामल जिनका बड़ा ओजस्वी शब्दचित्र उन्होंने 'गीता-नवनीत' की भूमिका में प्रस्तुत किया है) तथा सगी माँ के तुल्य स्नेहमयी दादी (जन्हें 'जनपदीय गुणों की मूर्त आत्मा' की संज्ञा उन्होंने प्रदान की है।



वासुदेवजी के पूज्य पिता गोपीनाथ जी एवं उनकी धर्मपत्नी



अग्रवाल-परिवार का एक स्मृति-चित्र : (मध्य में पिता गोपीनाथ जी हैं जिनके एक ओर ज्येष्ठ पुत्र वासुदेवशरण जी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती देवी हैं तथा दूसरी ओर द्वितीय पुत्र कृष्णमुरारि जी (खद्दर बाबू) और उनकी पत्नी श्रीमती उर्मिला देवी हैं।)

वातावरण में उखड़े हुए से रहते थे। उनका मन गाँव में ही रहता था। गाँव के जीवन में जो अनेक प्रकार के शिल्प होते हैं, उन्हें वहाँ के सच्चे ग्रामवासी सहज ही सीख लेते हैं। इस प्रकार के अनेक शिल्प मेरे पितामह को आते थे। खेती के अतिरिक्त खँडसारी का काम भी उन्होंने किया था। महल जैसी एक बहुत बड़ी हवेली भी बनवाई थी। ईंटों की पथाई से लेकर पटाव और छाजन तक सब कामों की देखभाल उन्होंने स्वयं की थी। अपनी जन्मभूमि में बने हुए उस पक्के महल का मुझे आज भी स्मरण है, जब ठेठ बालपन में कौड़ी ईंट के हिसाब से हम लोग ईंटें ढोया करते थे। उसके पलस्तर के लिए बेलगिरी, उरद, गुड़ और चूने के साथ जो मसाला पीसा जाता था, उसकी याद अब भी नहीं भूलती। सन् १९४० में उनका शरीर ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को पूरा हुआ, तब वह ८० वर्ष के थे। वह अपने जीवन भर प्रायः स्वस्थ ही रहे। एक बार हृदय-रोग से पीड़ित हुए, तो हम सबके आग्रह करने पर भी कोई औषधि नहीं ली, केवल ब्राह्मी के सेवन से अपने को रोगमुक्त किया। स्वयं गंगा की नहर तक जाकर प्रातः अपने हाथ से ब्राह्मी की पत्तियाँ लाया करते थे। उसी की बादाम मिली ठंडाई से उन्होंने पुनः स्वास्थ्य-लाभ किया। ऐसे बहुपुत्रपौत्रीण, कुलधुरन्धर, ग्रामवृद्ध सच्चे पृथ्वीपुत्र अपने पितामह से मैंने शरीर और मन के जो वरदान प्राप्त किए, ईश्वर करे वे औरों को भी उसी प्रकार मिलें।

मेरे पितामह के पाँच पुत्र हुए। सबसे बड़े मेरे ताऊ ला० नन्दराम जी, मेरे पिताजी श्री गोपीनाथ, और उनसे छोटे मेरे तीन चाचा श्री जगन्नाथ, श्री रघुनाथसहाय और श्री प्रेमनाथ जी।

: पिताजी :

मेरे पिता श्री गोपीनाथ जी का जन्म संवत् १९४० वि० में हुआ। उन्होंने आरम्भिक उर्दू-शिक्षा गाँव में ही पाई। हमारे गाँव से हापुड़ आठ मील दूर है। वहाँ उस समय एक अंग्रेजी हाईस्कूल था। संयोग से पिताजी शिक्षा के लिए वहाँ भेजे गए और उन्होंने हाईस्कूल पास कर लिया। उसके बाद वह आगे की शिक्षा के लिए रुड़की चले गए और वहाँ के इन्जीनियरिंग कॉलेज से उन्होंने ओवरसियर की परीक्षा उत्तीर्ण की। कई वर्षों तक नहर की सेवा करने के अनन्तर वह लखनऊ चुंगी में आ गए। वहाँ केवल एक वर्ष नौकरी की। फिर सन् १९१२ से स्वतन्त्र व्यापार किया। इसी कारण मेरी शिक्षा भी लखनऊ में हुई। सन् १९५० तक पिताजी ने अपना धन्धा किया और १९५८ ई० में स्वर्गवासी हुए। एम० ए० की शिक्षा प्राप्त करने के बाद, १९३१ ई० में मैं मथुरा-संग्रहालय में नोकरी पर चला

गया, तब से केवल सवा वर्ष का समय छोड़कर मैं प्रायः नौकरी पर ही रहा और पिताजी को उनके कार्य में कोई सहायता नहीं दे सका। उन्होंने मुझसे कभी कोई सेवा भी नहीं ली। केवल एक बार जब वह लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में आवश्यक शल्यक्रिया के लिए भरती किए गए, तो दो मास तक निरन्तर उनके पास रहने का सौभाग्य मुझे मिला था। हम सबके भौतिक शरीर नश्वर हैं, पर गुणों के द्वारा जो मानस संयोग बनते हैं, उनकी सुगंधि देर तक जीवन में बनी रहती है। इसी दृष्टि से आज मुझे अपने पिताश्री के गुणों का स्मरण आता है। जैसे पितामह से मुझे भागवत के संस्कार मिले, वैसे ही पिताजी से गीता के। मेरे पिता गीता के अनन्य भक्त थे। उनका यही प्रयत्न रहता था कि कैसे गीता की शिक्षा को जीवन में उतारें। पूरी गीता में से उन्होंने अपने लिए जीवन-सूत्र के रूप में एक वाक्य चुन लिया था—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।

उन्होंने अग्रवाल-कोठी के नाम से अपने जिस भवन का निर्माण सन् १९३३ में किया, उसकी ललाट-लिपि के रूप में भारतीय संस्कृति का यह अनमोल वाक्य आज भी अंकित है। अपने पितामह के जिन गुणों का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उनमें से कई मेरे पिता में भी थे। किन्तु पितामह हिसाब-किताब के प्रति जितने सजग थे, पिता उतने ही उसकी ओर से उदासीन थे। उनको इसमें विशेष रस नहीं आया। उनका एक गुण, जिसकी तुलना में अन्य कम व्यक्ति मेरे देखने में आए हैं, उनकी असीम उदारता थी। पराए उपकार के लिए वह अपना सब कुछ भूल जाते थे। किसी के अभाव के निवारण के लिए वे कुछ भी दे सकते थे और उस समय अपने हानि-लाभ का कोई विचार उनके मन में नहीं आता था। उन्होंने कितने ही व्यक्तियों की आर्थिक सहायता करके उन्हें व्यापारिक साधन में लगाया। उनकी सदा यही भावना रही कि सहायता करके प्रत्युपकार की कोई भावना नहीं रखनी चाहिए। इसी से भलाई करनेवाले को सच्चा सुख और परितोष मिलता है। वह अपने कुटुम्ब और अपनी जाति के लिए विशेष हितचिन्तक थे, किन्तु उसका ऐसा सात्विक रूप उनके मन में था कि किसी भी प्रकार की संकीर्णता से बचकर वह समाज और देश के व्यापक हितों में भी सदा रुचि लेते रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय उन्होंने यथाशक्ति आर्थिक सहायता दी। सन् १९२१ में तो एक चरखा-पाठशाला भी चलाई और बहुत दिनों तक अपने यहाँ खादी बुनवाते रहे। मैंने भी उसी प्रेरणा से उस समय खादी का व्रत लिया।

संस्कृत-भाषा के प्रति उनके मन में सहज अनुराग था। इसे पूर्वजन्म का शुभ संस्कार ही कहना चाहिए। सन् १९१६ के लगभग उनका परिचय प्रतापगढ़ के एक विद्वान् पण्डित (मेरे वर्तमान संस्कृत-गुरु) पं० जगन्नाथ जी से हुआ। पिताजी

ने मुझे उन्हें सौंपकर संस्कृत-शिक्षा की पूरी सुविधा कर दी। मैं नहीं कह सकता कि यह मेरे किस पूर्वजन्म के कर्म का सुन्दर फल मुझे पिता और गुरु के अनुग्रह से प्राप्त हुआ। मेरे जीवन में जो कुछ भी अमृत का अंश हैं, उस सबका श्रेय संस्कृत-शिक्षा को है। संस्कृत के अक्षर-द्वार से मुझे प्राचीन भारतीय संस्कृति के दर्शन का कुछ सौभाग्य प्राप्त हुआ। संस्कृत के अमृत-सिचन के प्रति मैं जितनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ कम है। पिताजी ने लखनऊ में शारदा-संस्कृत-विद्यालय के नाम से सन् १९२९ में एक विद्यालय भी स्थापित किया। उसमें अनेक छात्रों ने संस्कृत-विद्या की शिक्षा प्राप्त की। वह आज भी विद्यमान है और मेरे बालकाल के विद्यागुरु पं० जगन्नाथ जी ही उसके अध्यक्ष हैं। उनके जैसे तपस्वी निःस्पृह ब्राह्मण आचार्यों के द्वारा ही संस्कृत-वाङ्मय की परम्परा सुरक्षित रही है। उन्हीं के लिए भारतीय संस्कृति की यह भावना रही है—आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वं आचार्याय (अथर्ववेद)। शिष्य के लिए आयु और आचार्य के लिए अमृत, इसी वरदान से ज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है।

पिताजी ने अपने जीवन में कई धार्मिक ग्रन्थों की कथा सुनी। एक बार महाभारत (शान्तिपर्व) की कथा पण्डित जी से ही सुनी, जो सब धार्मिक कार्यों में लगभग ५० वर्षों से हमारे परिवार के कुलगुरु रहे हैं। भागवत और गीता की कथा तो कई बार सुनी। फिर एक घटना ऐसी घटी कि उसका अर्थ उस समय मेरी समझ में नहीं आया। उन्होंने एक दूसरे पण्डित जी को बुलाकर यह प्रबन्ध किया कि वह नित्य प्रति उन्हें वेद की कथा सुनाया करें। फलतः चारों वेदों का मूल पाठ और उसका हिन्दी अर्थ पिताजी ने आद्योपान्त सुना। उस समय मैंने उसे केवल औपचारिक समझा था, पर आज मैं समझता हूं कि उन्हीं संस्कारों के कारण वेदार्थ के प्रति मुझे सविशेष आस्था प्राप्त हुई है। इस समय मुझे ऐसा लगता है कि वेद ही मेरा बल है और वेद ही मेरे नेत्र हैं—

वेदा मे परमं चक्षुः वेदा मे परमं बलम्।

मेरे पूज्य पिता अब इस लोक से वहाँ जा चुके हैं, जहाँ हिरण्मय पुरुष के दर्शन के लिए हम सबको जाना है। किन्तु मुझे अनुभूति होती है कि वेदार्थ के विषय में वह अपना आशीर्वाद मेरे लिए छोड़ गए हैं। मेरे पितामह को भागवत और पुराण प्रिय थे; मेरे पिता को महाभारत, गीता, उपनिषद् और वेद। मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि इन महान् ग्रन्थों के अर्थों का कुछ उद्घाटन करने के लिए मुझे कुछ वर्षों तक भगवान् सूर्य की ज्योति का दर्शन मिलता रहे।

दो पत्र, जिनमें उनकी आत्म-कथा का सार उपलब्ध है

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम*

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय,
९–६–१९६६

प्रिय श्री चतुर्वेदी जी,

एक ही डाक से आपके दो पत्र मिले। ३-६-६६ का फीरोजाबाद से, जिसमें आपने लिखा कि 'पृथिवीपुत्र' की एक प्रति आपको प्रिंसिपल गर्ग से मिल गई। दूसरा पत्र ७-६-६६ का नई दिल्ली से, जिसमें आपने लिखा है की 'पृथिवीपुत्र' की दो प्रतियाँ आपने मास्को भेजने के लिए नई दिल्ली की सोवियत एम्बेसी को दे दी हैं। इससे अनुमान होता है कि मेरे प्रकाशक 'रामप्रसाद एन्ड सन्स' ने पुस्तक की पाँच प्रतियाँ आपके पास भिजवा दी हैं।

मेरा जन्म १९०४ में मेरठ जिले के खेड़ा नामक गाँव में हुआ। मेरे पितामह ठेठ गाँव के व्यक्ति थे। उनकी शिक्षा लगभग नहीं के बराबर थी। थोड़ी हिन्दी पढ़ लेते थे और अपना हिसाब-किताब मुड़िया में लिखा करते थे। पर वह अत्यन्त प्रखर बुद्धि के पुरुष थे। सत्य और न्याय में उनकी बड़ी निष्ठा थी। सन् ४० तक लगभग दो मास प्रतिवर्ष मैं उनके पास रहा करता था। वह शरीर से लम्बे-चौड़े और हृष्ट-पुष्ट थे। वह आसपास के दस-बीस गाँवों में बेताज के बादशाह थे। उनके चरित्र सम्बन्धी गुणों का मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा।

जीवन में उनसे बहुत-कुछ सीखा। जब मैं ६ वर्ष का था, मेरी माता का देहान्त हो गया। मेरा लालन-पालन दादी ने किया। वह जनपदीय गुणों की मूर्त

***इन पत्रों के प्रकाशनार्थ हम वयोवृद्ध चतुर्वेदी जी के अनुगृहीत हैं।**

आत्मा थीं। कुटुम्ब की निस्स्वार्थ सेवा उनका जीवनव्रत था। वह न गिनती गिन सकती थीं और न रुपये-पैसे रख सकती थीं। वैदिक पुरन्धि या पोथिन् शब्द उनमें सच्चे अर्थों में घटित होता था। गाँव का सारा मुहल्ला उन्हें अपनी पुरखिन मानता था। वह घर भर में मुझे सबसे अधिक स्नेह करती थीं, मेरी सगी माँ वह ही थीं। भारतीय संस्कृति के अनेक छिपे हुए मातृगुण मैंने लगभग ४० वर्षों तक उनमें देखे।

मेरी शिक्षा का आरम्भ देहाती मदर्से में हुआ। अपने पितामह की कुशाग्र बुद्धि और उत्तम स्मृति मुझे विरासत में मिली। मेरे पिताजी ५ भाई थे। घर में कुछ अंग्रेजी पढ़ने का संयोग उन्हें ही मिला। जब वह सन् १९१२ में लखनऊ नौकरी और व्यापार के सिलसिले से गए, तो मेरी शिक्षा का क्रम ठीक से चल निकला। हमारे देश में जितनी शिक्षा कोई पा सकता है, वह सब पिताजी ने मेरे लिए सुलभ कर दी। हाईस्कूल, इन्टर, बी० ए०, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० तक की सीढ़ियाँ मैंने पार कर लीं।

मेरे पितामह गाँव के किसान थे। उन्होंने बहुत वर्षों तक किसानी की थी। उनके मुकाबिले में १०-५ गाँवों का कोई किसान ठहरता न था। आगे चलकर वह लेन-देन और जमींदारी का काम करने लगे। वह ठेठ पृथिवीपुत्र थे। जब हम उन्हें लखनऊ ले आते, तो वह ५-७ दिन में ही उखड़े हुए जान पड़ते और अपने ग्रामजीवन के लिए भटक जाते थे। वह प्रातःकाल ४ बजे उठ जाते थे और अपनी जमींदारी में कई मील का चक्कर लगाते थे। मैं भी उनके साथ जाया करता था। तीसरे पहर वह अपनी टुकड़िया में बैठकर चौधरी, पण्डित, मुकद्दम, नंबरदार और अन्य गाँव के मित्रों को भागवत की कथा सुनाया करते थे। वह सच्चे सनातनधर्मी थे। इस साँचे के लोग इस देश में कई सौ पीढ़ियों से होते आए हैं। वह दोपहर को स्नान के बाद विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते, सायंकाल को गाँव से बाहर शिव-मन्दिर में शिव के दर्शन करके और घृतदीप जलाकर तब भोजन करते थे। मैं भी उनके साथ जाया करता था। कुछ ही लोग गाँव में ऐसे पुरखे होते हैं, जो पुरानी बातों को मानते हैं।

मुझे कई तरह के संस्कार अपने बाबा से और अपने प्रारम्भिक गाँव के जीवन से मिले। महाभारत, भागवत और रामायण अपने इन महान् ग्रन्थों का परिचय पाना और पढ़ना मैंने उन्हीं से सीखा। अभी तक मैंने महाभारत के २४००० श्लोकों पर एक सांस्कृतिक व्याख्या समाप्त की है। उसका नाम 'भारत-सावित्री' है और वह लगभग ८०० पृष्ठों के तीन खण्डों में समाप्त हुई है। १८ पुराणों की सांस्कृतिक और धार्मिक व्याख्या लिखने का भी मेरा संकल्प है। उनमें

से चार पुराणों पर अब तक लिख चुका हूँ। यदि रूसी जनता हमारे मस्तिष्क और हृदय को देखना चाहती है, तो उसे पुराणों के चार लाख श्लोकों का साहित्य देखना चाहिए।

सन् १९४० में मेरे मन में जनपदीय आन्दोलन का विस्फोट हुआ। उसकी कहानी 'मधुकर' और 'लोकवार्ता' से आपको ज्ञात है। अब यह आन्दोलन अपने देश की भाषाओं में ठहर गया हैं। सुनता हूँ कि रूस की जनपदीय सामग्री (परिमाण में) १६ लाख श्लोकों के बराबर है। अपने देश में भी इससे कम नहीं है। रूसी विद्वानों को न्योता है कि यहाँ आएँ और काम करें। रूस और भारत के सम्पर्क का 'लोकवार्ता' द्वारा एक नया मोर्चा खुल सकेगा। जनता को इसमें पहल करना चाहिए। आपकी यात्रा सकुशल हुई होगी। महाशय गोर्की के देश को मेरा नमस्कार कहिएगा।

भवदीय
वासुदेवशरण

(२)

का० हि० वि० वि
९-६-६६

प्रिय श्री चतुर्वेदी जी,

पहला पत्र अभी लिखकर इच्छा हुई कि दूसरे पत्र में भी अपनी जीवन-कहानी कहता जाऊँ। ऐसा सुखकर न्यौता अभी तक किसी ने नहीं दिया था, पर मैं आपका यजमान हूँ, इसलिए पूरी मात्रा में ब्रह्मभोज कराने से ही आप छकेंगे!

अब अपने साहित्यिक शरीर का कुछ परिचय दे डालूँ। लगभग सन् १९१५ से मेरी रुचि संस्कृत-विद्या की ओर हुई। मेरे पिताजी का परिचय पं० जगन्नाथ जी से हो गया। वह अवध में प्रतापगढ़ जिले के सात्विक ब्राह्मण हैं। मैं इधर हाईस्कूल भी न कर पाया था कि पिताजी ने मुझे पंडितजी को सौंप दिया। यह पूर्वजन्म का संयोग था। पंडितजी ने मुझे पुराने ढंग की संस्कृत-विद्या में डाल दिया। वह मेरे गुरु ८८ वर्ष के हैं। मेरे लिए ज्ञान का नया क्षेत्र खुल गया। संस्कृत पढ़ते हुए मैं बहुत दूर निकल गया। पण्डितजी की कृपा से मेरा परिचय पाणिनि के महान् ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' से हो गया। पाणिनि का ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' भारतीय जनपदीय जीवन का दर्पण है। १९२९ में जब मैंने प्राचीन इतिहास में एम० ए० कर लिया, तो मेरे गुरु डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने आग्रह के साथ मुझे 'अष्टाध्यायी' विषय पर ही शोध-कार्य करने को कहा, क्योंकि वह जानते थे कि मुझमें उसकी विशेष योग्यता थी। मैंने बारह वर्ष तक उस विषय पर कार्य किया। १९४१ में

मेरा ग्रन्थ 'इन्डिया एज नोन टू पाणिनि' समाप्त हो गया और मुझे पी-एच०डी० उपाधि मिली। फिर १९४६ में उसी ग्रन्थ के परिवर्तित रूप पर मैं डी० लिट्० की उपाधि के योग्य समझा गया। ७ वर्ष बाद, १९५३ में वह ग्रन्थ पहली बार छपा और तब सारे विश्व में जहाँ तक संस्कृत-विद्या पढ़ी जाती है, मुझे बहुत यश प्राप्त हुआ। देश और विदेश में उस ग्रन्थ के कारण मेरा यश फैल गया। आज तक विद्वान् सम्मान के साथ उस ग्रन्थ को पढ़ते हैं। इसका हिन्दी अनुवाद भी मैंने स्वयं ही किया। पाणिनि व्याकरण के विद्वान् तो थे ही, किन्तु वह विलक्षण जनपदीय सहानुभूति के व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी भूमि को निकट से जाना और प्यार किया। घर के भीतर और बाहर के जीवन का सूक्ष्म वर्णन उनके ग्रन्थ में है। मेरा जन्म गाँव में हुआ था। इसलिए मैं उसकी सच्ची व्याख्या कर सका।

यहाँ पर मैं कह दूँ कि मेरा मन कुछ ऐसा है कि बहुत-से विषयों में रुचि होती गई। जैसे किसी घर में बहुत-से द्वार और खिड़कियाँ हों, ऐसा ही कुछ मेरा मन है। उसमें पचासों विषय भरे हुए हैं। वह मेरा अक्षय भंडार है। १९३१ में एम०ए० करने के दो वर्ष बाद ही मुझे मथुरा के पुरातत्त्व-संग्रहालय का अध्यक्ष चुन लिया गया। वहाँ मैंने भारतीय कला और मूर्तिशास्त्र का अध्ययन किया। फिर १९४० में मैं लखनऊ-संग्रहालय का अध्यक्ष हो गया। वहाँ से १९४६ के आरम्भ में नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय का अध्यक्ष-पद मुझे मिला। फिर वहाँ से १९५२ के अन्त में हिन्दू-विश्वविद्यालय के कला-विभाग का अध्यक्ष होकर यहाँ आ गया, और तब से आज तक यहीं हूँ। मैं स्थान बदलना नहीं चाहता। अपनी रुचि के अनुकूल कार्य चाहता हूँ। संस्कृत-विद्या और भारतीय कला इन दो विषयों से जो मेरा परिचय हुआ, वह दिन-प्रति-दिन गाढ़ा होता गया। मैंने सोचा कि इन दो शास्त्रों को निकट लाना चाहिए। मैंने संस्कृत-साहित्य की सहायता से कला और पुरातत्त्व-सम्बन्धी सहस्रों शब्दों का उद्धार किया। यूनानी कला के लिए ही कुछ ऐसा काम हुआ था। यह हमारा कार्य उससे कम महत्व का नहीं है। उसका कुछ नमूना मेरी लिखी पुस्तक 'इन्डियन आर्ट (भाग १)' में है, जो अभी छपी है। यदि रूसी विद्वानों को 'इन्डियन आर्ट' पढ़ना हो, तो वे मेरी उस आँख से उसे पढ़ें। जैसा मेरा स्वभाव है, मैंने भारतीय शब्दों में अपनी कला की कहानी कही है। यदि मैं जीवित रहा, तो इस कथा को और आगे ले चलूँगा। अब मुझे भारतीय कला का अध्ययन करते हुए ३५ वर्ष हो गए हैं और मुझे इसका विश्वास है कि जो दृष्टिकोण मेरी समझ में आया, वही ठीक है। पश्चिम के सब विद्वानों को एक दिन उसी बिन्दु पर आना होगा। जनपदीय दृष्टिकोण, भारतीय कला, संस्कृत-

साहित्य इन तीन विषयों के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के कितने ही विषय मेरे मन में भरते चले गए। उन्हीं में भारतीय भूगोल, पुराण साहित्य और वैदिक साहित्य की ओर मेरा मन सन् २० से ही खिचता था, पर विशेष खिचाव पिछले सात वर्षों में हुआ है। जब से मैंने दीर्घतमस ऋषि के अस्यवामीय सूत्र की व्याख्या लिखी, तब से मेरा विश्वास हो गया है कि वेदविद्या सृष्टिविद्या है और उसके सदृश ऊँची अन्य कोई विद्या नहीं है। प्राणविद्या या जीवनीशक्ति की विद्या ही वेद है। यही सनातनी योगविद्या या प्राणविद्या है। पर मेरी कही हुई बात को लोग अभी समझ नहीं पा रहे हैं। इस विषय पर मैंने लगभग ६ ग्रन्थ लिखे हैं। यदि मैं यूरोपीय विद्वानों के सामने अपनी बात रख सकता, तो वे यह जान लेते कि मानव के नित्य जीवन के लिए जो तत्त्व वेदों में कहे गए हैं, वे सबसे अधिक मूल्यवान् हैं। मुझे इस बात का संतोष है कि मेरे जीवन का सायंकाल वेदविद्या के सम्पर्क से बीत रहा है। आप नाम से चतुर्वेदी हैं, पर वेद के अक्षर से कभी भेंट नहीं की। अतः मेरी बात आपको शेखचिल्ली या ऊलजलूल कहनेवाले सागर-पण्डित जैसी जान पड़ेगी !

भवदीय
वासुदेवशरण

डॉ० अग्रवाल के निधनोपरान्त उपर्युक्त पत्र प्रकाशित करते समय चतुर्वेदी जी ने लिखा था:—

"स्वर्गीय बन्धुवर डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने जो दो अन्तिम पत्र मुझे लिखे थे, वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें उन्होंने अपने विषय में कुछ ऐसी बातें बतलायी थीं, जो उनके चरित्र तथा उनकी आकांक्षाओं पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। ये दोनों पत्र मुझे अपनी रूस-यात्रा में मास्को में मिले थे। स्व० अग्रवाल जी से मेरा २५ वर्ष से सम्बन्ध था और उनकी प्रेरणा से मैंने 'मधुकर' का जनपदीय विशेषांक भी निकाला था और आगे चलकर अन्तर्जनपदीय परिषद् भी कायम करायी थी। निस्सन्देह उनका आकस्मिक निधन केवल हिन्दी-जगत् के लिए भी भयंकर दुर्घटना है।

क्या ही अच्छा हो, यदि हम उस महान् विद्वान् की स्मृतिरक्षा के लिए कोई ठोस कार्य करें। इन पत्रों में अग्रवाल जी ने अपनी जो आकांक्षाएँ प्रकट की हैं, उनकी पूर्ति होने से ही उनकी स्वर्गीय आत्मा को सन्तोष होगा। उसके सिवाय उनके विषय में एक विस्तृत स्मृति-ग्रन्थ भी निकलना चहिए।"

उनकी जीवन-यात्रा का संक्षिप्त तिथि-पत्र

उल्लेखनीय प्रसंगों के विवरण सहित

जन्म और शैशवकाल (१६०४–१६११ ई०) :

१९०४ ई०——शनिवार, ७ अगस्त (तदनुसार श्रावण कृष्ण १०, सं० १९६१ वि०) के दिन प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त में ('कर्क' लग्न और 'वृषभ' राशि के 'रोहिणी' नक्षत्रगत चन्द्र एवं 'कर्क' ही के सूर्य के अधीन) उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले की गाजियाबाद तहसील के खेड़ा* नामक गाँव के एक प्रतिष्ठित वैश्य-परिवार में जन्म

* यह गाँव दिल्ली-मुरादाबाद रेलमार्ग के पिलखुआ स्टेशन के सन्निकट स्थित है और हापुड़ से दिल्ली को जा रही सड़क से भी लगभग लगा हुआ-सा ही है। 'खेड़ा' शब्द संस्कृत 'खेट' का रूपान्तर है, जिसका प्रयोग प्राचीन काल में प्रायः लघु बस्ती के लिए हुआ करता था। 'खेट' शब्द को जोड़कर गाँवों के नाम रखने की प्रथा ('अष्टाध्यायी' के अनुसार) जहाँ पाणिनि के समय में थी, वहाँ आज भी वह परंपरा 'खेड़','खेड़ा', 'खेड़ी' आदि के पुछल्लेवाले गाँवों के नामों में महाराष्ट्र से लेकर उत्तर प्रदेश तक जीवित है ! इसके कुछ उदाहरण ये हैं— 'मुंदखेड़' और 'सिंदखेड़ा' (महाराष्ट्र); 'मालखेड़' और 'खामखेड़ी' (विदर्भ); 'बरखेड़ा' और 'हरण्याखेड़ी' (मध्य प्रदेश); 'खेड़ब्रह्मा' और 'लीमखेड़ा' (गुजरात); 'मालाखेड़ा और 'नाथूखेड़ी' (राजस्थान); 'खेड़ा कलाँ' और 'नीलोखेड़ी' (हरयाणा); तथा 'ललौरी खेड़ा' और 'बलियाखेड़ी' (उत्तर प्रदेश)।

हुआ। जन्म-कुंडली में तो नाम 'बुद्धिप्रकाश' उल्लिखित है, पर व्यवहार में 'वासुदेवशरण' नाम से ही पुकारे गए। पिता गोपीनाथ जी रुड़की से विधिवत् डिप्लोमा पाए हुए ओवरसियर थे। उन्हें प्रायः नौकरी के कारण बाहर ही रहना पड़ता था। अतः बालक वासुदेवशरण के शैशवकाल के प्रारंभिक दिवस अधिकांशतः खेड़ा में ही अपने पितामह लाला झब्बामल की दुलारभरी देखरेख में व्यतीत हुए। 'गीता-नवनीत' की भूमिका में डॉ० अग्रवाल ने अपने इन कुलधुरंधर कर्मठ अभिभावक का बड़ा ही प्रभावशाली चरित्रचित्र प्रस्तुत किया है, जो पाठकों के लाभार्थ इस ग्रंथ के पृ० १४७–१५३ पर उद्धृत किया गया है।

१९१० ई०—अभी वासुदेव छः वर्ष की ही आयु तक पहुँच पाए थे कि उनकी माता का देहान्त हो गया। यह एक बज्रसम चोट अल्पवयस्क पुत्र के लिए थी, परन्तु माँ से बिछुड़ने पर भी अपनी स्नेहमयी दादी का असीम प्यार पाकर, वासुदेवशरण को शैशवकाल में अकेलेपन का दुःख नहीं खटका। उन्होंने लिखा है—"मेरा लालन-पालन दादी ने किया।......वह घर भर में मुझे सबसे अधिक स्नेह करती थीं। मेरी सगी माँ वह ही थीं।"

१९११ ई०—प्रथम पत्नी के देहावसान के वर्ष भर बाद ही गोपीनाथ जी ने दूसरा व्याह कर लिया। तब बालक वासुदेव को पिता जी के साथ खेड़ा से हटकर हाथरस में पाँच-सात महीने बिताने का अवसर मिला। एक पत्र में डॉ० अग्रवाल ने लिखा है— "मेरी शिक्षा का आरम्भ देहाती मदर्से में हुआ।" उक्त 'देहाती मदर्से' से उनका मतलब शायद खेड़ा गाँव की ही किसी पाठशाला से रहा हो! शिक्षा का यह प्रारंभिक सिलसिला संभवतः हाथरस में भी ज्यों-त्यों जारी रहा था, ऐसा कहा जाता है*

लखनऊ में शिक्षा का प्रथम चरण (१९११-२०):

१९११-१५ ई०—कई वर्षों तक नहर-विभाग में नौकरी करने के बाद, गोपीनाथ जी १९११ ई० में लखनऊ के म्युनिसिपल बोर्ड में ओवर-

* कुछ काल तक गोपीनाथ जी अलीगढ़ में भी रहे थे और वहाँ भी वासुदेवशरण उनके साथ थे।

सियर के पद पर नियुक्त हो गए और नयागाँव मोहल्ले के उस अंचल में, जो अब 'मॉडल हाउसेस' कहलाता है, किराये पर मकान लेकर सपरिवार रहने लगे।* चूँकि इस समय तक पुत्र वासुदेवशरण शैशवकाल को पार कर किशोरावस्था में पदार्पण कर चुके थे, अतः उनकी शिक्षा के प्रति पिता ने विशेष ध्यान देना शुरू किया। उन दिनों नगर के विद्यालयों में 'अमीनाबाद-हाईस्कूल' की विशिष्ट प्रतिष्ठा थी। इसी हाईस्कूल में (तीसरी कक्षा से आरंभ करके) वासुदेवशरण की शिक्षा का पहला दौर पूरा हुआ था। इस काल के उनके सहपाठियों में (उनके चाचा) प्रेमनाथ जी, (चचेरे भाई) परमात्माशरण जी तथा (फूफा के छोटे भाई) शिवचरण जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रेमनाथ जी और शिवचरण जी अभी भी विद्यमान हैं। इन पंक्तियों के लेखक को उक्त दोनों सज्जनों से वासुदेव जी के प्रारंभिक जीवन के बारे में बड़ी मूल्यवान् एवं रोचक जानकारी उपलब्ध हुई है। प्रेमनाथ जी ने बताया कि वासुदेव जी जब छठी कक्षा के विद्यार्थी थे, तभी हिन्दी में उन्होंने 'गाँव' पर एक कविता

---

*करीब एक वर्ष तक म्युनिसिपल बोर्ड की सेवा में रहने के बाद गोपीनाथ जी ने नौकरी छोड़ अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू किया, जिसमें उन्होंने बड़ी सफलता प्राप्त की। उन्होंने नयागाँव के किराए के मकान के पास की जमीन खरीदकर उस पर अपना निजी मकान भी बनवा लिया। वासुदेव जी ने अपने लिए इस मकान में ठेठ ऊपरी तल्ले पर का एक कमरा चुना था। वही उनका शयनकक्ष और अध्ययनकक्ष था, जिसमें धीरे-धीरे एक छोटी-सी लायब्रेरी भी उन्होंने जुटा ली थी! इस कमरे पर सड़क की ओर से एक नीम की छाँह पड़ा करती थी। यह एक रोचक बात है कि बाद में जब हीवेट रोड (शिवाजी मार्ग) पर परिवार की भव्य कोठी (जो 'अग्रवाल-कोठी' के नाम से पुकारी जाती है) निर्मित हुई, तो उसमें भी वासुदेवशरणजी ने पुनः ठेठ ऊपरी मंजिल पर के एक कमरे को ही अपना निवास-स्थान तथा अध्ययन-कक्ष बनाया था और मौके से इस कमरे पर भी सड़क की ओर से दो वृक्षों की बयार आया करती थी। यमलार्जुन की भाँति एक-दूसरे की बाँह में बाँह डाले ये वृक्ष आज भी विद्यमान हैं।

लिखी थी। उधर पढ़ाई में भी इतने तेज थे कि सदा कोई न कोई 'स्कॉलरशिप' (छात्रवृत्ति) पाते रहे। उन्हें खेलों में भी गहरी दिलचस्पी थी—विशेष रूप से हॉकी, क्रिकेट और दौड़ में। दुबले-पतले तो वह वस्तुतः सदैव ही रहे, यद्यपि कुश्ती के लिए अखाड़े में भी जाते थे। शिवचरण जी ने विनोदपूर्वक बताया कि जब कभी लड़कों में झगड़े की नौबत आती, तो दुर्बलशरीर शांतप्रकृति वासुदेव प्रायः उनके (शिवचरण जी के) दोहरे बदन की आड़ में खिसक जाते थे!

१९१५-२० ई०—दैवयोग से, जिन दिनों वासुदेवशरण चौथी-पाँचवीं कक्षा में रहे होंगे, उनके पिता का परिचय प्रतापगढ़-निवासी एक सीधे-सादे ब्राह्मण, पंडित जगन्नाथ जी से हो गया। यह १९१५ ई० के आसपास की बात है। पंडित जी संस्कृत भाषा के विद्वान् और व्याकरण के विशेषज्ञ थे। गोपीनाथ जी ने पुत्र को संस्कृत पढ़ने के लिए उन्हें सिपुर्द कर दिया। वह नयागाँव के घर पर आकर नित शिष्य को धातु-रूपावली और व्याकरण के सूत्र रटाने लगे। यह क्रम नियम से चार-पाँच वर्ष तक अर्थात् १९२० ई० तक चला। यद्यपि अमीनाबाद-हाईस्कूल में भी पं० नन्दलाल नामक एक शिक्षक सस्कृत पढ़ाते थे, पर वासुदेव जी ने पंडित जगन्नाथ जी को ही अपना संस्कृत-गुरु माना और इस नाते उन्हें आजीवन आदर प्रदान किया।*

---

*पं० जगन्नाथजी लगभग नब्बे वर्ष से भी अधिक आयु प्राप्त करके (इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय) अभी भी विद्यमान हैं और लखनऊ में ही सुन्दरबाग-स्थित निज आवासस्थान में रहते हैं। उन्होंने अग्रवाल जी के पिता और कुछ अन्य संस्कृतप्रेमी दानी सज्जनों के सहयोग से स्थापित 'शारदा-संस्कृत-विद्यालय' नामक एक पाठशाला का वर्षों तक शैक्षण-संचालन-कार्य सँभाला। वासुदेवशरण जी ने पंडित जी से संस्कृत की खानगी तौर पर शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गवर्नमेण्ट कॉलेज, बनारस, की विधिवत् 'प्रथमा परीक्षा' भी दी थी, जिसका साक्ष्य दिनांक १ नवंबर, १९२१ ई०, का तत्संबंधी एक प्रमाणपत्र है। इस प्रमाणपत्र में उनकी आयु १६ वर्ष दर्ज है।

असहयोग-आन्दोलन की लपेट में (१६२१-२२ ई०) :

१९२१ ई०—आज से ५० वर्ष पूर्व जब गांधी जी द्वारा प्रेरित असहयोग-आन्दोलन की लहर जोर-शोर के साथ लखनऊ में भी उमड़ी, तो अन्य अनेक देशभक्त विद्यार्थियों की तरह युवक वासुदेवशरण भी उससे प्रभावित हुए बिना न रहे। उन्होंने निर्भयतापूर्वक राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। विदेशी सरकार के बहिष्कार की पुकार पर स्कूल भी छोड़ दिया। अपने विदेशी वस्त्र उतार फेंके। शुद्ध खादी पहनना और चर्खा कातना आरंभ किया। स्वयं उनके पिता जी भी स्वदेशी के प्रबल समर्थक थे। यहाँ तक कि उन्होंने इन दिनों अपने घर पर चरखा चलाने तथा करघे से खादी बुनने का एक स्कूल तक स्थापित किया था! उस काल की सार्वजनिक गतिविधियों में अगुवाई करनेवाली उत्साही युवा पीढ़ी में बाबू लक्ष्मी-सहाय, श्री मोहनलाल सक्सेना तथा श्री चन्द्रभानु गुप्त नगर के प्रमुख कार्यकर्त्ता थे। वासुदेवशरण ने इनके साथ मिलकर नगर के सभी राष्ट्रीय कार्यकलापों में हिस्सा लिया। वह बैरिस्टर अतुलप्रसाद सेन के यहाँ भी जाते, जो उन दिनों नगर की सांस्कृतिक गतिविधियों के प्रेरणाकेन्द्र थे। शुद्ध खद्दर पहनने का जो व्रत इसी जमाने में उन्होंने लिया था, उसे आजीवन उन्होंने निभाया—यहाँ तक कि ब्रिटिश शासन के दिनों में, सरकारी पद पर आसीन होने की स्थिति में भी, सदैव शुद्ध खादी की भारतीय पोशाक में ही वह बने रहे और एक बार तो इस बात को लेकर अपनी नौकरी को लात मारने तक को वह आमादा हो गए थे! इसी जमाने में (१९२२ ई० में) वासुदेव जी के एकमात्र अनुज श्री कृष्ण मुरारि का जन्म हुआ। चूँकि स्वदेशी-आन्दोलन के कारण उन दिनों घर में खद्दर का ही बोलबाला हो रहा था, अतः परिवार के इस नवागत बालक को सब कोई 'खद्दर' उपनाम से ही पुकारने लगे और आज भी वह 'खद्दर बाबू' ही कहलाते हैं! बड़े भ्राता के प्रति वह अगाध श्रद्धा रखते हैं।

शिक्षा का द्वितीय चरण : काशी में (१६२३–२७ ई०) :

१९२३–२५ ई०—असहयोग-आन्दोलन की लपेट में आकर स्कूल छोड़ देने पर भी, युवा वासुदेवशरण ने घर पर पढ़ना-लिखना नहीं छोड़ा और

वह नियमित रूप से अपना टाइमटेबल बनाकर, संस्कृत-व्याकरण (सिद्धान्त-कौमुदी के तद्धित, तिङन्त प्रभृति प्रकरण), अंग्रेजी, इतिहास (भारतीय एवं इंगलैंड का), बीजगणित (अल्जेब्रा), हिसाब, रेखागणित (ज्योमेट्री), भूगोल, 'मुक्तावली' नामक पाठयपुस्तक आदि का प्रति दिन पाँच-छः घंटे तक डटकर स्वाध्याय करते।* तब यू०पी० के 'हाईस्कूल-इन्टरमीडिएट-बोर्ड' का अता-पता भी नहीं था और आज की हाईस्कूल-परीक्षा के समकक्ष की 'मैट्रिक्यूलेशन-परीक्षा' इलाहाबाद-युनिवर्सिटी ही लिया करती थी। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था। चूँकि वासुदेवशरण का हाईस्कूल का दाखिला रद्द हो चुका था, अतः मैट्रिक्यूलेशन-परीक्षा में बैठने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। ऐसी परिस्थिति में पहले तो पिता जी के आग्रह पर वह (जुलाई १९२२ ई० में) स्थानीय 'टेकनिकल-स्कूल' में भरती हुए, परन्तु दो-चार महीने वहाँ उक्त प्राविधिक शिक्षा के साथ माथा लड़ाने के उपरान्त जब वह अधिक नहीं चल पाए, तब तय हुआ कि वह बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय की 'एडमिशन प्रवेशिका परीक्षा' में (खानगी परीक्षार्थी के तौर पर) बैठें और तदुपरान्त इन्टरमीडिएट की शिक्षा के लिए काशी ही चले जाएँ। यह उल्लेखनीय बात है कि उक्त कार्यक्रमानुसार जब वह बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय की क्रमशः 'एडमिशन' (१९२३ ई०) और 'इन्टरमीडिएट (१९२५ ई०) दोनों ही परीक्षाओं में बैठे, तो प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण हुए थे और इसी अवधि में उन्होंने पुनः 'गवर्नमेण्ट कॉलेज, बनारस,'

---

*इस संबंधी प्रखर साक्ष्य १९२२-२३ ई० की उनकी एक डायरी में (जिसे संयोगवश उनके चाचा तथा सहपाठी श्री प्रेमनाथ अग्रवाल ने सँभालकर अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा है) उपलब्ध है। इसमें जगह-जगह (दैनिक निर्धारित कार्य-क्रम के तौर पर) इस प्रकार की टीपें मौजूद हैं, जैसी कि—"५ से ६-३० (तक) सिद्धान्त तद्धित; ८ से ९ मुक्तावली; ९ से १० सिद्धान्त तिङन्त; १० से ११ ज्योमेट्री (रेखागणित); ११ से १२ भोजनादि; १२ से १ इंगलैंड का इतिहास; १ से २ 'व्यापार' लेख; २ से ३ भूगोल; ३ से ४ भारतीय इतिहास; .... ७ से ८ बीजगणित; ८ से ९ अंग्रेजी; ९ से ९·३० सिद्धान्त।

की एक संस्कृत-परीक्षा भी दी थी, जिसमें उत्तीर्ण होने का प्रमाण-पत्र (१९२४ ई०) विद्यमान है*।

१९२५–२७ ई०— बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी से इन्टरमीडिएट-परीक्षा पास कर लेने के उपरान्त, बी० ए० के लिए भी वासुदेवशरण ने उसी विश्वविद्यालय का आश्रय ग्रहण किया और दो वर्ष विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध 'रुइया-होस्टल' (छात्रावास) में टिककर उन्होंने अपना यह अध्ययन-काल पूरा किया।

काशी-विश्वविद्यालय के उनके विद्यार्थी-जीवन का एक संस्मरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कहते हैं, जिन दिनों वासुदेवशरण विश्वविद्यालय के छात्र थे, तभी महामना पं० मदनमोहन मालवीय एवं आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव से बढ़ावा प्राप्त कर, श्री जगजीवनराम आरा से मैट्रिक की परीक्षा पास करके उच्च शिक्षा के लिए काशी-विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए थे। यह एक

---

*संस्कृत की शिक्षा खानगी तौर पर अपने गुरुवर पं० जगन्नाथजी शास्त्री से प्राप्त करने के उपरान्त वासुदेव जी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि बनारस युनिवर्सिटी की 'एडमिशन', 'इंटरमीडिएट' आदि परीक्षाओं के उनके पाठ्य विषयों में से एक संस्कृत विषय भी होता। यह उल्लेखनीय है कि इंटरमीडिएट-परीक्षा में तो संस्कृत में उन्होंने विशेष सम्मान (Distinction) भी पाया था। यही गौरव आगे चलकर बी० ए० की परीक्षा पास करते समय भी उन्होंने प्राप्त किया। बनारस-युनिवर्सिटी में उनके संस्कृत के प्राध्यापक पं० कालीप्रसाद मिश्र थे और उनके सहपाठियों में श्री टी० आर० वी० मूर्ति भी थे, जिन्होंने आगे चलकर एक प्राच्यविद्याविद् के रूप में बड़ी ख्याति अर्जित की। पं० कालीप्रसाद को अपने इन दोनों मेधावी छात्रों पर बड़ा गर्व-गुमान था। ८५ वर्ष के मिश्र जी अभी जीवित हैं। वह प्राय: कहा करते हैं कि वासुदेव और मूर्ति ऐसे दो तीव्रगामी घोड़ों जैसे थे, जिनमें कभी एक तो कभी दूसरा दौड़ में आगे निकल जाया करता! वासुदेवशरण जी को संस्कृत पर आरंभ ही से इतना प्रभुत्व-सा (अधिकार) प्राप्त हो चुका था कि वह इस भाषा में न केवल लेख, कविता, पत्र आदि ही लिख लेते थे, अपितु धाराप्रवाह भाषण देने की भी क्षमता उनमें थी!

स्मरणीय बात है कि जो व्यक्ति आगे चलकर भारत का रक्षामंत्री बननेवाला था, उसे विश्वविद्यालय के अपने शिक्षाकाल में (तथाकथित अंत्यज वर्ग में जन्म पाने के कारण) भोजन के लिए सवर्ण छात्रों के अन्य सभी मण्डलों ने अपने 'मैस' में शरीक करने से साफ इन्कार कर दिया। तब अकेले वासुदेवशरण ही ऐसे साहसी और प्रगतिशील व्यक्ति सिद्ध हुए, जिन्होंने अपने सहपाठियों के रोष और भर्त्सना की तनिक भी परवा न करते हुए जगजीवनराम को अपने 'मैस' में सहर्ष सम्मिलित करने का साहस दिखाया, चूँकि उनका यह 'मैस' आर्यसमाजी छात्रों का था और इसमें जाति-पाँति तथा छूत-छात के विचारों के लिए कोई गुंजाइश न थी ! तब से जगजीवनराम और वासुदेवशरण में प्रगाढ़ मित्रता हो गई थी, जो जीवन भर कायम रही ।

विवाह एवं प्रथम सन्तान (१९२३–२८ ई०):

१९२३ ई०—अभी वासुदेवशरण बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी के इंटरमीडिएट के ही छात्र थे कि उनका विवाह हो गया । विवाह के समय उनकी आयु १९ वर्ष की थी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती देवी की आयु मात्र १६ वर्ष । वह गाजियाबाद के एक बड़े जमींदार रईस लाला हरसरनदास की पुत्री थीं.* जो कि कट्टर आर्यसमाजी थे तथा हिन्दू-महासभा के प्रमुख पृष्ठ-पोषकों में से थे । कहते हैं, वासुदेव जी की वरयात्रा खेड़ा ग्राम से गाजियाबाद तक रथ और बैलगाड़ियों में गई थी । वर का रथ चार पहियों का था और उसमें भी बैल ही जुते

*** श्री प्रेमनाथ जी ने इस संदर्भ में एक विनोदपूर्ण प्रसंग का हाल हमें बताया है । कहते हैं, वासुदेवशरण जी का संबंध पहले किसी और परिवार में तय हो चुका था । परन्तु जब उक्त परिवार के लोग सगाई करने के लिए खेड़ा आए, तो ऐन मौके पर यह हजरत गायब हो गए और बहुत ढूँढने पर भी हाथ न लगे ! इस पर इनके पितामह ने भिन्नाकर इनके एक चचेरे भाई श्री राधाकृष्ण को वर के आसन पर बिठाकर उन्हीं का तिलक करा दिया ! इस प्रकार जो शायद उनकी धर्मपत्नी बन जातीं, वही दैवविपाक से उनकी भावज बन गई !**

थे। अन्य बाराती दो पहियोंवाली गद्देदार इक्के जैसी बहली पर सवार थे। नौकर-चाकर और सामान-असबाब बैलगाड़ियों पर लदा था। शादी बड़ी धूमधाम से हुई थी। वर-यात्रा की खेड़ा को वापसी भी पुनः इसी प्रकार से रथ, बहली और बैलगाड़ियों से सम्पन्न हुई थी।

१९२८ ई०—विवाह के ठीक चार वर्ष बाद, वासुदेवशरण पिता भी बन गए, जबकि उनकी प्रथम सन्तान—श्री स्कन्द कुमार—का जन्म हुआ।

लखनऊ में शिक्षा का अंतिम दौर (१९२७–२९ ई०) :

१९२७–२९ ई०—काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में बी० ए० की उपाधि प्राप्त करके (जिसका प्रमाणपत्र स्वयं पं० मदन-मोहन मालवीय जी के हस्ताक्षर से गौरवान्वित है), वासुदेव जी १९२७ ई० में वापस लखनऊ आए और उसी वर्ष के जुलाई मास में इतिहास में एम० ए० तथा एल-एल० बी० का सम्मिलित पाठ्यक्रम ग्रहण करके लखनऊ-विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहीं उन्होंने अपने इतिहास-गुरु डॉ० राधा-कुमुद मुकर्जी के चरणों में बैठने का पहलेपहल सौभाग्य प्राप्त किया था, जिनका उनके अपने इतिहास-विषयक विशिष्ट दृष्टिकोण के निर्माण तथा भावी अध्ययन-अनुशीलन के दिशा-निर्धारण के संबंध में प्रखर प्रभाव पड़ा था। इन्हीं दिनों की बात है कि कुख्यात 'सायमन-कमीशन' का लखनऊ-आगमन हुआ और देश के अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी काले झंडे दिखाकर उसके विरुद्ध प्रदर्शन किया गया। चारबाग में हुए इस ऐतिहासिक प्रदर्शन में युवा वासुदेवशरण ने भी 'सायमन गो बैक' का नारा लगाते हुए भाग लिया था। स्मरणीय है कि इस प्रदर्शन में पुलिस के लाठी-प्रहार में श्री जवाहरलाल नेहरू और पं० गोविन्द वल्लभ पन्त तक को काफी चोट आई थी। श्री प्रेमनाथ जी का कथन है कि वासुदेव जी के मन पर राष्ट्रोद्धार एवं समाज-सेवा के जो संस्कार १९२०-२१ ई० के असहयोग-आन्दोलन के समय से ही छा गए थे, वे रह-रहकर पुनः-पुनः जोर दिखाते रहते थे। कहते हैं, वह ग्रीष्मावकाश

में जब खेड़ा जाते, तो वहाँ ग्राम-सेवा के किसी न किसी कार्य में जुट जाते थे। एक बार तो वहाँ मेहतरों की बस्ती में खादी का प्रचार तथा अछूतोद्धार-कार्य करते समय न केवल कट्टर-पंथी ग्रामवासियों के ही प्रबल विरोध का सामना उन्हें करना पड़ा था, अपितु उनके संबंध में पुलिस की इन्क्वायरी तक हुई थी !

अंत में, १९२९ ई० में प्रथम श्रेणी में एम० ए० तथा एल-एल० बी० की डिग्रियाँ प्राप्त कर लेने के साथ ही उनका शिक्षाकाल समाप्त हुआ और अब उन्होंने छात्र-जीवन से विदा लेकर वृत्ति-व्यवसाय की ओर अपना कदम बढ़ाया। कहते हैं, विद्याध्ययन की समाप्ति पर पिताजी के इस आग्रह को मान्यता देकर कि वकालत का पेशा अपनाएँ, युवा वासुदेवशरण ने पहले प्रसिद्ध स्थानीय वकील बाबू रामप्रसाद वर्मा के यहाँ जाकर विधिवत् कानून की प्रैक्टिस की ट्रेनिंग लेना शुरू किया था। परन्तु पाँच-सात रोज बाद ही उन्हें यह धंधा झूठ और बेई-मानी का लगा, अतः वह उक्त दिशा से बिचक गए। तदनन्तर, डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के सुझाव पर उन्होंने राजकीय पुरा-तत्त्व-विभाग में नौकरी के लिए कोशिश की। यह प्रयत्न शीघ्र ही सफलीभूत हुआ और उनकी नियुक्ति मथुरा-म्यूजि-यम में हो गई। इस प्रकार वह लखनऊ से बाहर निकलकर मथुरा में जा बसे।

मथुरा-संग्रहालय के नौ वर्ष (१९३१-३९ ई०) :

१९३१-३४ ई०—मथुरा में वासुदेवजी डैम्पियर-नगर नामक नई बस्ती में 'पीली कोठी' के नाम से पुकारे जानेवाले एक बंगले के आधे हिस्से में किराए पर रहते थे। इस मकान के शेष आधे हिस्से में उसकी मालकिन श्रीमती काश्मीरी देवी अपने पति के साथ रहती थीं। उक्त वृद्धा एक सम्भ्रान्त और प्रभावशाली महिला थीं और वासुदेवजी को वह बेटे की तरह स्नेह करती थीं। वह भी उन्हें 'चाची' कहकर पुकारा करते। पति की मृत्यु के बाद कोठी बेंचकर अंतिम दिनों में वह बनारस में रहने लगी थीं। उनका यह परिचय हमने इतने विस्तार से यहाँ इसलिए

दिया है कि इन वृद्धा ने एक विशेष अवसर पर वासुदेवजी को पूर्वोक्त राजकीय पुरातत्त्व-सेवा में बनाए रखने में बड़ा योग प्रदान किया था। बात यह हुई थी कि तीन-चार वर्ष तक मथुरा-म्यूजियम का कार्यभार सँभालने के उपरान्त, १९३४ ई० में अग्रवाल जी ने अपने पू० पिता जी को उनके व्यवसाय में सक्रिय मदद देने के उद्देश्य से उक्त नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था और वह लखनऊ आकर रहने लगे थे। इस प्रकार उन्होंने लगभग सवा साल तक घर की दूकानदारी में हाथ बँटाया था, जिसका साक्ष्य इन दिनों के कतिपय व्यापारिक कागजात पर उनके निजी हस्ताक्षर हैं। परन्तु अन्त में इस व्यापारिक कार्य से उनका जी उचट गया और वह खोए-से रहने लगे। सौभाग्य की बात थी कि मथुरा-म्यूजियम के क्यूरेटर का उक्त पद अभी भी खाली था। जब डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी को इस बात का पता चला, तो उन्होंने वासुदेव जी के पिता से यह अनुरोध किया कि व्यापार-धन्धे में लगाकर अपने मेधावी पुत्र का भविष्य वह न बिगाड़ें और पुनः उन्हें पुरातत्त्व-विभाग की राजकीय सेवा में ही लग जाने दें। यद्यपि एक बार त्यागपत्र स्वीकार हो जाने पर फिर से उसी पद पर नियुक्ति होना बड़ा कठिन काम होता है, परन्तु डॉ० राधाकुमुद ने अपने प्रिय शिष्य को पुनः मथुरा-म्यूजियम के क्यूरेटर के पद पर स्थापित कराने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। उधर काश्मीरी देवी (चाची जी) ने भी वासुदेवजी के प्रति अपनी प्रगाढ़ ममता के नाते इस संबंध में मदद पहुँचाने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। उनका एक सरकारी अधिकारी पर काफी प्रभाव था, जो इस आड़े समय मे बड़ा काम आया। इस प्रकार वासुदेवशरण पुनः मथुरा-म्यूजियम के अध्यक्ष की कुरसी पर प्रतिष्ठापित हो गए।

१९३५-३९ ई०—मथुरा-संग्रहालय के विकास हेतु अग्रवाल जी ने जो-जो कार्य किए तथा उस संस्थान के साथ लगभग नौ-दस वर्ष के अपने घनिष्ठ संबंध के दौर में स्वयं उनका भी एक पुरातत्त्ववेत्ता के रूप में जिस प्रकार उत्थान एवं विकास हुआ, इस विषय में प्रस्तुत ग्रंथ में अन्यत्र पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतः

उसे यहाँ फिर से दोहराना पिष्टपेषण-सा होगा। हाँ, इस काल की उनकी अन्य महत्वपूर्ण गतिविधियों एवं जीवन-प्रसंगों का किंचित् उल्लेख आवश्यक ही नहीं, समयोचित भी है। इनमें प्रमुख स्थान (आगे चलकर काफी बढ़ावा पानेवाले) जनपदीय लोक-संस्कृति के उत्थान विषयक उस आन्दोलन को प्राप्त था, जिसकी दीपशिखा अग्रवालजी के हाथों पहले-पहल ब्रजभूमि की इस केन्द्रस्थलतुल्य पावन नगरी—मथुरा—में ही सँजोयी गई थी। इस अनुष्ठान में उनका हाथ बँटानेवालों में प्रधान थे सर्वश्री वृन्दावन दास, प्रभुदयाल मीतल, जवाहर-लाल चतुर्वेदी आदि ब्रज की संस्कृति में दृढ़ आस्था रखनेवाले कतिपय स्थानीय उत्साही सज्जन, जो कि तब से अग्रवाल जी के परम स्नेही आत्मीय जन जैसे बन गए थे। इसी युग की उनके जीवन की एक अन्य महान् उपलब्धि थी वेदों के असाधारण विद्वान् वयोवृद्ध पं० मधुसूदन ओझा के निकट संपर्क में आने का वह स्वर्णसुयोग, जिसने कि वासुदेवशरण जी के अध्ययन-अनुशीलन की दिशा को आगे चलकर एक सर्वथा नवीन मोड़ प्रदान कर दिया। कहते हैं, वेदमूर्ति ओझा जी किसी वैदिक समारोह में भाग लेने के लिए जयपुर से मथुरा आए थे, तभी अग्रवाल जी ने उनसे भेंट का यह दुर्लभ लाभ प्राप्त किया था। फिर, अपने मथुरा-आवास के इन स्मरणीय दिनों में ही वासुदेवशरण जी की वेदविद्या विषयक प्रथम पुस्तक 'उरु-ज्योति' का प्रकाशन हुआ था और तभी 'हिन्दी विश्व-भारती' में प्रकाशित उनकी दार्शनिक लेखमाला का भी श्रीगणेश हुआ था, जो कि आगे चलकर 'वेदविद्या' नामक उनकी कृति में संगृहीत हुई थी। उधर, पारिवारिक स्तर पर उनकी जीवन-यात्रा की इस काल की विशेष रूप से उल्लेखनीय घटना थी—प्रथम पुत्र के उपरान्त, पुनः दो पुत्र-रत्नों की प्राप्ति, जिनमें द्वितीय पुत्र श्री भृगुकुमार का जन्म १९३२ ई० में तथा तृतीय श्री विष्णुकुमार का १९३८ ई० में हुआ था (श्री भृगु-कुमार इंजीनियरिङ्ग में 'बी० एस-सी०' करके इन दिनों लखनऊ में ही लोहे की ढलाई का एक निजी कारखाना चला रहे हैं और श्री विष्णुकुमार 'एम० एस-सी०, पी-एच० डी०'

की उपाधियाँ अर्जित करने के उपरान्त, अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हो गए हैं)।

लखनऊ-संग्रहालय के क्यूरेटर (१९३९-४६ ई०) :

१९३९-४० ई०—अप्रैल १९३९ ई० में मथुरा से स्थानान्तरित होकर अग्रवाल जी 'प्रान्तीय पुरातत्त्व-संग्रहालय' के क्यूरेटर के रूप में लखनऊ आ गए और इस प्रकार सरकारी नौकरी में रहते हुए ही उन्हें अपने पू० पिता जी के साथ कई वर्ष तक पारिवारिक जीवन का लाभ पाने का दुर्लभ अवसर मिल गया। उन दिनों लखनऊ-म्यूजियम का प्रधान कक्ष एवं कार्यालय छतरमंजिल के समीप 'लाल बारादरी' नामक नवाबी जमाने की एक पुरानी इमारत में था। वासुदेवजी हीवेट रोड (शिवाजी मार्ग) पर स्थित अपने पैतृक निवासस्थान से उक्त बारादरी को नित निजी ताँगे में बैठकर जाया करते थे। वह सिद्धान्त के इतने पक्के थे कि एक बार ज़ब उन्होंने अपने ताँगे के घोड़े को म्यूजियम के हाते की घास चरते देख लिया, तो फौरन् ही सईस को बुलाकर डाँटा और ऐसा न होने देने का आदेश दिया। उस समय के उनके ये शब्द कि 'यह सरकारी घास इसे पचेगी नहीं' चिरस्मरणीय हो गए हैं।

मथुरा-संग्रहालय की तरह लखनऊ-म्यूजियम को भी आमूल पुनर्नियोजित एवं सुव्यवस्थित करने की दिशा में अग्रवालजी ने जो महान् योग प्रदान किया था, उसका विस्तृत विवरण इस ग्रंथ के 'प्राक्कथन' में प्रस्तुत किया जा चुका है। अत: यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। थोड़े में, इतना सूचित कर देना ही पर्याप्त होगा कि वासुदेव जी का हाथ लगने से इस संग्रहालय का मानो चेहरा ही बदल गया—विशेष करके उसके पुरातत्त्वीय शिल्प-विभाग का सुघढ़ स्वरूप तो शतशः उन्हीं की देन है।

१९४१-४६ ई० —लखनऊ के लिए यह भी एक विशेष सौभाग्य की बात हुई कि अग्रवालजी को डॉक्टरेट की उपाधि यहीं के विश्वविद्यालय ने प्रदान की, और सो भी उन्हीं दिनों जब कि यहाँ के संग्रहालय के अध्यक्ष के रूप में इसी नगर में उनका आवास

भी रहा। जैसा कि उनके कृतित्व के परिचय के सिलसिले में इस ग्रंथ में अन्यत्र कहा जा चुका है, यह सम्मान वासुदेव जी ने १९४१ ई० में 'पाणिनि एज़ ए सोर्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री' शीर्षक शोध-निबन्ध की बदौलत अर्जित किया था, जिसका आगे चलकर 'इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि' नामक उनके शीर्षस्थ ग्रंथ के रूप में प्रकाशन हुआ। यह भी कोई कम गौरवपूर्ण सम्मान नहीं था कि इसी विषय पर पाँच वर्ष बाद उन्हें 'डी० लिट्०' की भी उच्चतम उपाधि इसी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई थी। उक्त उपाधि के लिए निर्णायक सम्मति प्रदान करनेवाले विद्वान् विशेषज्ञों में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के अतिरिक्त महामहोपाध्याय डॉ० आर० शामशास्त्री तथा प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य जैसे प्रकाण्ड प्राच्यविद्या-विशारद भी थे, जिन्होंने भारतीय ज्ञान-क्षितिज पर उदित इस नूतन प्रतिभा की भूरि-भूरि सराहना करते हुए उसके कृतित्व को सर्वोच्च सम्मान के योग्य उद्घोषित किया था।

मथुरा की तरह अपने लखनऊ-आवास के इन आठ वर्षों में भी अग्रवाल जी का हिन्दी-अंग्रेजी में विविध विषयों पर लेख-निबन्ध आदि लिखते रहने का तारतम्य बराबर जारी रहा था। इस काल की उनकी रचनाओं में लखनऊ ही से प्रकाशित 'हिन्दी विश्व-भारती' नामक ज्ञान-विज्ञान-कोश के 'सत्य की खोज' एवं 'मानव विभूतियाँ' शीर्षक स्तंभों के लिए (उक्त ज्ञानकोश के संपादक श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी के अनुरोध और सुझाव पर) विशेष रूप से लिखे गए बड़े मार्के के उनके कई लेख हैं, जो बाद में 'वेदविद्या', 'कल्पवृक्ष' आदि उनके निबन्ध-संग्रहों में संकलित कर लिए गए थे।

लखनऊ के इस आवासकाल के दिनों में वासुदेवशरण जी की मित्र-मंडली में पं० रामदत्त शुक्ल का अपना एक विशिष्ट स्थान था। शुक्ल जी कट्टर आर्यसमाजी थे और उनसे वासुदेवशरण जी की बहुत पटती थी। आर्यसमाज के प्रति अग्रवाल जी के मन में आस्था तो बहुत पहले ही से जमी हुई थी, जिसका जीता-जागता साक्ष्य इस तथ्य के रूप में उपलब्ध है कि जिन दिनों वह काशी में विश्वविद्यालय के

छात्र थे, तभी 'ए क्लू टू द अंडरस्टैंडिग ऑफ द आर्यसमाज' शीर्षक एक पुस्तिका उन्होंने लिखी थी, जिसे विश्वविद्यालय की आर्यसमाज-शाखा ने प्रकाशित किया था (१९२७ ई०)। वह पहले हवन आदि भी नियमित रूप से करते थे। इधर पं० रामदत्त शुक्ल के निकट संपर्क में आकर अग्रवाल जी को वेदों के गहन अध्ययन तथा उनकी अगाध ज्ञानराशि के प्रचार की दिशा में विशेष बढ़ावा मिला। इसीलिए उन्होंने अपने इन अनन्य मित्र को 'वेदविद्या' नामक निबन्ध-संग्रह समर्पित करते हुए निज 'वैदिक गुरु' की संज्ञा प्रदान की है। शुक्ल जी के साथ मिलकर अग्रवाल जी ने लखनऊ में एक वैदिक अध्ययन-केन्द्र-सा बना रक्खा था, जिसके तत्त्वावधान में उन्होंने रामदत्त जी के सहयोग से 'पैप्पलाद-संहिता', 'गायत्री-उपनिषद्' जैसी पुस्तक-पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित की थीं। उधर श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी (संपादक, 'हिन्दी विश्व-भारती'), पं० बालकृष्ण पांडे (प्रिन्सिपल, कान्यकुब्ज कॉलेज), श्री दीनदयाल गुप्त एवं डॉ० बड़थ्वाल (प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय) तथा श्री रामविलास शर्मा आदि के साथ मिलकर लखनऊ में 'हिन्दी-साहित्य-समिति' के नाम से एक साहित्यिक संस्था की स्थापना में भी उन्होंने हार्दिक सहयोग प्रदान किया था। उन दिनों हिन्दी के नाते लखनऊ में सार्वजनिक गतिविधियों का कोई मंच ही नहीं था। पूर्वोक्त 'हिन्दी-साहित्य-समिति' की स्थापना इसी अभाव की पूर्ति के हेतु की गई थी। उसके कार्य का श्रीगणेश संयोग से एक बड़े ही आकर्षक और प्रभावशाली समारोह के द्वारा हुआ था। बात यों हुई थी कि मौके से गुजरात के प्रख्यात कलागुरु श्री रविशंकर रावल 'शान्ति-निकेतन', कलकत्ता के 'कला-विद्यालय' तथा 'पुरातत्त्व-संग्रहालय', काशी के 'भारत-कला-भवन' आदि कला-केन्द्रों की अपनी 'सांस्कृतिक यात्रा' के तारतम्य में दो दिनों के लिए लखनऊ भी आए थे और वह 'हिन्दी विश्व-भारती' के संपादक श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी के मेहमान थे। द्विवेदी जी जब उन्हें स्थानीय सांस्कृतिक केन्द्रों की सैर कराने ले गए, तो संयोग से संग्रहालय में वासुदेवजी से भी उनका परिचय

कराने का मौका मिला। दुबले-पतले शरीरवाले ये दोनों ही 'रसशास्त्री' एक-दूसरे का पहलेपहल साक्षात्कार करके भाव-विभोर-से हो गए। इस प्रसंग का विवरण स्वयं रावलजी के ही शब्दों में इस प्रकार है, जिसे 'कुमार' नामक अपने गुजराती मासिक में एक लेखमाला के क्रम में उन्होंने यात्रा की समाप्ति पर अंकित किया था :—

"लखनऊ-म्यूजियम में संगृहीत प्राचीन शिल्प का स्थान केवल मथुरा से दूसरे नम्बर पर है। इस म्यूजियम के लिए पुरानी नवाबी इमारतों का उपयोग बड़ा फबता है। आज तो इस म्यूजियम की संगृहीत सामग्री इतनी बढ़ चुकी है कि उसको दो शाखाओं में बाँट देना पड़ा है। इस संग्रहालय के प्रधान श्री वासुदेवशरण अग्रवाल पहले मथुरा-म्यूजियम के क्यूरेटर थे। आज का मथुरा-म्यूजियम का स्वरूप उन्हीं के हाथों निर्मित हुआ है। शिल्प के अलावा प्राचीन मुद्राओं की भी विशेष जानकारी रखनेवाले गिने-चुने मनीषियों में से एक वह हैं। परन्तु उनके ज्ञान और सामर्थ्य को विशेष रूप से जगमगा देनेवाला तो उनका परम सात्विक शील है। इस शान्त, स्थिर नेत्रवाली दुबली-पतली मूर्ति से कहीं अकेले भेंट हो जाय, तो यह भान भी नहीं हो पाएगा कि वह एक राज्याधिकारी भी हैं। परन्तु जब उनकी बातचीत का प्रवाह आरंभ होता है, तो कुछ ही समय में विविध विषयों पर अपनी श्रृंखलाबद्ध ज्ञानराशि का रसास्वादन कराकर वह मंत्रमुग्ध कर देते हैं।

"हम दोनों अप्रत्यक्ष रूप में तो एक-दूसरे से पूर्वपरिचित थे ही, कारण मथुरा-निवासी मेरे स्नेही श्री राधेश्याम द्विवेदी ने मुझे उनके बारे में बहुतेरी बातें बताई थीं। तदुपरान्त अजन्ता पर मेरी पुस्तक पर उन्होंने (वासुदेवशरण जी ने) भरपूर आशीर्वचन भी व्यक्त किए थे। आज उनसे प्रत्यक्ष साक्षात्कार का यह धन्य क्षण प्राप्त करके मुझे अपने प्रवास की सार्थकता का अनुभव हुआ।

"म्यूजियम में आते-जाते दर्शनार्थियों की भीड़ को चीरते हुए, जब हम उनके कार्यालय-कक्ष के द्वारकपाट को

धीरे से खिसकाकर भीतर प्रविष्ट हुए, उस समय वह हाल में ही उपलब्ध किए गए कुछ सिक्कों की जाँच करने में मशगूल थे। परन्तु जैसे ही कृष्णवल्लभ जी ने समीप जाकर धीरे से उन्हें कुछ कहा कि तुरन्त ही उस कार्य को जहाँ-का-तहाँ छोड़ वह उठ खड़े हुए और भावावेश में देशी रीति से मेरे गले से लग गए ! ऐसे पंडितजन अतिथि के लिए कतिपय विवेकवाक्य संबोधित करें, तो उनके लिए तो नितान्त स्वाभाविक बात वह कही जा सकती है। परन्तु मुझे तो अपनी ओर से तत्सम्बन्धित योग्यता सिद्ध करने के बारे में निपट शंका ही थी।"

तय हुआ कि क्यों न देश के ऐसे ख्यातिप्राप्त कलाकार एवं गुजराती के वरिष्ठ साहित्यिक पत्रकार का विधिवत् समारोह करके स्वागत-अभिनन्दन किया जाय ! फिर इस कार्य के लिए नवसंस्थापित 'हिन्दी-साहित्य-समिति' की अब तक छूंछी पड़ी हुई वेदी का ही उपयोग हम क्यों न करें ? अतः दूसरे दिन स्थानीय कान्यकुब्ज-कॉलेज के हॉल में नगर के गण्यमान्य साहित्यिकों, कलाप्रेमियों और शिक्षकों-विद्यार्थियों आदि की एक चुनिन्दा सभा जुटी। इस समारोह की अध्यक्षता सबके आग्रह पर स्वयं वासुदेवशरणजी ने ही की थी। वह पूर्वोल्लिखित 'हिन्दी-साहित्य-समिति' के तत्त्वावधान में होनेवाला पहला सार्वजनिक समारोह था। वैसे इसके बाद भी इस संस्था के तत्त्वावधान में पं० श्यामबिहारी मिश्र; पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री भगवतशरण उपाध्याय आदि के व्याख्यान का आयोजन करके कई समारोह हुए। परन्तु जैसा समाँ उस प्रथम समारोह में बँधा, उसकी झाँकी एक चिरस्मरणीय याद के रूप में चित्त पर जमी हुई है। इसका भी विवरण उस दिन के मुख्य अतिथि रावलजी के ही शब्दों में सुनिए:—

"सायंकाल छः बजे द्विवेदी जी ने हमें कान्यकुब्ज-कॉलेज की ओर प्रेरित किया। लखनऊ का यह एक प्रसिद्ध महाविद्यालय है। हम वहाँ पहुँचे, तब तक कितने ही प्रोफेसर और विद्यार्थिगण राह जोहते हुए एकत्रित हो चुके थे। यहाँ किस प्रकार से विचार-विनिमय होगा, इसका कोई अंदाज

मुझे न था। परन्तु प्रसंग को तनिक रूप प्रदान करने के लिए मैंने अपने साथ के चित्रों, चित्रपटों आदि को पुस्तकालय की दो विशालकाय मेजों को मिलाकर उन पर बिछा दिया और वक्त काटने को उनके संबंध में अनौपचारिक रूप से कुछ जानकारी देना शुरू किया। इतने में तो अन्य प्रोफेसरों, कवि-साहित्यकारों के जुत्थ भी आ पहुँचे और उनके साथ ही प्रविष्ट हुए अध्यक्ष वासुदेवशरण जी भी ! उन सबने भी (इस छोटी-सी चित्र-प्रदर्शनी में) बड़ा रस लिया। कुछ समयोपरान्त प्रिन्सिपल महाशय (श्री बालकृष्ण पांडे) ने अनुरोध किया कि अब विधिवत् वार्तालाप-परिचय आदि के साथ कार्यारंभ हो और सभा का अध्यक्षपद ग्रहण करने के लिए उन्होंने अग्रवाल जी से विनती की। मेरा परिचय देने के लिए द्विवेदी जी ने थोड़ी-बहुत पूर्व तैयारी कर रक्खी थी —'विशाल भारत' के एक अंक तथा 'कलाकलाप' पुस्तक में मेरे संबंध में प्रकाशित कुछ सामग्री पर सरसरी नजर दौड़ाकर। परन्तु प्रमुखश्री (वासुदेवजी) ने अपने आधे घंटे के प्रारंभिक व्याख्यान में ही मेरे बारे में इतनी अधिक जानकारी श्रोताओं को दे दी कि द्विवेदी जी के लिए इस संबंध में कुछ कहने को रहा ही नहीं। अब मेरे मन में यह असमंजस पैदा हुआ कि ऐसे विद्वत्तापूर्ण भाषण के बाद क्योंकर मैं सभा का रसरंजन करूँ ! फिर यहाँ बोलना था तो हिन्दी में। मैंने प्रवास के पिछले अनुभवों को याद रखते हुए, अपने वक्तव्य में भाषा को अधिक से अधिक सरल और शुद्ध बनाने की कोशिश करके केवल वही बातें बताईं, जो कि अनुभवसिद्ध थीं। लगभग पौन घंटे बाद जब कॉलेज के प्रिन्सिपल महोदय आभारदर्शन करने के लिए खड़े हुए, तब कहीं जाकर मुझे यह आभास हुआ कि ईश्वर ने मुझे इस कसौटी से पार उतार दिया था !"

मथुरा की तरह लखनऊ का आठ वर्षों का यह आवासकाल भी पारिवारिक स्तर पर अग्रवाल जी के लिए इस नाते पुनः फलदायक सिद्ध हुआ कि यहाँ रहते हुए क्रमशः तीन पुत्र-सन्तान की उपलब्धि उन्हें हुई ! इनमें चौथे पुत्र 'अनन्त'

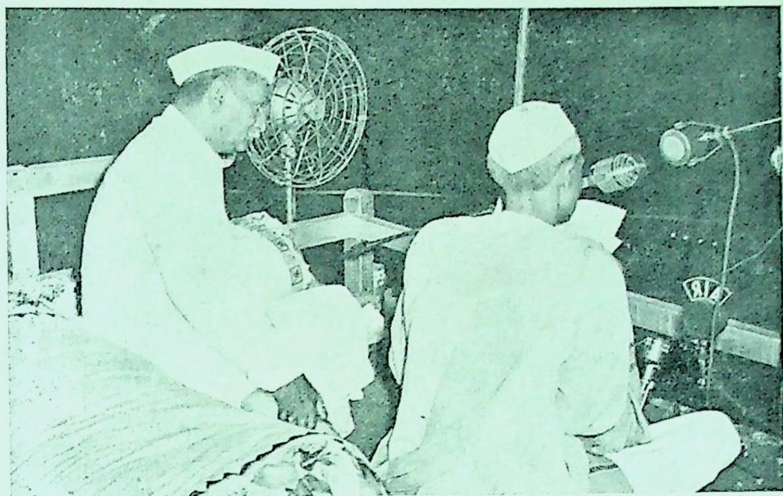
(जन्म : १९४० ई०) बहुत बचपन में ही अपनी मौसी के यहाँ गोद चले गए थे -- वह (एम० बी० बी० एस० की उपाधि प्राप्त) डाक्टर हैं। पाँचवें पुत्र 'पृथिवीकुमार' ने (जन्म : १९४३ ई०) एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की है और वह हिन्दू-विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं तथा छठे 'देवकुमार' उर्फ कुबेर (जन्म : १९४५ ई०) भी वाराणसी में ही रहते हैं तथा पुस्तक-विक्रेता का व्यवसाय करते हैं।

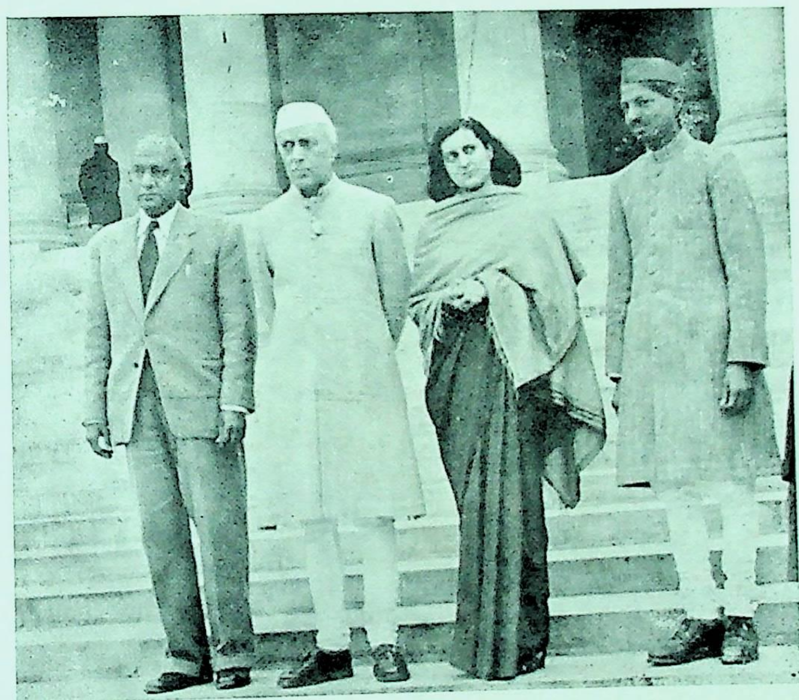
दिल्ली में स्थापित कीर्तिमान (१९४६-५१ ई०) :

१९४६-५० ई०—जिन दिनों भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के डायरेक्टर-जनरल के पद पर डॉ० मार्टिमर व्हीलर आरूढ़ थे, पुरातत्त्व-विभाग के भवन के एक कक्ष में, मध्य एशिया से प्राप्त मूल्यवान् पुरातत्त्व-सामग्री का संकलन करके 'सेंट्रल एशियन एंटीक्वीटीज म्यूजियम' के नाम से एक विशेष संग्रहालय का आयोजन किया गया था। इस संस्थान का सूत्रसंचालन करने के लिए डॉ० व्हीलर ने वासुदेव जी को ही चुना, जिनकी प्रतिभा और कार्यकलाप से वह (देश के समस्त संग्रहालयों का दौरा करने के अपने कार्यक्रम के सिलसिले में लखनऊ आने पर) अत्यन्त प्रभावित हुए थे। इस प्रकार, लखनऊ से डेरा-तंबू उठाकर अग्रवाल जी को जनवरी, १९४६ ई०, में राजधानी दिल्ली में अपना आसन जमाना पड़ा। वर्ष भर बाद जब देश में स्वतंत्रता का उदय हुआ और राजधानी में एक राष्ट्रीय पुरातत्त्व-संग्रहालय' स्थापित करने का निर्णय लिया गया, तो उसके आयोजन का भी भार वासुदेवशरण जी को ही निज हाथों में लेना पड़ा। इस कार्य को संपन्न करने में राय कृष्ण दास जी का विशेष सहयोग उन्हें मिला, जिनके साथ (मथुरा में १९३६ ई० में श्री मैथिलीशरण गुप्त सहित अपनी प्रथम भेंट के समय से ही) उनका आत्मीयता का-सा संबंध स्थापित हो चुका था। यह संग्रहालय राष्ट्रपति-भवन के ही एक कक्ष में स्थापित हुआ था और प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू तथा राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद प्रायः वहाँ आते रहते थे। अतः डॉ० अग्रवाल का शीघ्र ही इन दोनों ही राष्ट्र-

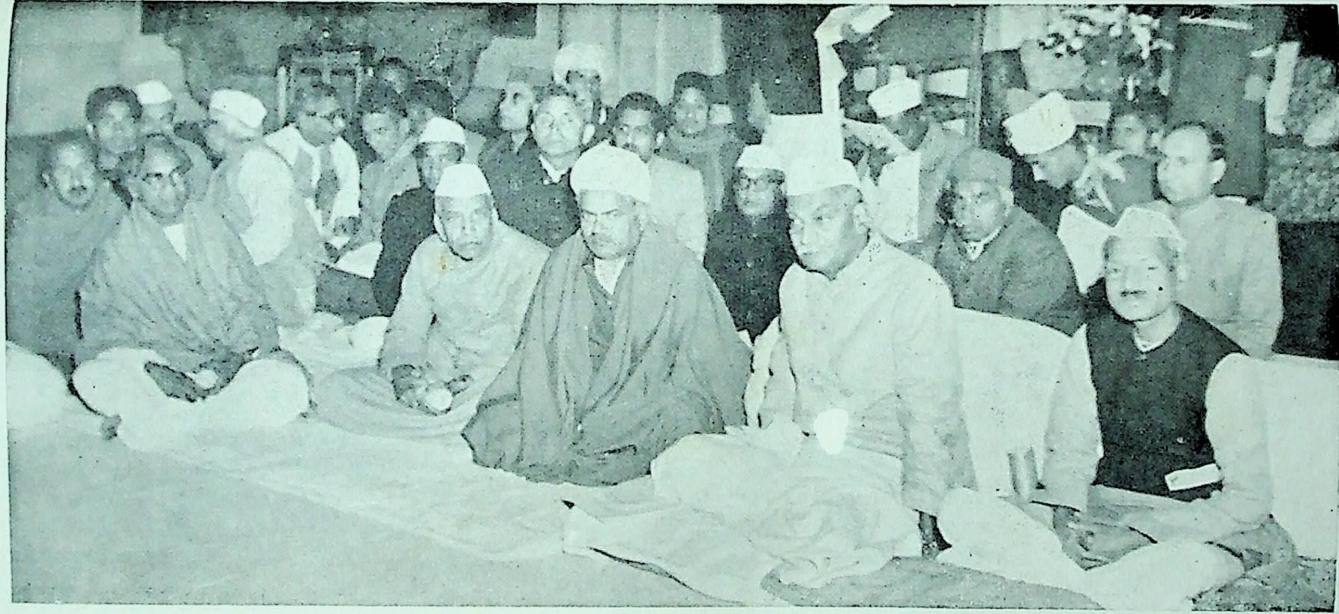
नायकों से —विशेष करके राजेन्द्र बाबू से— गहरा परिचय हो गया। इन्हीं दिनों दिल्ली में पहली बार राष्ट्रीय पैमाने पर एक बृहत् कला-प्रदर्शनी आयोजित हुई थी, जिसके पीछे भी प्रमुख हाथ डॉ० अग्रवाल का ही था। इस प्रदर्शनी के परिचयार्थ दर्शनार्थियों के लिए जो पुस्तिका उन्होंने लिखी थी, उसमें ठेठ मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा की सिन्धु-सभ्यता से लेकर मध्ययुग के अपराह्न तक की भारतीय कला-उपलब्धि का थोड़े में श्रेष्ठतम सर्वेक्षण करते हुए उन्होंने मानो 'गागर में सागर' की कहावत चरितार्थ कर दिखाई थी !

दिल्ली-आवास के अपने छः वर्षों में अग्रवाल जी ने राजधानी की साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में सशक्त योग प्रदान किया, साथ ही अपना सारा अवकाशकाल साहित्य-साधना में ही व्यय करके एकान्त भाव से विविधविषयक लेख-निबन्धों एवं पुस्तकों की भेंट देकर वह अनवरत माँ भारती की झोली भी भरते रहे। इन्हीं दिनों की बात है कि महाभारत की सारभूत मीमांसा प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाकर उन्होंने 'भारत-सावित्री' नामक अपनी सुप्रसिद्ध कृति का प्रथम खण्ड प्रकाशित किया था, साथ ही 'मार्कण्डेय-पुराण :: एक सांस्कृतिक अध्ययन' शीर्षक से इलाहाबाद की 'हिन्दुस्तानी अकादमी' के तत्त्वावधान में एवं 'मथुरा-कला' शीर्षक से 'गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद,' के आश्रय में दो बड़ी ही महत्वपूर्ण भाषणमालाएँ प्रदान की थीं। उधर जनपदीय लोक-संस्कृति की स्वर्ण-रेखाओं को उद्भासित करते हुए, 'पृथ्वीपुत्र' नामक उनका अनूठा निबन्ध-संग्रह भी इसी कालावधि में निकला था। फिर, उनकी ही चमत्कारपूर्ण करामात यह थी कि जिस राष्ट्रपति-भवन में केवल दरबारी तर्ज के शान-शौकत से भरे राजकीय समारोह अथवा नृत्य-संगीत की महफिलें ही होते देखी जाती रही थीं, वहाँ पारंपरिक विधि से फर्श पर दरी-चाँदनी बिछाकर राष्ट्रपति सहित श्रद्धालु जनों का एक श्रोता-समुदाय पलथी लगाकर बैठा था और पं० मधुसूदन ओझा के प्रमुख शिष्य जयपुर-निवासी पं० मोतीलाल शास्त्री के मुख से सबने वेद की कथाएँ सुनी थीं !





(ऊपर) डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी की अध्यक्षता में अग्रवाल जी भाषण कर रहे हैं; (नीचे) पं० जवाहरलाल नेहरू एवं श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ लिया गया एक स्मरणीय चित्र ।



जिन दिनों देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति के पद पर आसीन थे वासुदेवशरण जी के प्रयत्न से राष्ट्रपति-भवन में वेदमूर्ति स्व० पं० मधुसूदन ओझा के प्रमुख शिष्य जयपुर-निवासी पं० मोतीलाल शास्त्री की वेदकथा का आयोजन किया गया था। उसी समारोह की झाँकी इस फोटो-चित्र में है। राजेन्द्र बाबू के पास एक ओर डॉ० अग्रवाल तथा दूसरी बाजू में पं० मोतीलाल शास्त्री, श्री मैथिली शरण गुप्त एवं डॉ० रघुवीर बैठे हैं।

पारिवारिक स्तर पर उनके दिल्ली के इस आवासकाल की एक उल्लेखनीय घटना छः पुत्रों के बाद एक कन्या का जन्म होना था। उनकी यह प्रिय पुत्री 'सुदक्षिणा' एम० ए० तक शिक्षित होने के बाद लखनऊ-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० रामवल्लभ के सुपुत्र को ब्याही गई हैं।

वाराणसी के अन्तिम पन्द्रह वर्ष (१९५१-६६ ई०) :

१९५१ ई०—परन्तु वासुदेवजी का राजधानी दिल्ली का यह आवासकाल अल्पकालिक ही रहा। क्योंकि वहाँ वह छः वर्ष ही टिक पाए और दैव द्वारा ऐसा विधान रचा गया कि न केवल दिल्ली ही से उन्हें अकस्मात् विदा लेनी पड़ी, अपितु सरकारी नौकरी से भी वह समय से पहले ही निवृत्त हो गए तथा काशी में बस-कर बनारस-युनिवर्सिटी में अध्यापक-वृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह करने लगे !

यह घटना १९५१ ई० की है, जबकि पहले तो डॉ० मार्टिमर ह्वीलर के साथ और तदुपरान्त उनके उत्तराधिकारी डॉ० चक्रवर्ती (डायरेक्टर-जनरल, पुरातत्त्व-विभाग) के साथ कई एक मुद्दों पर विवाद एवं खटपट रहने के कारण, वासुदेव जी का मन राजकीय नौकरी की ओर से उचट गया और अहर्निश उनके चित्त पर इस बन्धन से छुटकारा पाने की ही बात मँडराने लगी। इन्हीं दिनों अकस्मात् राय कृष्ण दास जी से उन्हें यह भनक मिली कि बनारस-युनिवर्सिटी में एक 'इंडालॉजिकल कॉलेज' (भारतीय विद्या-संस्थान) खोलने की स्वर्गीय मालवीय जी महाराज की योजना कार्यान्वित होने जा रही है और उसके अध्यक्ष एवं प्रोफेसर के पद के लिए गोविन्द मालवीय जी (तत्कालीन उपकुलपति) योग्य व्यक्ति की तलाश में हैं। भला, अग्रवाल जी से अधिक योग्य प्राच्यविद्याविशारद इस पद के लिए युनिवर्सिटी को दूसरा कौन मिल सकता था ? फिर, वह स्वयं भी सरकारी नौकरी से छुट्टी पाने को आतुर थे ही। अतः जब पं० गोविन्द मालवीय को इस बात का आभास मिला, तो उन्होंने तनिक भी विलम्ब नही किया और वह अग्रवालजी को पुरातत्त्व-विभाग से माँगकर (on deputation) बनारस ले आए।

यह वासुदेवशरण जी का ही काम था कि उक्त 'इंडालॉजिकल कॉलेज' के विधान में भारतीय कला एवं स्थापत्य विषयों को भी प्रधान स्थान दिया गया, जिनके कि वह स्वयं विशेषज्ञ थे। युनिवर्सिटी की ओर से उनके निवास के लिए 'कैम्पस' के भीतर ही एक बँगले की भी (आवश्यक सुधार कराकर) व्यवस्था की गई थी। इसी बँगले में वह मृत्युपर्यन्त रहे, यद्यपि निजी गृह के लिए काशी में ही 'अमेठी कोठी' नामक जायदाद की भूमि उन्होंने जीवन के अंतिम पाँच-सात वर्षों में अर्जित कर ली थी और मृत्यु से कुछ ही मास पूर्व उस पर मकान भी बनवाना आरंभ कर दिया था। उक्त मकान का निर्माण उनके निधनोपरान्त ही पूरा हो पाया। आज डॉ० अग्रवाल की धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती देवी दो पुत्रों के साथ वहीं निवास कर रही हैं।

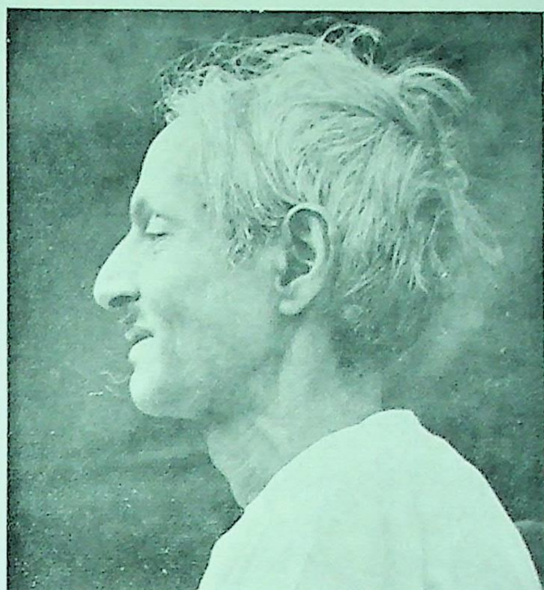
१९५१-६६ ई०—वाराणसी में व्यतीत हुए डॉ० अग्रवाल के जीवन के अन्तिम पंद्रह वर्ष, उनकी सारस्वत साधना की दृष्टि से, विशेष महत्व रखते हैं। कारण, इन्हीं वर्षों में उनका कृतित्व सबसे अधिक फूला-फला था तथा उनकी अधिकतर कृतियाँ प्रकाशित हुई थीं। इन्हीं दिनों की बात है कि एक ओर साहित्य-मीमांसक का बाना पहनकर उन्होंने 'हर्षचरित :: एक सांस्कृतिक अध्ययन', 'मेघदूत :: एक अध्ययन', 'कादम्बरी :: एक सांस्कृतिक अध्ययन', 'पदमावत :: संजीवनी व्याख्या', एवं 'कीर्तिलता :: संजीवनी व्याख्या' जैसी अनूठी कृतियाँ प्रस्तुत की थीं ! दूसरी ओर, पुराण-विद्या के अध्ययन-अनुशीलन की एक नवीन दिशा का निर्धारण करते हुए, 'मार्कण्डेय-पुराण :: एक सांस्कृतिक अध्ययन', 'मत्स्य-पुराण :: ए स्टडी', 'वामन पुराण :: ए स्टडी', 'भारत-सावित्री' तथा 'शिव महादेव, द ग्रेट गॉड' जैसे अनुपम ग्रंथों की भी भेंट दी थी। फिर, इस युग की उनकी सबसे मूल्यवान् देन तो वस्तुत: वेदविज्ञान एवं अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में प्रस्तुत हुई थी, जबकि एक के बाद एक 'वेदविद्या', 'वैदिक लैक्चर्स', 'स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर', 'विजन इन लांग डार्कनेस', 'वेदरश्मि', 'गीता-नवनीत', उपनिषद्-नवनीत', 'हिम ऑफ क्रिएशन' आदि आदि पुस्तकें उनकी लेखनी से

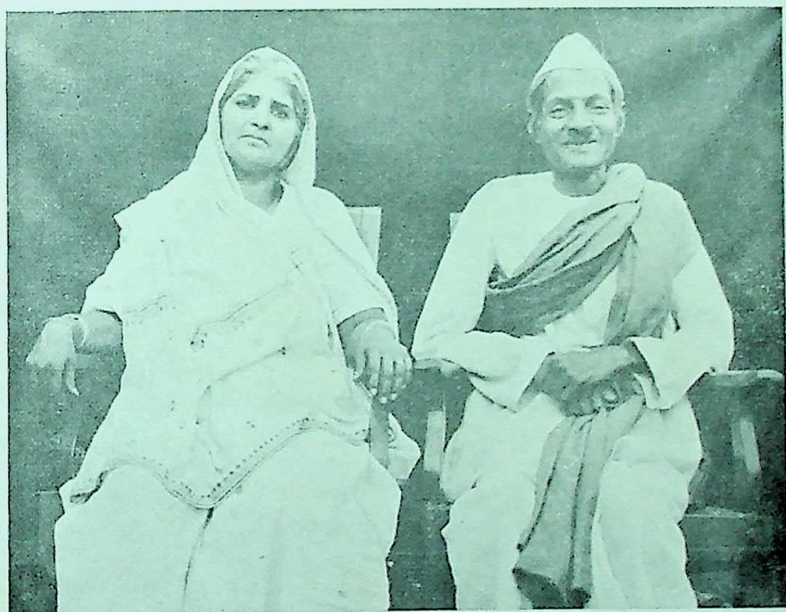
प्रभूत होकर सामने आई थीं। यही नहीं, इसी कालावधि में पाणिनि पर उनका अमर शोधग्रंथ 'इंडिया एज नोन टू पाणिनि' भी (जिसे ठेठ मथुरा और लखनऊ के अपने आवास-काल में तैयार करके 'पी-एच० डी०' तथा 'डी० लिट्०' की उच्चतम उपाधियाँ उन्होंने अर्जित की थीं) अपने हिन्दी अनुवाद सहित पाठकों के हाथों में आया था। साथ ही, कला एवं पुरातत्त्व क्षेत्र के उनके कृतित्व को भी एक ओर 'स्टडीज इन इंडियन आर्ट' तथा 'कला और संस्कृति' जैसे निबन्ध-संग्रहों के रूप में तथा दूसरी ओर 'इंडियन आर्ट :: प्रथम खंड' जैसे प्रकाशन के रूप में ग्रंथबद्ध होते हमने देखा था। इसी प्रकार से, लोक-संस्कृति के उन्नयन के उद्देश्य से उठाए गए उनके जनपदीय अनुष्ठान की बारहखड़ी को अक्षरबद्ध करनेवाली 'पृथ्वीपुत्र' तथा 'प्राचीन भारतीय लोकधर्म' जैसी कृतियाँ भी इन्हीं पंद्रह वर्षों की गौरवपूर्ण कालावधि में प्रकाशित हुई थीं। सच तो यह था कि उनके जीवन का यह अन्तिम चरण पूर्णतया उनकी विगत चालीस वर्षीय सारस्वत साधना एवं अध्ययन-अनुशीलन के सुफल को लेखबद्ध करने के जतन में ही खपा था। अपने इस लेखन-कार्य को (आँखों की ज्योति क्षीण पड़ जाने के कारण) जब वह निज हाथों से पूरा करने में असहाय-से हो गए, तब सामने तीन-तीन चार-चार लिपिकों को बिठाकर बोल-बोलकर एक साथ कई-कई ग्रंथ 'डिक्टेट' कराने लगे! इन्हीं दिनों की बात है कि उन्होंने भारतीय ज्ञान-संस्कृति की प्राचीन विद्यास्थली काशी में वैदिक अध्ययन-अनुशीलन की ज्योति जाग्रत करने के उद्देश्य से एक 'वेद अकादमी' की संस्थापना की और हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रांगण में लगातार पाँच वर्षों तक वैदिक ज्ञानसत्र भी आयोजित किए। उधर रामनगर के 'काशिराज ट्रस्ट' के तत्त्वावधान में पुराणों की नवीन दृष्टि से शोध करने का भी एक बृहत् अनुष्ठान उन्होंने हाथों में लिया। उधर, अपने कृतित्व को सुचारु रूप से प्रकाशित करने के प्रयोजन से 'पृथ्वी-प्रकाशन' के नाम से एक निजी प्रकाशन-संस्था को भी उन्होंने जन्म दिया, जिसके तत्त्वावधान में उनके कई एक उत्तरकालीन ग्रंथ निकले।

१९५८ ई०—पारिवारिक स्तर पर, वाराणसी के इस जीवनकाल में अग्रवाल जी को सितंबर १९५८ ई० में पिता गोपीनाथ जी के निधन के फलस्वरूप एक दुःखद आघात का सामना करना पड़ा। पिता के प्रति उनके मन में आजीवन दृढ़ एवं अटल भक्ति का भाव रहा, जिसकी ज्वलन्त छाप वह उन दिनों की श्रवण-तुल्य पितृसेवा की स्मृतियों में छोड़ गए हैं, जबकि गोपीनाथ जी को 'प्रोस्टेट ग्रंथि' के ऑपरेशन हेतु लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में प्रविष्ट होना पड़ा था और उनकी तीमारदारी का दायित्व ग्रहण कर वासुदेवशरण लगभग दो मास तक लगातार अस्पताल में उनके साथ रहे थे। कहते हैं कि वह परिवार के अन्य जनों के लाख कहने पर भी पितृसेवा की अपनी इस जिम्मेदारी को अन्य किसी को सौंपने को तत्पर नहीं हुए और दिन में अस्पताल की बेंच पर बैठे रहकर तथा रात को जमीन पर लेटना स्वीकार करके उन्होंने डटकर पिता की सेवा की थी! यह एक उल्लेखनीय बात है कि इन दिनों भी उन्होंने अपनी सारस्वत साधना का तारतम्य नहीं तोड़ा था और 'पदमावत' की व्याख्या का बहुत-सा अंश मेडिकल कॉलेज की उस बेंच पर बैठकर ही उन्होंने लिखा था!

१९६६ ई०—भला पिता, गोपीनाथजी को क्या पता था कि उनके इस लोक से विदा होने के केवल आठ वर्ष बाद ही उनके यह सेवारत ज्येष्ठ पुत्र भी 'हिरण्मय पुरुष' के दर्शनार्थ इस पृथ्वी से उठकर शीघ्र ही पुनः उनसे आ मिलेंगे! जैसा कि पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने एक संस्मरणात्मक लेख में लिखा है, वासुदेवजी में एकमात्र त्रुटि यदि कोई दिखाई देती थी, तो वह थी स्वास्थ्य के प्रति उनकी उपेक्षा! "वह दीर्घ-जीवी बनना चाहते थे, पर उसके लिए स्वास्थ्य के जिन नियमों का पालन करना आवश्यक है, उनका वह उल्लंघन ही करते रहे!" उनकी तंदुरुस्ती के लिए जो उपाधि अंततोगत्वा प्राणान्तक बन गई, वह संभवतः उन्होंने पैतृक-पारिवारिक देन के रूप में ही पाई थी। यह सांघातिक उपाधि थी—'मधुमेह' (या डायबीटीज) की उनकी पुरानी बीमारी यद्यपि। वासुदेव शरण जी का खानपान आरंभ ही से अत्यन्त नियमित था

(दाहिनी ओर)
डॉ० वासुदेवशरण अ० की प्रौढ़ावस्था की एक छवि। (नीचे) स्व० अग्रवाल जी धर्मपत्नी विद्यावती देवी के साथ







गौहाटी के प्राच्यविद्या सम्मेलन के अवसर पर लिया गया डॉ० वासुदेवशरण जी का एक फोटो-चित्र। इस अधिवेशन की अध्यक्षता डॉ अग्रवाल ने ही की थी। (चित्र में समीप खड़े हुए व्यक्ति डॉ० मोतीचन्द्र हैं।)

तथा वह पूर्णतया शाकाहारी भी थे और वह व्रत-उपवास भी नियम से करते रहते थे, तथापि इस रोग पर वह विजय नहीं पा सके। वस्तुतः जीवन के अंतिम चरण में आकर तो इस बीमारी ने असाध्य रूप ग्रहण कर लिया और इसी के दुष्परिणामस्वरूप उनकी नेत्र-ज्योति यहाँ तक क्षीण हो गई कि कुछ समय तक तो वह लगभग अंधे जैसे ही हो गए थे ! परन्तु चूँकि पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली में अग्रवाल जी की आस्था नहीं थी, अतः उन्होंने डॉक्टरों की सहायता लेने के बजाय प्राकृतिक उपचार का ही अवलंब ग्रहण किया और इस हेतु गोरखपुर, जसीडीह आदि स्थानों के प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्रों को भी वह गए।

जब रोग में विशेष गिराव की स्थिति पैदा हुई एवं आँखों में रक्तस्राव के फलस्वरूप ज्योति एकदम क्षीण हो गई, साथ ही फेफड़ों में भी शोथ (प्लूरेसी) की उपाधि पैदा हो गई, तो विवशतया उन्हें अंतिम वर्षों में डॉक्टरी इलाज अपनाना पड़ा। इन अंतिम दिनों में लगभग दो मास तक वह काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के 'सर सुन्दरलाल अस्पताल' में रहे थे। वहीं २६-२७ जुलाई, १९६६ ई०, की रात्रि को उन्होंने इस नश्वर देह को त्याग कर सद्‌गति प्राप्त की। उनका दाह-संस्कार गंगातट पर काशी के प्रसिद्ध हरिश्चन्द्र-घाट पर हुआ था। इस प्रकार लोकपावनी गंगा के बाएँ तट पर बसी 'संसार के इतिहास में सबसे प्राचीन पुरी' कहलाने का गौरव पानेवाली उस महिमामयी काशी में आकर अपने जीवन के अंतिम वर्षों की आहुति चढ़ाना उनके लिए सार्थक हुआ, जिसका महिम्नगान करते हुए स्वयं उन्होंने ही कभी लिखा था:—

"काशी इतिहास से अतीत है। काशी के व्योम में सर्वप्रथम ज्ञान-सूर्य का प्रकाश हुआ। संयम और समाधि की मूर्ति जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ ने यहीं जन्म लिया। इसी महापुरी में शारीरक भाष्य के रचयिता श्री शंकराचार्य का ज्ञानचक्षु स्वयं शिव की कृपा से उन्मिषित हुआ। वाचस्पति मिश्र और मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकाण्ड विद्वानों की धात्री यही पुरी है। यहीं कुल्लूक भट्ट ने मनु के अर्थ का प्रकाश

किया। पाण्डित्यरूपी महाकान्तार के निर्भय सिंह पण्डितराज जगन्नाथ ने यहीं पर अपनी गर्जना से समस्त उत्तरापथ को कम्पायमान कर दिया था। व्याकरण-शास्त्र के उद्भट संस्कारक श्री भट्टोजि दीक्षित ने यहीं सिद्धान्त-कौमुदी की रचना की। उनसे पूर्व पाणिनि के सूत्रक्रम का प्रतिपादन करने वाली काशिका का यहीं निर्माण हुआ था। अप्पय दीक्षित जैसे अद्वितीय पंडित ने यहीं सिद्धान्तलेश की रचना की। इस ज्ञानपुरी में विद्या का नित्य नवीन उत्सव रहा है। यहीं के बापूदेव शास्त्री और शिवकुमार शास्त्री की कीर्ति दिग्-दिगन्त तक फैल गई थी। इसी काशीपुरी में पुनः एक बार श्रुतिमहती आर्य-सरस्वती की रक्षा और प्रचार के लिए एक ब्राह्मण (महामना पंडित मदनमोहन मालवीय) द्वारा विश्वविश्रुत हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है।"*

[अग्रवाल जी ने, अपने दीर्घकालिक ज्ञानाराधन के दौरान, समय-समय पर देश की अनेकानेक सांस्कृतिक संस्थाओं के वार्षिक अधिवेशनों में अध्यक्ष-पद ग्रहण कर अपने विद्वत्ता-पूर्ण प्रवचनों एवं भाषणों द्वारा प्राच्यविद्या की विविध ज्ञान-वीथिकाओं का मार्ग प्रशस्त किया था—यथा, 'भारतीय संग्रहालय-परिषद्' (पटना-अधिवेशन, १९४६ ई० तथा अहमदाबाद-अधिवेशन, १९५४ ई०); 'भारतीय ब्रज-साहित्य-मंडल' (सहारनपुर-अधिवेशन, १९४९ ई०); 'भारतीय इतिहास-परिषद् :: प्राचीन खण्ड' (कटक-अधिवेशन, १९४९ ई०); 'भारतीय मुद्रा-परिषद्' (नागपुर-अधिवेशन, १९५० ई०); 'अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-सम्मेलन :: ललित कला खण्ड' (बंबई-अधिवेशन); 'अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-परिषद्' (गोहाटी-अधिवेशन, १९६४ ई०) आदि, आदि। इसके अतिरिक्त 'ब्रज-साहित्य-परिषद्', 'हिन्दी जनपदीय परिषद्', 'राजस्थान वैदिक तत्त्वशोध-संस्थान', 'वेद अकादमी', 'इंडिया प्राकृत ट्रैक्ट सोसायटी', 'पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान', 'म्यूजियम एसोसिएशन ऑफ इंडिया' आदि कितनी ही संस्थाओं के साथ भी उनका घनिष्ठ संबंध रहा था।]

*दे० डॉ० अग्रवाल कृत 'मातृभूमि' (पृ० ११–१२)।

कृतित्व

प्रमुख प्रकाशित कृतियों की तालिका

संकलित

: वेद-उपनिषद्, पुराण, महाभारत आदि विषयक :

उरु-ज्योति–(आध्यात्मिक निबन्ध) १९३७ ई०, 'श्री कन्हैयालाल वैदिक प्रकाशन-निधि'; १९५३ ई०, 'श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर।'

कल्पवृक्ष–(निबन्ध-संग्रह) इस संग्रह के कुछ लेख मूलतः (श्री कृष्णवल्लभ द्विवेदी द्वारा संपादित) 'हिन्दी विश्व-भारती' ज्ञानकोश के लिए लिखे गए थे। १९५३ ई०, 'सस्ता-साहित्य-मंडल, दिल्ली।'

वेदविद्या–(वैदिक निबन्ध) इसके भी अधिकतर निबन्ध मूलतः 'हिन्दी विश्व-भारती' के लिए लिखे गए थे। १९५९ ई०, 'रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा।'

भारत-सावित्री–(महाभारत की सांस्कृतिक मीमांसा) प्रथम खंड १९५०ई०; द्वितीय खंड १९६४ ई०; तृतीय खंड १९६७ ई०; 'सस्ता-साहित्य-मंडल, दिल्ली।'

मार्कण्डेय-पुराण :: एक सांस्कृतिक अध्ययन–१९६१ ई०, 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।'

स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर–(वेदविद्या संबंधी निबन्ध) १९६२ ई०, 'स्कूल ऑफ वैदिक स्टडीज, वाराणसी।' (अंग्रेजी में)

पृथ्वी-सूक्त :: एक अध्ययन–१९६२ ई०, 'स्वाध्याय-मंडल, पारडी, सूरत।'

मत्स्य-पुराण, ए स्टडी–१९६३ ई०, 'काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी।' (अंग्रेजी में)

हिम ऑफ क्रिएशन–(नासदीय सूक्त) १९६३ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' (अंग्रेजी में)

सोलर सिम्बोलिज्म ऑफ द बोअर–१९६३ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

विजन इन लांग डार्कनेस–('अस्यवामीय सूक्त' की व्याख्या) १९६३ ई०, 'वेद अकादमी, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

वैदिक लेक्चर्स–(वेदविद्या विषयक प्रवचन) १९६३ ई०, 'स्कूल ऑफ वैदिक स्टडीज़, बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

देवी-माहात्म्य–(ग्लोरिफिकेशन ऑफ द ग्रेट गॉडेस) १९६३ ई०, 'आल इंडिया काशिराज ट्रस्ट, रामनगर, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

वामन पुराण, ए स्टडी–१९६४ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

छंदस्वती वाक्–१९६४ ई०, 'बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी, वाराणसी ।'

गीता-नवनीत–(सानुवाद मूल पाठ सहित गीता की व्याख्या) १९६४ ई०, 'गोपीनाथ संपत्ति, लखनऊ ।'

वेदरश्मि–('स्पार्क्स फ्रॉम द वैदिक फायर' का हिन्दी अनुवाद) १९६४ ई०, 'स्वाध्याय-मंडल, पारडी, सूरत ।'

उपनिषद्-नवनीत–(१७ उपनिषदों का रहस्य-दर्शन) १९६६ ई०, 'सस्तु-साहित्यवर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद ।' (**गुजराती अनुवाद**)

शिव महादेव, द ग्रेट गॉड–१९६६ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाय मनु–१९७० ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

: काव्य, साहित्य, इतिहास, व्याकरण से संबंधित :

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन–१९५३ ई०, 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना ।'

मेघदूत : एक अध्ययन–१९५३ ई०, 'राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।'

इंडिया एज नोन टू पाणिनि–१९५३ ई०, लखनऊ-युनिवर्सिटी; १९६३ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी ।' (**अंग्रेजी में**)

पदमावत : संजीवनी व्याख्या–१९५५ ई०, 'साहित्य-सदन, चिरगाँव ।'

पाणिनिकालीन भारतवर्ष–('इंडिया एज नोन टू पाणिनि' का हिन्दी रूपान्तर) १९५५ ई०, 'मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।'

कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन–१९५७ ई०, 'चौखंभा विद्याभवन, चौक, वाराणसी।'

कीर्तिलता : संजीवनी व्याख्या–१९६२ ई०, 'साहित्य-सदन, चिरगाँव।'

गोत्राज इन पाणिनि–१९६३ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

द डीड्स ऑफ हर्ष–१९६८ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

: पुरातत्त्व एवं कला-मीमांसापरक :

हैण्डबुक टू द स्कल्पचर्स इन द कर्जन म्यूजियम ऑफ आर्कियालॉजी, मथुरा–१९३९ ई०, 'यू० पी० गवर्नमेण्ट।' **(अंग्रेजी में)**

मथुरा म्यूजियम कैटलॉग (चार खंड), 'यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी।' **(अंग्रेजी में)**

ए गाइड टू द प्राविंशियल म्यूजियम, लखनऊ। (अंग्रेजी में)

गुप्ता आर्ट–१९४७ ई०, 'यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी।' **(अंग्रेजी में)**

इंडियन आर्ट थ्रू द एजेज–(अज्ञातनामा प्रकाशित) 'पब्लिकेशन्स डिविजन, दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

एक्जीबीशन ऑफ इंडियन आर्ट (कैटलॉग)–१९४८ ई०, 'डिपार्टमेण्ट ऑफ आर्कियालॉजी, नई दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

एक्जीबीशन ऑफ इंडियन आर्ट, एल्बम–(अज्ञातनामा प्रकाशित) १९४८ ई०, 'डिपार्टमेंट ऑफ आर्कियालॉजी, दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

भारतीय कला का सिंहावलोकन–(अज्ञातनामा प्रकाशित) १९४८ ई०, 'डिपार्टमेंट ऑफ आर्कियालॉजी, दिल्ली।'

कला और संस्कृति–१९५२ ई०, 'साहित्य-भवन लि०, इलाहाबाद।'

सारनाथ (पथप्रदर्शिका)–१९५६ ई०, 'डिपार्टमेंट ऑफ आर्कियालॉजी, दिल्ली।' **(अंग्रेजी तथा हिन्दी में)**

इंडियन मिनियेचर्स, एन् एल्बम–१९६१ ई०, डिपार्टमेण्ट ऑफ आर्किया-लाजी, दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

हेरिटेज ऑफ इंडियन आर्ट, एन् एल्बम–१९६४ ई०, 'पब्लिकेशन्स डिविजन, दिल्ली।' **(अंग्रेजी में)**

चक्रध्वज ऑर द व्हील फ्लेग ऑफ इंडिया–१९६४ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

स्टडीज इन इंडियन आर्ट–१९६५ ई०, 'विश्वविद्यालय-प्रकाशन, वाराणसी।' **(अंग्रेजी में)**

मास्टरपीसेज ऑफ मथुरा स्कल्पचर–१९६५ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' (अंग्रेजी में)

इंडियन आर्ट (भाग १)–१९६५ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' (अंग्रेजी में)

मथुरा-कला–१९६५ ई०, 'गुजरात-विद्या-सभा, अहमदाबाद।'

इवोल्यूशन ऑफ द हिन्दू टेम्पल एण्ड अदर एसेज–१९६६ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी। (अंग्रेजी में)

भारतीय कला–१९६६ ई०, 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।'

चक्रध्वज–१९६६ ई०, 'नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।' **(हिन्दी)**

: फुटकर रचनाएँ :

ए क्लू टू द अंडरस्टेंडिग ऑफ द आर्य समाज–१९२७ ई०, 'मंत्री, आर्य समाज, बनारस-हिन्दू-युनिवर्सिटी।' **(अंग्रेजी में)**

मातृभूमि–१९३५ ई०, 'कमला पब्लिशिंग हाउस, मेरठ।'

पृथ्वीपुत्र–(लोक-संस्कृति विषयक निबन्ध) १९४९ ई०, 'सस्ता-साहित्य-मंडल' दिल्ली'; द्वितीय संस्करण १९६० ई०, 'रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा।'

माता भूमिः– १९५३ ई०, 'चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।'

भारत की मौलिक एकता–१९५४ ई०, 'भारती-भंडार, इलाहाबाद।'

सुनहले हंस–(कहानी-संग्रह) १९६४ ई०,'विश्वविद्यालय-प्रकाशन, वाराणसी।'

पाणिनि-परिचय–१९६५ ई०. 'मध्यप्रदेश शासन साहित्य-परिषद्, भोपाल।'

वाग्धारा–(निबन्ध-संग्रह) **१९६६** ई०, 'भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।'

प्राचीन भारतीय लोकधर्म–(जवेरचंद मेघाणी व्याख्यानमाला) १९६४ ई०, 'ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद।'

एंशिएण्ट इंडियन फोक कल्टस–१९६९ ई० ('प्राचीन भारतीय लोकधर्म' का अनुवाद), 'पृथ्वी-प्रकाशन, वाराणसी।' (अंग्रेजी में)

[इनके अतिरिक्त 'हर्षचरित : कथासार :'; 'रावणवध : कथासार', 'बुद्ध-चरित : कथासार; 'सौन्दरनन्द : कथासार' नामक कुछ लघु बालोपयोगी पुस्तकें भी उन्होंने लिखी थीं, जो सस्ता-साहित्य-मंडल दिल्ली, द्वारा प्रकाशित की गई थीं। उधर सूरदासकृत 'नलदमन', पं० मधुसूदन ओझाकृत 'ब्रह्मसिद्धान्त' एवं 'ब्रह्मविनय' तथा 'शृंगारहाट' (या चतुर्भाणि) नामक प्रकाशनों और डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, कनैयालाल पोद्दार, नाथूराम प्रेमी, मैथिलीशरण गुप्त आदि को समर्पित अभिनन्दन-ग्रंथों के संपादन में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योग प्रदान किया था।]



डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा रचित विविध विषयक ग्रंथों में से कुछ की छवि इस फोटो में चित्रांकित है।

राष्ट्र भाषा का दृष्टिकोण।

भारतीय संविधान के अनुसार हिन्दी राष्ट्रभाषा मानी गई है। हिन्दी को इस पद की स्वीकृति और प्रतिष्ठा देनेवाले कौन थे? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। उत्तरप्रदेश के लोगों ने अथवा जिनकी मातृभाषा हिन्दी है और हिन्दी की चाहे जितनी सेवा की हो, हिन्दी के लिये उनके मन में जितना भी प्रेम हो, पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का श्रेय उनको नहीं दिया जा सकता। यह श्रेय तो निश्चय से उन बीस करोड़ से अधिक देशवासियों को है जिन्होंने अपनी मातृभाषा न होते हुए भी हिन्दी को जानबूझकर राष्ट्रभाषा मान लिया। यह काम कुछ जल्दी में हो गया हो यह बात नहीं। राष्ट्र भाषा के प्रश्न पर काफी चर्चा हुई थी और अन्त में सब राष्ट्रीय प्रतिनिधियों ने संविधान सभा में एकमत से हिन्दी के पक्ष में निर्णय किया था।

इस निर्णय की जो पृष्ठभूमि थी उससे अब मुँह मोड़ना उचित नहीं। यह राष्ट्र [illegible]

आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल की हस्तलिपि का एक नमूना (यह उनके लेख की हस्तलिखित पांडुलिपि के अंश का फोटो-चित्र है)।

रचना-शैली एवं विचारधारा की बानगी

प्रमुख कृतियों के उद्धरण

: १ :

"वेद के महर्षियों ने ब्रह्म-विषयक अपनी जिज्ञासा को कई प्रकार से व्यक्त किया है। समाधि में विश्व के रहस्यों पर विचार करते हुए जब वे विश्वपति के स्वरूप का ध्यान करते थे, तब अनन्त अज्ञेय तत्त्व की अनिर्वचनीयता से मुग्ध होकर उन्होंने 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का गीत गाया। यह संगीत संसार के साहित्य में आज भी अद्वितीय है। कौन-सा वह देव है, जिसके लिए हम अपनी हवियों का विसर्जन करें ? इस सनातन प्रश्न के विराट् उदर में सब उत्तर निरन्तर पड़े रहते हैं और पचते जाते हैं, पर इस प्रश्न की कुक्षि में जो हुतभुक् वैश्वानर है, वह कभी तृप्त नहीं होता देखा जाता। युग-युगान्तर के दार्शनिक इसी प्रश्न के लिए अपनी विचार-हवि कल्पित करते रहे हैं; परन्तु आज तक यह विराट् प्रश्न अंगद के पैर की तरह अपनी भूमि से तिल-मात्र विचलित नहीं हो सका। यह प्रश्न अच्युत है। अन्य सब समाधान डगमगा जाते हैं; पर यह प्रश्न ध्रुव के समान अपना स्थान नहीं छोड़ता। उद्दाम बुद्धि-वाद के आघातों से इसका वज्र शरीर और भी दुर्भेद्य होता जाता है। जिस प्रकार पारद को मूर्च्छित करने के लिए मध्यकालीन रसेन्द्र दर्शन के अनुयायियों के

प्रयत्न सफलता प्राप्त नहीं कर पाए, उसी प्रकार विश्व की महान् पहेली संप्रश्न को बुद्धिवाद के नाराच कभी नहीं भेद सके।

कल्पादि से कल्पान्त तक फैले हुए काल के विशाल विस्तार में दूर से और निकट से अनेक विचार के परिव्राजक इस संप्रश्न की शरण में आया करते हैं। इसके तीर्थोदक में स्नान करके श्रद्धालुओं को शान्ति मिलती है, अश्रद्दधानों को निराशा होती है।" (**'उरु-ज्योति' के 'संप्रश्न' नामक लेख का एक अंश**)

: २ :

"वेदव्यास जिस भारत राष्ट्र की उपासना करते थे, भविष्य का प्रत्येक हिन्दू उसका स्वप्न देखेगा। उनका निम्नलिखित राष्ट्रगीत हमारे इतिहास का सनातन मंगलाचरण होगा :

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत, भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।
पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च।
तथैव मुचुकुन्दस्य शिवेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥*

आओ, हे भारत, अब मैं तुम्हें भारत देश का कीर्तिगान सुनाता हूँ—वह भारत जो इन्द्रदेव को प्रिय है, जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था; जो भारत ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द और औशीनर शिवि को प्रिय था। ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रिय सम्राटों को प्यारा था। हे नरेन्द्र, उस दिव्य देश की कीर्तिकथा मैं तुम्हें सुनाऊँगा।

***भीष्म पर्व अ० ९, श्लो० ५—९। संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं।**

व्यास ने राष्ट्रीय राजनीति का जो आदर्श रक्खा है, वह मनु और वाल्मीकि से मिलता है। वाल्मीकि के अराजक जनपद गीत से मिलता-जुलता व्यास का 'यदि राजा न पालयेत्' (शान्ति० ६८/१-३०) गीत है। लोक में शान्ति की व्यवस्था राजा का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है। धर्म की जड़ राजा की सुव्यवस्था के बल पर टिकी रहती है। यदि राजा न हो तो दुष्ट साधुओं को खा डालें, धर्म डूब जाय, वेद कहीं के न रहें, सारी प्रजा अन्धकार में विलीन हो जाय।[1] राष्ट्र के धर्मबन्ध शासन की सुव्यवस्था के अधीन हैं। व्यास के मत में बिना राजा का राष्ट्र मरा हुआ है—

मृतं राष्ट्रमराजकम्। —वन० (३१३/८४)

अराजक राष्ट्र मात्स्य न्याय का शिकार हो जाता है (शा० १६-१७)। व्यास ने राजा और क्षत्रिय की परिभाषा दी है। जो लोकरंजन करता है, वही राजा है (शा० ५६/११)। जो क्षत से बचाता है, वही क्षत्रिय है (शा० २९/१३८)। इन्हीं आदर्शों को हमारे इतिहास के स्वर्णयुग में कालिदास ने दोहराया था।[2] भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि राजा काल को बनाता है, या काल राजा को बनाता है, इसमें तुम कभी संशय मत करना। राजा ही काल को बनाता है।

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूद्राजा कालस्य कारणम्॥ (शा० ६९/६)

जब राजा भली प्रकार दंडनीति का पालन करता है, तभी सतयुग आ जाता है। राजा का आसन राष्ट्र का कुकुद् है। राजा की उस आदर्श आसन्दी की रक्षा में रहकर प्रजा जिस धर्म का पालन करती है, उसका एक चतुर्थ अंश राजा को प्राप्त होता है। राजा को अपनी नीति में माली की तरह होना चाहिए, कोयला फूंकने-वाले आंगारिक की तरह नहीं। पहला फूलों की चाह में वृक्षों को सींचता है, दूसरा अंगारों के लिए पेड़ों को फूंक डालता है। प्रजाएँ राजा का शरीर हैं।

---

[1]**राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।**
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
न योनिपोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक् पथः।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत्॥ (शा० अ० ६८)

[2]**क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः**
क्षत्रस्यशब्दो भुवनेषुरूढः (रघुवंश २/५३)। तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति रंजनात् (रघु० ४/१२), अर्थात् रघु प्रकृतिरंजन के कारण सच्चे अर्थों में राजा कहलाए।

अपने-आपको बचाने के लिए भी राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा का भी सर्वोत्तम शरीर राजा ही है। राजा को पुष्ट करके वे अपने-आपको बढ़ाती हैं। जो राष्ट्र की कामना करते हैं, उनको सबसे पहले लोक की रक्षा करनी चाहिए। व्यास ने षोड्श राजीय पर्व में प्राचीन आर्य राजाओं के आदर्श का स्मरण दिलाया है। राम के राज्य में समय पर मेघ बरसते थे और सदा सुभिक्ष रहता था। दिलीप के राज्य में स्वाध्याय घोष, टंकार घोष और दान के संकल्प का घोष, ये तीन शब्द बराबर सुनाई पड़ते थे। संक्षेप में, वेदव्यास के मत के अनुसार लोक का सारा जीवन राजधर्म के आश्रित है। राजधर्म बिगड़ गया तो वेद, धर्म, वर्ण, आश्रम, त्याग, तप, विद्या, सब कुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए (शान्तिपर्व, ६३/२८-२९)।

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां सर्वेधर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणांहताःस्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाःसर्वा दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥

व्यास ने जो धर्म का स्वरूप रखा है, वह उनका सबसे महान् ऋषित्व या दर्शन है। वह धर्म को स्वर्ग-प्राप्ति करानेवाले थोथे कर्मों का जंजाल नहीं मानते। उन्होंने अपने ध्यान से धर्म की एक नई परिभाषा, एक नये स्वरूप का अनुभव किया : **नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः** (उद्योग० १३७/९)

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक, सबको धारण करनेवाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम, हैं वे धर्म हैं :

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्त्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म गंगा के ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र को सिंचित और पवित्र करनेवाला अमृत बन जाता है। राजाओं की जय और पराजय आने-जानेवाली चीज है, जीवन में सुख और दुःख भी सदा एक से नहीं रहते, पर सम्पत्ति और विपत्ति में भी जो वस्तु एक-सी बनी रहती है, वह धर्म है। व्यास ने 'महाभारत संहिता' लिखने के बाद उसके अंत में अपने दृष्टिकोण और उद्देश्य का निचोड़ चार श्लोकों में भर दिया है, जिसे भारत-सावित्री कहते हैं। उसका अन्तिम श्लोक यह है :

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य स्वनित्यः ॥

अर्थात् –"काम से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक है। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य है।" "मैं भुजा उठाकर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुननेवाला नहीं है। धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते?"—ये भारत सावित्री में व्यास के साक्षात् वचन हैं।"

('हिन्दी विश्व-भारती' में प्रकाशित 'महर्षि व्यास' लेख का एक अंश)

: ३ :

"बाण के समय में पाराशरी भिक्षुओं का ब्राह्मणों से बड़ा विरोध था। ये पाराशरी कौन थे, किस मत या दर्शन के अनुयायी थे, और क्यों ब्राह्मणों से इनका बैर था, यह एक गुत्थी है, जिस पर प्रकाश पड़ना आवश्यक है। अभी तक इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर हमारे सामने नहीं है। सम्भव है, शंकराचार्य से पूर्व की शताब्दियों में वेदान्त-सूत्र या भिक्षु-सूत्रों के अध्ययन करनेवाले वेदान्ती और बौद्धों के शून्य अथवा माध्यमिक दर्शन के अनुयायी लोगों में बहुत-कुछ तादात्म्य और दृष्टिकोण का सादृश्य रहा हो। अन्तिम तत्त्व के विषय में भी दोनों का एकमत होना सम्भव है। कम से कम शंकराचार्य के पूर्ववर्ती और उनके दादागुरु श्री गौड़पादाचार्य की स्थिति बहुत-कुछ इसी प्रकार की थी, जिन्होंने बौद्ध दर्शन के तत्त्वों का जैसा प्रतिपादन वेदांत में किया है। वह खुले शब्दों में 'द्विपदां वर' और 'संबुद्ध भगवान् बुद्ध' के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं[1]। गौड़पाद का दर्शन नागार्जुन के शून्यवाद के बहुत नजदीक है। गौड़पाद और बौद्ध दार्शनिकों के बीच में पूरा तादात्म्य ज्ञात होता है। यह स्थिति सातवीं शती में थी, जब बाण हुए। सम्भवतः बाह्य आचार-विचार में बौद्ध भिक्षु और पाराशरी भिक्षु एक-सा व्यवहार करते हों। इसी से बाण ने पाराशरी भिक्षुओं को भी बौद्धों की भाँति चैत्य-पूजा करते हुए लिखा है। बाण के युग में वेदान्त दर्शन के माननेवालों का पृथक् अस्तित्व इसी नाम से न था, किन्तु गौड़पाद की तरह वे लोग

[1] **राहुल सांकृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ८०८; श्री पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४१२–१४।**

उपनिषदों का आश्रय लेकर चले थे। दिवाकरमित्र के आश्रम में बाण ने जहाँ सब दार्शनिकों का परिगणन किया है, वहाँ कापिल (सांख्य), काणाद (वैशेषिक), ऐश्वरकारणिक (नैयायिक), साप्ततान्तव (मीमांसक), इन चार आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त औषनिषद् अर्थात् उपनिषदों के अनुयायी दार्शनिकों का भी उल्लेख किया है। अवश्य ही इसका संकेत उनकी ओर होना चाहिए, जो गौड़पाद की भाँति उपनिषद् और बादरायण की परम्परा के अनुयायी थे। हर्षचरित के टीकाकार शंकर ने औपनिषद् पद का अर्थ वेदान्तवादी किया है। गौड़पाद से ही मायावाद का आरम्भ माना जाता है। उनकी दृष्टि में मायाकल्पित यह जगत् स्वप्न है तथा गन्धर्वनगर की तरह असत्य है। गौड़पाद के इस दृष्टिकोण को ब्राह्मण-धर्म के मुख्य अनुयायी पांचरात्र और भागवत उस समय कदापि स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनका दृष्टिकोण भक्तिप्रधान था, जिसमें वासुदेव या विष्णु की भक्ति ही जीवन की प्रेरणा का मूल स्रोत थी। यद्यपि इस युग के धार्मिक मतवाद और उनके संबंधों की पूरी जानकारी हमारे पास नहीं है और ज्ञात होता है कि पारस्परिक प्रतिक्रियाओं को जानने की बहुत-सी कड़ियाँ अब लुप्त हो चुकी हैं, फिर भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति में पाराशरी या वेदान्तवादी ब्राह्मण-धर्म के बाह्य विश्वासों का विरोध करते रहे होंगे।

दिवाकरमित्र मैत्रायणी शाखा का ब्राह्मण कहा गया है, जिसने युवावस्था में ही चित्तवृत्तियों की एकाग्रता प्राप्त कर लेने से प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध भिक्षुओं के गेरुए वस्त्र धारण कर लिये थे। दिवाकरमित्र स्वर्गीय ग्रहवर्मा का बालपन का मित्र था और कई बार हर्ष उसकी प्रशंसा सुनकर उससे भेंट करने की बात मन में ला चुका था। अब अचानक इसका प्रसंग आया जानकर वह प्रसन्न हुआ और निर्घात से दिवाकरमित्र के आश्रम का मार्ग दिखाने की आज्ञा दी।

विन्ध्याटवी के प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए बाण ने जंगलों में होनेवाले वृक्षों का वर्णन किया है। इस समय तक हर्ष घने जंगल के भीतर आ गए थे। इस वर्णन में निम्नलिखित वृक्षों का उल्लेख है–कर्णिकार, चम्पक, नमेरु, सल्लकी (नलद), नारिकेल, नागकेसर (हरिकेसर), सरल, कुरबक, रक्ताशोक, बकुल, केसर, तिलक, हींग, सुपारी, प्रियंगु, मुचुकुन्द, तमाल, देवदारु, नागवल्ली (तांबूली), जामुन, जम्भीरी नींबू (जंबीर), धूलिकदम्ब[1] (गरमी में फूलने वाला विशेष प्रकार का कदम्ब), कुटज, पीलु, शरीफा (सदाफल), कट्फल (कटहल), शेफालिका, लवलीलता, लकुच (बड़हर), जायफल (जातिफल)।

[1] वनग्राम के वर्णन में धूलिकदम्ब के गुच्छों का उल्लेख आ चुका है (२२८)।

इसी प्रसंग में कुछ पक्षियों और पशुओं का भी उल्लेख है। जैसे, 'कुछ ही दिनों की ब्याई हुई वनकुक्कुटी कुटज के कोटर में बैठी थी। गौरेय्या चुडकलों को उड़ना सिखाते समय चूँ-चूँ करके शोर मचा रही थी। चकोर अपनी सहचरी को चोंच से चुग्गा दे रहा था। भुरुण्ड पक्षी पक्के पीलुओं के फल निश्शंक खा रहे थे। तोतों के बच्चे शरीफे और कटहल के कच्चे फलों को निठुरता से कुतरकर गिरा रहे थे। चट्टानों पर खरगोश के बच्चे सुख से सोए हुए थे। छिपकली के छोटे बच्चे शेफालिका की जड़ों के सूराखों में घुस रहे थे। रंकु नामक मृग निडर घूम रहे थे। नेवले आपस में धमाचौकड़ी मचा रहे थे। कोयल नई फूटी हुई कलियों का आहार कर रही थी। चमूरु हिरनों के झुण्ड आम की झुरमुट में बैठे हुए जुगाली कर रहे थे। नीलांडज मृग सुख से बैठे थे। दूध पीते हुए नीलगाय के बच्चों को पास में बैठे भेड़िये कुछ कहे बिना देख रहे थे। कहीं गिरिनिर्झरों के पास खड़े हाथियों के झुण्ड ऊँघ रहे थे। कहीं रुरु हिरन किन्नरियों के संगीत का आनन्द ले रहे थे, तेंदुए उन्हें देखकर प्रसन्न हो रहे थे। हरी हल्दी की जड़ खोदते हुए सूअरिआ के बच्चों की थूथड़ियाँ रँग गई थीं। झाऊ चूहे गुंजा वृक्षों के कुंजों में गूँज रहे थे। जायफल के नीचे शालिजातक नामक पशु सोए थे। लाल ततैयों के डंक मारने से कुपित हुए बन्दरों ने उनके छत्तों को नोच डाला था। लंगूर बड़हल के फल खाने के लिए लवलीलताओं के इस पार से उस पार कूद रहे थे।' (२३४-२३५)

इस प्रकार बाण का यह वर्णन कुछ तो उसके स्वयं गहरे निरीक्षण का परिणाम है और कुछ साँचे में ढले हुए वनवर्णनों की शैली पर है।

दिवाकरमित्र के आश्रम में कमंडलु, भिक्षापात्र और चीवरवस्त्रों के अतिरिक्त बाण ने उन पकाई हुई मिट्टी की लाल मुहरों (पाटल मुद्रा) का भी उल्लेख किया है, जिन पर चैत्य या स्तूप की आकृतियाँ बनी होती थीं। इस प्रकार की मोहरों का यह उल्लेख स्वागत के योग्य है। प्राचीन बौद्ध स्थानों की खुदाई में इस प्रकार की चैत्यांकित मिट्टी की मोहरें भारी संख्या में पाई गई हैं। उन पर बीच में एक या अधिक स्तूप बने रहते हैं और प्रायः बौद्धों का 'येधर्माः हेतुप्रभवाः' मन्त्र एक बार या अनेक बार लिखा रहता है[1]। दर्शनार्थी लोग इस प्रकार की मोहरें अपने साथ लाते और पूजा में चढ़ा देते थे। जैसा बाण ने लिखा है, वे एक किनारे पर ढेर कर दी जाती थीं (निकट कुटीकृत पाटलमुद्रा चैत्यक मूर्तयः, २३५)।

---

[1]ये धर्माः हेतुप्रभवाः हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत् एवंवादी महाश्रमणः।

आश्रम निकट आया जानकर हर्ष घोड़े से उतर पड़ा और पहाड़ी नदी के जल में हाथ-मुँह धोकर अश्वसेना को वहीं छोड़ माधवगुप्त के कंधे पर हाथ रखकर पैदल ही चला। वहाँ उसने वृक्षों के बीच में दिवाकरमित्र को देखा और दूर से ही उसे आदरपूर्वक प्रणाम किया। बाण ने दिवाकरमित्र और उसके आश्रम के वर्णन में अपने समकालीन बौद्ध धर्म सम्बन्धी अनेक अभिप्रायों और संस्थाओं का उल्लेख किया है। इन्हें हम चार भागों में बाँट सकते हैं – १. भिक्षु; २. तत्त्वचिन्तन की विधियाँ; ३. बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार और ४. दिवाकरमित्र के रूप में उस युग के एक बड़े महन्त का वर्णन। सबसे पहले उन अनेक दार्शनिकों, सम्प्रदायों और भिक्षुओं के नाम हैं, जो उस समय के धार्मिक आन्दोलन में प्रमुख भाग ले रहे थे। यह कल्पना की गई है कि वे सब उस आश्रम में एकत्र होकर तत्वचिंतन में भाग ले रहे थे। इन सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. आर्हत। २. मस्करी। ३. श्वेतपट (सेवड़ा, श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय)। ४. पांडुरि भिक्षु (आजीवक जो इस युग में पाँडरि भिक्षु कहलाते थे)। ५. भागवत। ६. वर्णी (नैष्ठिक ब्रह्मचारी साधु)। ७. केशलुंचन (केशों का लोच करने वाले जैन साधु)। ८. कापिल (कपिल मतानुयायी सांख्य)। ९. जैन (बुद्ध-मतानुयायी शाक्य भिक्षु)। १०. लोकायतिक (चार्वाक)। ११. काणाद (वैशेषिक)। १२. औपनिषद (उपनिषद् या वेदान्त दर्शन के ब्रह्मवादी दार्शनिक)। १३. ऐश्वर-कारणिक (नैयायिक, प्राचीन पाली साहित्य में भी 'इस्सर कारणिक' नाम आया है)। १४. कारन्धमी (धातुवादी या रसायन बनानेवाले)। १५. धर्मशास्त्री (मन्वादि स्मृतियों के अनुयायी)। १६. पौराणिक। १७. साप्ततन्तव (सप्ततन्तु अर्थात् यज्ञवादी मीमांसक)। १८. शाब्द (व्याकरण दर्शन वा शब्द ब्रह्म के अनुयायी, जिनके विचारों का परिपाक भर्तृहरि के वाक्यपदीय में मिलता है)। १९. पांचरात्रिक (पंचरात्र संज्ञक प्राचीन वैष्णव मत के अनुयायी)। इनके अतिरिक्त और भी (अन्यैश्च) मत-मतान्तरों को माननेवाले वहाँ एकत्र थे।

इस सूची में बाण ने अपने समय के दार्शनिक जगत् की बानगी दी है। भारत के धार्मिक इतिहास के लिए इसका महत्व है। सातवीं शती के अनन्तर भी धार्मिक क्षेत्र में कितने ही महत्वपूर्ण परिवर्तन होते गए और शैव, कापालिक और कालामुख आदि विशेष सम्प्रदायों के नाम इसके साथ क्रमशः जुड़ते गए, जिनका चित्र यशस्तिलक चम्पू में ऐसे ही प्रसंग में खींचा गया है (श्री कृष्णकान्त हंदीकी कृत यशस्तिलक, पृ० ३४६-६०)।

इस सूची में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। बौद्धों के लिए उस समय अधिकतर जैन शब्द चलता था। बाण ने स्वयं शाक्य मुनि शासन में निरत बौद्ध

साधुओं के समूह के लिये जैनी सज्जनता (२२४) पद का प्रयोग किया है। बुद्ध के लिये उस समय 'जिननाथ' विशेषण प्रायः प्रयुक्त होता था। बौद्ध धर्म के लुप्त हो जाने के बाद से जैन पद केवल जैनों के लिये प्रयुक्त होने लगा। इस सूची में शैव और पाशुपत मतों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिनका उस समय बड़ा प्राबल्य था। वस्तुतः मस्करी भिक्षु ही उस समय के पाशुपत थे। पाशुपत भैरवाचार्य और उनके शिष्य को बाण ने मस्करी कहा है (१०२)। भागवतों के दो भेद भागवत और पाञ्चरात्रिक नामों से अलग-अलग कहे गए हैं। कुषाण और गुप्त युग में भागवत धर्म का कई रूपों में विकास हुआ। वैखानस मतानुयायी लोग विष्णु और उनके चार सहयोगी––अच्युत, सत्य, पुरुष और अनिरुद्ध—की उपासना करते थे। सात्वत लोग विष्णु की नारायण के रूप में उपासना करते थे। नृसिंह और वराह के रूप में महाविष्णु की मूर्ति की कल्पना उनकी विशेषता थी। नृसिंह-वराह और विष्णु की कितनी ही गुप्तकालीन मूर्तियाँ मथुरा-कला में मिली हैं, वे सात्वतों के सिद्धान्त से अनुप्राणित जान पड़ती हैं। इन दोनों से प्राचीन मूलपंचरात्र सिद्धान्त था, उस आगम के अनुयायी पांचरात्र या पांचरात्रिक कहलाते थे। ये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप में चतुर्व्यूह को मानते थे। इनमें भी जो केवल वासुदेव की आराधना करते थे, वे एकान्तिन् कहलाते थे। नारद पंचरात्र के अनुसार एकान्तियों के दो भेद थे––शुद्ध, जो केवल वासुदेव को ही ईश्वर मानकर उनकी पूजा करते थे (वासुदेवैकयाजिन्), और दूसरे मिश्र, जो विष्णु के अतिरिक्त और भी विष्णुरूपधारी देवताओं (जैसे शिव, इन्द्र, ब्रह्मा, पार्वती, सरस्वती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी आदि)[1] को मानते थे। शनैः शनैः कई सम्प्रदाय एक में मिलते गए। बाण के समय में पांचरात्रिक और भागवत ये दो मोटे भेद रह गए थे। आगे चलकर वे सब केवल भागवत इसी एक नाम से पुकारे जाने लगे और उनके पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी लुप्त हो गए। किन्तु वैखानस, सात्वत और पांचरात्र संहिताओं और आगमों के कई सौ ग्रन्थों का विशाल साहित्य आज तक सुरक्षित रह गया है[2]। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका अध्ययन कुषाण और गुप्तयुग के धार्मिक इतिहास पर नया प्रकाश डाल सकता है।"

('हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' का एक अंश)

---

[1]**श्रूयते यत्र यष्टव्या यादृशी या हि देवता।**
तादृशी सा भवेत्तत्र यजंत्येकांतिनो हरिम्॥

[2]**देखिए श्राडर कृत अहिर्बुध्न्यसंहिता और पंचरात्र की भूमिका (अंग्रेजी), पृ० ६-११, जहाँ २१५ संहिताओं के नाम हैं।**

: ४ :

"शिव जिस समय आत्म-प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, उस समय काम उनके मार्ग में विघ्न करता है। उस काम को वे अपने वश में करते हैं। बोधिलाभ करने से पूर्व भगवान् बुद्ध को भी मार-विजय करनी पड़ी थी। काम और शिव का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। काम की संज्ञा वृष है; वृष नाम मेघ का है। मेघ ही वृषा इन्द्र का कामरूप पुरुष है, अर्थात् वृष, काम और मेघ एक ही तत्त्व के नामान्तर हैं। जिस मेघ को दूत कल्पित करके यक्ष अपने कामोद्गारों का प्रकाश करता है, उसको बारम्बार परामर्श है कि वह शिव को प्रसन्न करे, भक्ति से नम्र होकर हरचरणन्यास की परिक्रमा करे, तथा अपना स्निग्ध गम्भीर घोष, पशुपति के संगीत-साज के काम में लावे। काम का निग्रह करनेवाले शिव, काम से किस प्रकार प्रसन्न हो सकते हैं, इसका उत्तर शिव-पार्वती का विवाह है। पार्वती सुषुम्णा नाड़ी का नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है, इसी के भीतर सुषुम्णा है। इस मेरुदण्ड में छः चक्र और तैंतीस पर्व या अस्थिपोर हैं। ये पोर एक-दूसरे से सटे रहते हैं। मेरु ही पर्वत है (पर्वाणि सन्त्यस्य)। उस पर्वत के भीतर रहनेवाली सुषुम्णा पर्वतराज की पुत्री पार्वती हैं। अस्थि-पोरों के भीतर एक छिद्र है, पर्वों के परस्पर मिलने से वह रन्ध्र दीर्घ-नलिकाकार हो जाता है। इसी के भीतर सुषुम्णा नाड़ी है। यह नाड़ी मस्तिष्क से होती हुई पृष्ठ-वंश में अनुस्यूत होकर सबसे नीचे के मूलाधार चक्र तक आ जाती है। पर्वास्थि के भीतर पहले श्वेत, फिर विभूति वर्ण का भूरा मज्जामय पदार्थ भरा रहता है, जो मस्तिष्क के कोषों में भी पाया जाता है। इसी चित्रासंज्ञक सुषुम्णा के भीतर एक सूक्ष्म विवर है, जो नीचे से ऊपर तक आयत रहता है। सुषुम्णा के बाईं ओर इडा और दक्षिण ओर पिंगला नाम की नाड़ियाँ हैं, जो सुषुम्णा से सम्बद्ध रहती हैं और सहस्र जाल सी फैलती हुई अन्त में कपालस्थ आज्ञाचक्र में सुषुम्णा से मिल जाती हैं। ये नाड़ियाँ सब प्राण की वाहिका हैं और प्राण ही जीवन-तत्त्व है।

भौतिक पक्ष में इस प्राण के आधार ये सब नाड़ी-जाल और षट्चक्र हैं। नाड़ियों की सूक्ष्मता की कोई सीमा नहीं है। उनकी संख्या योग-शास्त्र के अनुसार बहत्तर करोड़ है। वस्तुतः आधुनिक शरीर-शास्त्री के लिए भी समस्त नाड़ी-संख्या का निर्धारण कठिन है। इन सबमें मुख्य सुषुम्णा ही है। स्थूल शरीर-विज्ञान जीवन-तत्त्व के भौतिक आधार का ही परिचय पा सका है; उसका भोगायतन

(फिजियोलोजिकल) रूप प्रयोग-साध्य है। परन्तु योग-विद्या मानसिक पक्ष में भी प्राण की गति का निर्देश और सूक्ष्म परिचय कराती है। इसीलिए भौतिक प्रयोग से जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो पाता, ध्यान में उन्हीं शारीरिक रहस्यों का मानसिक क्रियाओं के साथ प्रत्यक्ष हो जाता है। तन्त्र-ग्रन्थों में इसके दो प्रकार से वर्णन मिलते हैं। कहीं तो भोगायतन-पक्ष में शरीर-संघटन में जीवन-तत्त्व का अधिष्ठान समझाने के लिए सुषुम्णा आदि संज्ञाओं से काम लिया जाता है और कहीं उस वर्णन को आध्यात्मिक स्वरूप देकर शिव, पार्वती, कुमार, प्रमथ आदि संज्ञाएँ कल्पित करके योग-प्रत्यक्ष को शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। षट्चक्रों का स्थान और क्रम इस प्रकार है—

१. मूलाधार (कौक्सीजियल रीजन)—इसका संयोग गुदा से है। इसमें चार पर्व (वर्टिब्री) हैं, जो ऊपर के पर्वों की अपेक्षा छोटे और अपूर्ण दशा में हैं। ये चारों पृथक्-पृथक् स्फुट स्वरूप के न होकर एक ही अस्थि-से प्रतीत होते हैं, जिसे अंग्रेजी में कौक्सिक्स कहते हैं। कीक अस्थि भी यही ज्ञात होती है। कुण्डलिनी शक्ति यहीं निवास करती है। शिव-पार्वती के विवाह में कुण्डलिनी को जगाकर ही ब्रह्माण्ड या मस्तिष्क में ले जाते हैं। इसी को योग की परिभाषा में सर्पिणी कहते हैं, क्योंकि यह सर्पिणी की भाँति कुण्डल मारकर सोई रहती है। मूलाधार में पृथ्वी तत्त्व का स्थान है।

२. स्वाधिष्ठान (सेक्रल रीजन)—इसका अधिष्ठान लिंग में है। इसमें पाँच पर्व हैं। ये पाँचों भी एक ही अस्थि में जुड़े रहते हैं, जिसे अंग्रेजी में सेक्रम कहते हैं। इन्हीं दोनों अस्थियों के नौ पर्वों को निकालकर आधुनिक शरीर-शास्त्री मेरुदण्ड में २४ अस्थिपोरों की गणना करते हैं। पर भारतीयों ने इस शक्ति को तैंतीस पर्वों से ही युक्त माना है। स्वाधिष्ठान-चक्र में जल-तत्त्व का अधिष्ठान है।

३. मणिपूर (लम्बर रीजन)—इसका स्थान नाभि है और मेरुदण्ड के इस भाग में पाँच पर्व हैं। तेज इसका तत्व है। इन तीन चक्रों का भेद कर लेने पर योगी विराट् भाव से युक्त हो जाता है; उसकी मोह-निद्रा टूट जाती है।

४. अनाहत (डोर्सल रीजन)—मेरुदण्ड में बारह पर्वोंवाला यह चक्र हृदय में स्थित है। यहाँ वायु-तत्त्व का स्थान है।

५. विशुद्धि-चक्र (सर्विकल रीजन)—इसमें सात पर्व हैं और यह ग्रीवा में स्थित है। यहीं से आकाशगुणक शब्द का जन्म होता है। इसका भेद करने पर योगी को आकाश तत्त्व पर विजय प्राप्त हो जाती है।

६. आज्ञाचक्र—मस्तिष्क प्रदेश के भ्रूमध्य या त्रिकुटी में योगी इसका स्थान मानते हैं। यहाँ सुषुम्णा का अन्त हो जाता है। यहाँ मन, बुद्धि और

अहंकार का निवास है। इसी स्थान पर ज्ञानचक्षु है, जो तृतीय नेत्र है। यहीं शिव का वास है।

जब योगी पाँच चक्रों को सिद्ध कर लेता है, तब उसे काम-बाधा नहीं सता सकती। शिव के लिए कालिदास ने कहा है—'अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्', अर्थात् मदन के निग्रह के कारण रूप या सौन्दर्य उनके चित्त को नहीं हर सकता। पहले शिव ने मदन को भस्म कर डाला है (भस्मावशेषं मदनं चकार); तभी वे पार्वती के साथ विवाह करके षड़ानन कुमार को जन्म देते हैं। आज्ञा-चक्र से ऊपर सहस्रदल कमल (सेरेब्रल रीजन) है, जहाँ पर साक्षात् शिव निवास करते हैं।

कुमार का जन्म शिव के स्कन्दित तेज से होता है। यह तेज पार्वती रूपी सुषुम्णा में[1] निक्षिप्त होकर क्रमशः छओं[2] चक्रों के द्वारा पुष्ट और लालित होता हुआ स्कन्द को जन्म देता है, जो इसी कारण छः माताओं के पुत्र या षाण्मातुर कहे गए हैं। कालिदास ने मेघदूत में स्कन्द के जन्म का रहस्य सूत्र रूप में लिख दिया है— तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा

पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः।। १।४७।।

वहाँ देवगिरि पर बसनेवाले कुमार को अपना अभ्र-पुष्पात्मक रूप बनाकर आकाशगंगा से सींची हुई पुष्पवृष्टि से स्नान कराना। देवसेना की रक्षा के हेतु पावक के मुख में संचित सूर्य से भी अधिक प्रभावशाली शिव का तेज ही कुमार है।

('मेघदूत : एक अध्ययन' के 'शिव का स्वरूप' अध्याय का एक अंश)

---

[1]सुसुम्न। सुम्न=आनन्द। षुञ् अभिषवे धातु से सुम्न बनता है। षट्चक्र भेद के पश्चात् स्कन्द जन्म लेता है। लोक में स्कन्द का सम्बन्ध छः की संख्या से है—षड़ानन, स्कन्द-षष्ठी। आज्ञाचक्र का जो चित्र श्री आर्थर एवेलन ने दिया है उसमें कुमार षड़ानन दिखाए गए हैं।

[2]षट्चक्र सुषुम्णा नाड़ी में ही रहते हैं। शरीर-विज्ञान में सुषुम्णा के पाँच स्वाभाविक विकास हो गए हैं। छठा सबसे ऊपर है, जहाँ सुषुम्णा (स्पाइनल कॉर्ड), क्रौंच रन्ध्र (मैगनम फोरामेन, अर्थात् बड़े छेद) में होती हुई मस्तिष्क या ब्रह्माण्ड में फैल जाती है। इन पांच चक्रों की शक्तिप्रवाहि नाड़ियोंनी का सम्बन्ध क्रमशः गुदा, लिंग, नाभि, हृदय और कंठ से है। उदाहरण के लिए, मणिपुर चक्र नाभि देश का नियन्त्रण करता है, पर उसका स्थान सुषुम्णा में ही है। इस प्रकार अन्यत्र चक्रों के विषय में भी है।

: ५ :

अहुठौ बज्र जूझि जस सुना। तेहि तें अधिक होइ चौगुना।१।
बाजहिं खरग उठै दर आगी। भुइँ जरि चहै सरग कहँ लागी।२।
चमकै बीज होइ उजियारा। जेहि सिर परै होइ दुइ फारा।३।
सैन मेघ अस दुहुँ दिसि गाजै। खरग जो बीच बीज अस बाजै।४।
बरिसै सेल आँसु होइ काँदो। जस बरिसै सावन औ भादौं।५।
टूटहिं कुंत परहिं तरवारी। औ गोला ओला जस भारी।६।
जूझे बीर लिखौं कहँ ताईं। लै अछारि कबिलास सिधाईं।७।
स्यामी काज जे जूझे सोइ गए मुख रात।
जो भागे सत छाँड़ि कै मसि मुख चढ़ी परात।।४३।३।।

(१) साढ़े तीन वज्रों का युद्ध जैसा भयंकर सुना जाता है, उससे भी चौगुना वह युद्ध हुआ। (२) तलवारों के टकराने से सेना में आग उठ रही थी। धरती से उठती हुई लपटें आकाश छू लेना चाहती थीं। (३) खड्ग बिजली सी चमकती थीं, जिससे उजाला हो जाता था। जिसके सिर पर पड़ती उसी की दो फाँक हो जातीं। (४) सेनाएँ दोनों ओर मेघों के समान गरज रही थीं। बीच-बीच में तलवारें टकराकर बिजली के समान गिरती थीं। (५) जैसे सावन और भादों में मेह बरसता है वैसे ही लम्बे भालों से रक्त की बूँदें आँसू सी टपक रही थीं, जिससे कीचड़ हो रही थी। (६) भाले टूट रहे थे और तलवारें गिर रही थीं और भारी गोले ओले की तरह गिर रहे थे। (७) अनेक वीर जूझ गए। कहाँ तक लिखूं? कितनों को लेकर अप्सराएँ कैलास चली गईं। (८) जो स्वामी के काम के लिए जूझ गए, वही सुर्खरू होकर गए। (९) जो सत छोड़कर भागे, उन भगोड़ों के मुँह पर कालिख पुत गई।

(१) अहुठौ बज्र–दे० ५०८।९।
(२) फारा = फाड़ या फाँक।
(३) सेल = जायसी ने ६३०।३, ६३१।६ और ६३२।१ में सेल शब्द का प्रयोग किया है। अन्तिम प्रमाण (भै बगमेल सेल घनघोरा) से ज्ञात होता है कि सेल घुड़सवारों की निकट की भिड़न्त में प्रयुक्त होनेवाला, बल्लम की जाति का कोई हथियार होता था। अबुल फ़ज़ल ने सेलारा नामक हथियार का उल्लेख किया है, जिसका सिरा और डंडा साँगी से

कुछ छोटा होता था। अर्विन ने लिखा है कि आईन के अतिरिक्त यह शब्द अन्यत्र उन्हें नहीं मिला। उनका यह कहना कि सेलार और हिन्दी सेल एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, ठीक ही ज्ञात होता है।

(६) कुन्त–यह प्राचीन शब्द था। अमरकोश में कुन्त और प्रास दोनों को पर्याय माना है (अमर० २।८।९५)। आईन अकबरी ने नेज़ा, बर्छा, साँग, सेंठी और सेलार, पाँच प्रकार के भाले कहे हैं। इनमें नेजा घुड़सवार ही प्रयुक्त करते थे। घोड़े की पीठ पर बैठकर दूसरे घुड़सवार या हाथी पर बैठे सवार पर वार करने के लिए नेज़ा काम में लाते थे। इसकी डंडी बाँस की १२ से १५ फुट तक लम्बी होती थी। उस पर छोटा लोहे का सिरा लगा होता था, जो पत्तीनुमा या कभी-कभी तिकोना भी बनता था। जायसी ने ६३०।५ में नेजे का उल्लेख किया है। प्राचीन काल में घुड़सवार जिस शस्त्र का प्रयोग करते थे, उसे रघुवंश में भल्ल कहा गया है। पारसीकों के साथ युद्ध में भारतीय घुड़सवारों ने भाले का प्रयोग किया था (रघुवंश ४।६३)। इससे अनुमान होता है कि अश्वारोही सेना द्वारा प्रयुक्त नेजे का ही संस्कृत में नाम भल्ल था। जायसी ने भी ५१४।९ में लिखा है कि भल्लैत लोग भाला लेकर हाथी पर बैठे थे। तात्पर्य यह है कि भाले या नेजे का प्रयोग घोड़े या हाथी के सैनिक करते थे, पैदल नहीं। पैदलों का हथियार बर्छा था, जो आईन की सूची में दूसरा शस्त्र है। यह बिलकुल लोहे का बनता था। इसके डण्डे की लम्बाई नेजे के बराबर ही होती थी और सिरे की पत्ती भी वैसी ही छोटी होती थी। अर्विन के अनुसार इसका अधिकतर प्रयोग पैदल सैनिक ही करते थे। घुड़सवार के लिए इतना भारी अस्त्र काम में लाना कठिन था (अर्विन, आर्मी ऑफ दी इंडियन मुगल्स, पृ० ८३)। जायसी ने बर्छे का उल्लेख नहीं किया। अनुमान होता है कि उनका कुन्त ही बर्छा था। कुन्तधारी सैनिक दौड़कर चल रहे थे (५२० । ६), जायसी के इस कथन से भी कुन्त और पदाति सेना के सम्बन्ध की पुष्टि होती है। १८ वीं शती के सूदन ने बरछैत या बर्छाधारी सैनिकों का उल्लेख किया है। पृथ्वीचंद्र-चरित्र (संवत् १४७८) में कुन्त और भाला दो अलग हथियार छत्तीस दंडायुधों की सूची में कहे हैं।

नेज़ा = भाला, घुड़सवारों द्वारा प्रयुक्त।

कुन्त = बर्छा, पैदल सेना में प्रयुक्त।

(९) परात – धा० पराना = भागना । सं० परा + अय् > पलायते > प्रा०पला-
यइ > पराना ।

('पदमावत :: मूल और संजीवनी व्याख्या' का एक अंश)

: ६ :

"गीता महाभारत का सर्वोत्तम अंश है। इस बड़े ग्रंथ में जिसे शतसाहस्त्री संहिता कहते हैं और भी कितने ही तेजस्वी प्रकरण हैं, किन्तु गीता जैसी साभिप्राय और सुविरचित रचना दूसरी नहीं। गीता को महाभारतकार ने जिस संदर्भ में रक्खा है, इसका भी ग्रंथ की अर्थवत्ता के लिए बहुत महत्त्व है। गीता कुरु-पांडवों के युद्ध से पूर्व उस व्यक्ति से कही गई, जो दोनों पक्षों के क्षात्रबल का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है, युद्ध की दृष्टि से अर्जुन पाण्डव पक्ष का सर्वश्रेष्ठ पात्र है। पाडवों के पक्ष में धर्म का आग्रह था। युद्ध आरम्भ करने से पूर्व अर्जुन का मन बहुत बड़े तनाव की स्थिति में आ गया था। मनुष्य की सोचने की, कर्म करने की, और चाहने की जितनी शक्ति है, उसकी भरपूर मात्रा जिस काम में उँड़ेल दी जाय, वह युद्ध का रूप है। बाह्य शस्त्रों का प्रयोग और संहार तो उसका गौण पक्ष है। हम शस्त्रों का प्रयोग न भी करें तो भी मन का वैरभाव विनाश करा डालता है। अपने ज्ञान, कर्म और हृदय की भावना से युक्त होकर विपरीत परिस्थितियों का सामना करने के अनेक प्रसंग जीवन में आया ही करते हैं। जो व्यक्ति जितना महान् है, उसके लिए ऐसे प्रसंग भी उतने ही गम्भीर हुआ करते हैं। इस बिन्दु पर पहुँचकर मानव अपने पूरे व्यक्तित्त्व को समेटकर कर्म की भट्टी में डाल देता है। पूर्व की घटनाओं ने अर्जुन को भी उसी मोड़ तक पहुँचा दिया था। उस बिन्दु से आगे उसके लिए दूसरा मार्ग न था, 'कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि' यही एकमात्र अर्जुन के जीवन की संगति थी। इसे ही युद्ध कहते हैं। यह युद्ध भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का हो सकता है। दोनों में ही आत्माहुति वीर की एकमात्र गति होती है, वही उसके चलने का मार्ग अवशिष्ट रहता है, पलायन नहीं। ऐसे कठिन मोर्चे पर पहुँचकर अर्जुन का दृढ़ मन टुकड़े-टुकड़े हो गया। जिस धर्म के भाव ने उसे युद्ध के लिए आगे बढ़ाया था, उसी ने अर्जुन के मन को संदेह से भर दिया। उसे ऐसा लगा मानो वह नीति-धर्म की हत्या के लिये बढ़ रहा हो। जिस राज्याधिकार के लिए युद्ध करना धर्म था, उस अधिकार

की भावना को त्याग के भाव से क्षण भर में ही जीता जा सकता था और यों युद्ध का प्रपंच ही मिट जाता है। कृष्ण ने अर्जुन की इस डाँवाडोल स्थिति को क्लैव्य या नुपुंसकता कहा। अर्जुन के लिए यह शब्द इसी अर्थ में सार्थक है कि उसकी जितनी दुर्धर्ष कर्मशक्ति थी, उसे त्याग की इस झूठी भावना ने बिलकुल समाप्त कर डाला। जैसे किसी की शरीर की पुंस्त्वशक्ति नष्ट हो जाय, वैसे ही अर्जुन के मन का पौरुष बिखर गया। वस्तुतः अर्जुन ने गीता सुनने के बाद स्वयं स्वीकार किया कि वह एक प्रकार का मोह या उसके मन पर छाया हुआ अँधेरा था। जिस धर्मनिष्ठ कर्त्तव्य के लिए अपने सारे जीवन को दाँव पर लगा दिया था, उसी में उसकी आस्था जाती रही और उसका मन संदेह से भर गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार का संदेह केवल अर्जुन को ही हुआ और किसी को नहीं। और किसी का मन इस प्रकार के विवेचन के लिए तैयार ही नहीं था। अर्जुन के संदेह का कारण यह नहीं कि वह धर्म का पथ छोड़कर अधर्म की ओर जाना चाहता था, बल्कि अब तक जिसे वह धर्म समझे था उससे और ऊँचे धर्म को पकड़ने का भाव उसके मन में आ गया। गीता का पहला शब्द 'धर्मक्षेत्रे' इस दृष्टि से सहेतुक है। अर्जुन का संकट दो धर्मों के बीच में है, धर्म और अधर्म की टक्कर में नहीं। अधर्म के आग्रह को तो वह बहुत आसानी से छोड़ सकता था, किन्तु जिस नए उच्चतर धर्म का आकर्षण उसके मन में भर गया, उस विचिकित्सा या संदेह को स्वयं जीतने की उसमें शक्ति न थी। अर्जुन के इस भाव को मनोवैज्ञानिक शब्दों में 'परमकृपा' कहा गया है (कृपया परया विष्टः १/२७)[१]। अर्जुन के भीतर जो कृपा या अनुकम्पा का भाव भर गया था, वह उसी के सदृश था, जैसा बुद्ध, महावीर, भर्तृहरि आदि राजकुमारों के मन में संसार के प्रति उत्पन्न हुआ था। अर्जुन ने स्पष्ट कहा कि युद्ध की अपेक्षा भिक्षा का जीवन उत्तम है (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यं, २/५)। सच तो यह है कि अर्जुन ने युद्ध न करने के पक्ष में जो युक्तियाँ दीं, वे अत्यन्त प्रबल हैं। उसने कहा, "हे कृष्ण, मुझे राज्य नहीं चाहिए, सुख नहीं चाहिए, भोग का जीवन नहीं चाहिए, युद्ध में विजय नहीं चाहिए। यदि स्वजनों के वध से ये वस्तुएँ मिलनेवाली हों तो पृथ्वी क्या, त्रिलोकी का राज्य भी मुझे नहीं चाहिए। ये मुझे भले ही मारें, मैं अपने इन स्वजनों को कदापि नहीं मारूँगा। यदि यह कहा जाय कि ये अधर्म का पक्ष लेकर आए हैं, तो मेरा यह कहना है कि सचमुच इन्होंने हम भाइयों के साथ और द्रौपदी के साथ घोर आततताईपन के काम किए हैं, किन्तु यह जानते हुए भी मैं इनका वध नहीं करूँगा। ये अंधे हैं, इन्हें अपना पाप दिखाई नहीं पड़ता। जिसके

[१]आगे सब संकेत गीता के अनुसार हैं, भीष्मपर्व के अनुसार नहीं।

आँख है, वही सचाई को देखता है, अंधे को सत्य नहीं दिखाई पड़ता। इनके पास हृदय की आँख नहीं हैं, अतएव ये दयनीय हैं, पर हमारे पास तो विवेक की आँख है। हम भले-बुरे की पहचान क्यों न करें ? जिसकी आँख पर लोभ का पट्टा चढ़ जाता है, उसके अंधे चित्त को सत्य नहीं सूझता, पर हम कुल के क्षय से होनेवाले इस बड़े पाप को कैसे न देखें ? भारतीय संस्कृति में कुल ही जीवन का मूलाधार है। व्यक्ति या जाति या राष्ट्र के धर्मों की रक्षा और परम्परा यहाँ कुलधर्म के रूप में जीवित रही है। अर्जुन ने जिस संकट की आशंका प्रकट की, वह युद्ध के परिणाम से होनेवाला सच्चा संकट था। एक प्रकार से राष्ट्र का जो सदाचारमय महान् धर्म है, वह कुलों की मर्यादा बिगड़ने से अस्तव्यस्त हो जाता है (उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः, १/४३)। अर्जुन ने सोचा—यह युद्ध महान् पाप है। मेरा हित इसी में है कि मैं युद्ध न करूँ, भले ही कौरव मुझे मार डालें। ऐसी विचारधारा में उसने अपना धनुष-बाण डाल दिया। उसका चित्त इस नए वैराग्य धर्म से संमूढ हो गया और उसके भीतर-बाहर शोक छा गया। उसने कृष्ण से कहा—मुझे अब नहीं जान पड़ता कि मेरा हित किसमें है ? मेरा जो क्षात्र स्वभाव था वह जाता रहा। मैं आपका शिष्य हूँ और नम्रता से आपकी शरण में आता हूँ। आप गुरु बनकर मुझे कल्याण-मार्ग का उपदेश दीजिए। यही गीता के पहले अध्याय का सार है, जिसे अर्जुनविषादयोग कहते हैं।"

('गीता-नवनीत' से)

: ७ :

"द्रोण के अनन्तर दुर्योधन ने कर्ण को अपना सेनापति नियुक्त किया और युद्ध पहले से भी घोर रूप में शुरू हुआ। पहले दिन भीम के द्वारा क्षेमधूर्त्ति का वध हुआ और उसने अश्वत्थामा के साथ भयंकर युद्ध किया। अर्जुन ने संशप्तक वीरों के साथ पहले के समान घोर संग्राम किया। सहदेव ने दुःशासन को और कर्ण ने भीम को नीचा दिखाया। इस दिन कितने ही छोटे-मोटे द्वन्द्व (या संकुल) युद्ध हुए। दुर्योधन और कर्ण ने मिलकर राजा युधिष्ठिर से संग्राम किया।

इस समय एक समस्या उत्पन्न हुई, अर्थात् कर्ण के लिए एक योग्य सारथी की आवश्यकता पड़ी, जिससे वह भी अर्जुन के समान पराक्रम दिखला सके। कर्ण

ने प्रस्ताव किया कि शल्य को उसका सारथी बनाया जाय। शल्य को पहले तो यह बात मान्य न हुई, किन्तु दुर्योधन के बहुत आग्रह करने और शकुनि के बहुत समझाने-बुझाने पर उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पर यह स्वीकृति कर्ण के लिये लाभदायक सिद्ध नहीं हुई। इससे कर्ण के लिये एक बखेड़ा ही खड़ा हो गया। दोनों में काफी कलह उत्पन्न हो गया। कर्ण जब अपनी प्रशंसा में कुछ कहता, तब शल्य उसे वहीं रोककर उल्टे अर्जुन की बड़ाई करने लगता। शल्य ने यहाँ तक कह डाला कि हे कर्ण, यदि तुम युद्ध से भाग न गये, तो अर्जुन के हाथ से न बच सकोगे। स्वतः युद्ध में कमर कसकर उतरे हुए वीर के लिये उसकी प्रशंसा से बढ़कर और कोई अमृत का पान नहीं होता और लांछन से बढ़कर उस वीर के लिए कोई विष नहीं होता, पर कर्ण के भाग में यह अमृतपान न था। शल्य को सारथी-कार्य के लिये प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से दुर्योधन ने त्रिपुराख्यान का वर्णन किया, जिसमें शिव जी ने देवताओं की ओर से युद्ध करने के लिये एक सर्व-देवमय और सर्वलोकमय रथ सजाया था, तब स्वयं ब्रह्मा जी ने उसका सारथी होना स्वीकार किया था। इसलिये सारथी का पद अत्यन्त सम्मानित समझा जाता था। दुर्योधन की इस बात का शल्य के मन पर प्रभाव हुआ और उसने उसकी बात मान ली। कर्ण को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने अच्छे हृदय से यह कहा :

ईशानस्य यथा ब्रह्मा यथा पार्थस्थ केशवः।
तथा नित्यं हिते युक्तो मद्रराजभजस्वनः। (२५/७)

पर कर्ण और शल्य की कुण्डली मिलने वाली न थी। शल्य ने कठोर भाषण से शत्रु की प्रशंसा और कर्ण की निन्दा, विशेषतः अर्जुन के पराक्रम का बखान करना शुरू किया। कर्ण को तो अर्जुन से युद्ध करने का उत्साह था और वह सैनिकों से पूछ रहा था कि शल्य ने उसे फिर चिढ़ाया—'हे कर्ण, अब तुम काल-पक्व होकर मृत्यु के मुख में जाना चाहते हो'। तब कर्ण को कहना पड़ा—"हे शल्य, तुम मित्र का मुख रखने वाले मेरे शत्रु हो। और मुझे भयभीत करना चाहते हो" (त्वं तु मित्रमुखः शत्रुर्मां भीषयितुमिच्छसि २७/२८)। पर शल्य की जिह्वा विष की थैली थी। उससे चुप न रहा गया और कहने लगा—"हे कर्ण, तुम गीदड़ की तरह शेर से या बटेर की तरह गरुड़ से भिड़ना चाहते हो। जैसे मेढ़क मेघ को देख कर टर्राता है, ऐसे ही तुम्हारा यह भाषण है। क्या बिना डोंगी के कोई कुपित समुद्र पार कर सकता है? चूहे और बिलार में, कुत्ते और बाघ में, शृगाल और सिंह में, खरगोश और हाथी में, झूठ और सत्य में एवं विष और अमृत में जितना अन्तर है, उतना ही तुममें और अर्जुन में है।"

जब बात इतनी बढ़ी तो कर्ण से भी न रहा गया और इसके बाद कर्ण ने जो कुछ शल्य के लिये कहा, वह महाभारत का अत्यन्त विलक्षण प्रकरण है। उसे पुष्पिका में मद्रक-कुत्सन कहा गया है। यह अंश कर्ण पर्व के २७वें अध्याय के ७१–९१ श्लोकों में और २०वें अध्याय के ७–८१ श्लोक में आया है।

यहाँ महाभारतकार क्या कहना चाहते थे और इन श्लोकों का वास्तविक अर्थ क्या है, यह बात अभी तक किसी लेखक ने स्पष्ट नहीं की है। यह ऊपर से तो कर्ण और शल्य की तू-तू मैं-मैं जान पड़ती है, किन्तु इसके भीतर ठोस ऐतिहासिक तथ्य छिपा हुआ है। बात ऐसी है कि जब इस देश पर सिकन्दर ने आक्रमण किया, तो उसके अन्यायी यवनों का कुछ प्रदेशों पर अधिकार हो गया। पहले यह अधिकार बाल्हीक या वल्ख प्रदेश पर था और वहाँ के यवन शासक बाल्हीक यवन कहलाते थे। मौर्य सम्राटों के युग में तो वे निस्तेज होकर सिकुड़े हुए पड़े रहते थे। किन्तु मौर्य साम्राज्य के बिखरने पर जब पुष्यमित्र सत्तारूढ़ हुआ, उस समय यवनों ने गान्धार और पंजाब की ओर अपने पैर फैलाने शुरू किए और उनमें से दिमित्र और मेनन्द्र नामक राजाओं ने पंचनद या पंजाब के उत्तरी प्रदेश में, जिसे मद्र कहते थे एवं जिसकी राजधानी शाकल थी, अपना अधिकार जमाया। मद्रराज शल्य भी वहीं के थे। अतएव उनके व्याज से जो कुछ मद्रक यवनों के आचार और विचार के प्रति भारतीयों की प्रतिक्रिया थी, वह सब शल्य के सिर मढ़कर यहाँ कही गई है। स्पष्ट ज्ञात होता है कि मद्रक यवनों का रहन-सहन भारतीयों के आचार-विचार और सामाजिक संगठन से भिन्न था। उनमें खान-पान, नाच, रंग, सुरा और मद, नग्न नृत्य आदि बहुत-सी कुटिल प्रथाएँ ऐसी थीं, जिनकी चर्चा मध्य देश में रहने वाले भारतीयों के कानों में आने लगी। तभी ऐसा हुआ कि मध्य देश में ऐसी धारणा फैली कि पाँच नदियों वाला वाहीक देश पृथिवी का मल है, वहाँ किसी को नहीं जाना चाहिये। यहाँ तक बात बढ़ी कि जो कुरुक्षेत्र, सरस्वती और दृषद्वती के बीच का प्रदेश, पृथ्वी का सबसे पवित्र स्थान माना जाता था, उसके लिये भी कहा गया है कि 'तीर्थयात्रा के लिये वहाँ दिन में ही जाना चाहिए और रात्रि में न ठहर कर उसी दिन वापस चले आना चाहिए। यह बात कुरुक्षेत्र की यात्रा के सम्बन्ध में कही गई है और उसकी भी संगति यही है।

मद्रक यवनों के विषय में ये किंवदन्तियाँ चलते-चलते ही गाथाओं के रूप में लोक में फैल गई थीं, यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। लगभग एक जैसा वर्णन कुछ हेरफेर से १० या ११ बार दुहराया गया है और उसका ढंग यही है कि एक किसी ब्राह्मण ने ऐसा कहा था, किसी दूसरे ब्राह्मण ने ऐसा कहा था।

मैंने धृतराष्ट्र की सभा में ऐसा सुना था, इत्यादि। इन वर्णनों की तालिका इस प्रकार है :—

१. "मद्र देश कुदेश या पाप का देश है। वहाँ की स्त्रियाँ, बालक, बूढ़े और तरुण प्रायः खेल में मस्त रहते हैं और वे इन गाथाओं को ऐसे गाते हैं, मानो अध्ययन कर रहे हों। मद्रक दुरात्मा हैं। उनकी इस तरह की गाथाओं को, जैसा पहले ब्राह्मणों ने राज-सभा में सुनाया था, वे इस प्रकार हैं। मद्रक बड़ा मित्र-द्रोही होता है। जो हमारे साथ नित्य शत्रुता का व्यवहार करता है, वही मद्रक है। मद्रक के साथ कभी दोस्ती नहीं हो सकती, क्योंकि वह झूठा, कुटिल और दुरात्मा होता है। दुष्टता की जितनी हद है, वह सब मद्रकों में समझो। उनकी विचित्र प्रथा है कि माँ, बाप, बेटे, बेटी, सास और ससुर, भाई, जमाई, पोते और धेवते, मित्र, अतिथि, दास, दासी, जान-पहिचान के और अनजान स्त्री और पुरुष सब एक दूसरे के साथ मिलकर संगत करते हैं। वे शिष्ट व्यक्तियों के घर में इकट्ठे होकर सत्तू की पिण्डियाँ और उसका घोल पीते हैं और गोमांस के साथ शराब पीकर हँसते और चिल्लाते हैं एवं कामवश होकर स्वेच्छाचार बरतते हैं। उनकी काम से भरी बातें सुनकर जान पड़ता है कि उनमें धर्म का सर्वथा लोप हो गया है। मद्रक के साथ न वैर और न मैत्री करनी चाहिए। वह अत्यन्त चपल होता है। उसमें शौच का भाव नहीं, उसे स्पर्श और अस्पर्श का ज्ञान भी नहीं होता। बिच्छू जैसे विष बुझा डंक मारता है, वैसे ही मद्रक का मेल है। उनकी स्त्रियाँ शराब के नशे में बुत्त होकर कपड़े फेंककर नाचती हैं। यहाँ तक की असंयत कामाचार से भी नहीं चूकती हैं। हे मद्रक, तू उन्हीं का बेटा है, तू धर्म क्या जाने? जैसे ऊँटनी खड़ी होकर मूतती है, वैसे ही उनकी स्त्रियाँ भी। वहाँ काँजी (सुमिरक) पीने का बेहद रिवाज है। काँजी की शौकीन स्त्री कहती है कि मैं पुत्र दे दूंगी पर कोई मुझसे काँजी न माँगे। वहाँ की स्त्रियाँ लम्बे-चौड़े शरीर वाली, ऊनी वस्त्र पहिनने वाली, डटकर भोजन करने वाली, निर्लज्ज और अपवित्र होती हैं, ऐसा मैंने सुना है। उनके विषय में और भी कुछ कहा जा सकता है। मद्रक धर्म को क्या जानें? वे पापी देश में उत्पन्न हुए म्लेच्छ हैं। हे मद्रराज, फिर यदि तुमने कुछ कहा तो मैं गदा से तुम्हारा सिर तोड़ दूंगा।"

कर्ण के उत्तर में शल्य ने कौवे और हंस की एक कहानी सुनाई, जिसमें कौवा कुजात होकर भी अपनी बड़ाई हाँकता है। अन्त में वह अपनी उड़ान के करतब दिखाता हुआ समुद्र में डूबने लगा तो उसके माफी माँगने पर हंस ने उसे उठाकर किनारे पर रख दिया। इसके उत्तर में अध्याय २९ में कर्ण ने पहले तो सच्चे मित्र के विषय में कुछ सुन्दर श्लोक सुनाये, किन्तु इतना अंश यहाँ स्पष्ट

जोड़ा गया है और तीसवें अध्याय का मेल पूर्व के २७वें अध्याय से मिल जाता है।"

('भारत-सावित्री' भाग २ से)

: ८ :

"धनुर्मह एक विशेष प्रकार के उत्सव का आयोजन था, जिसमें योद्धा या वीर लोग धनुष के आरोपण द्वारा अपने बल की परीक्षा देते थे। इतिहास के धुँधले युग में आदिमवासी जातियों में इस प्रकार के बलकौशल की प्रथा का अनुमान किया जा सकता है। शारीरिक बल का अभ्यास करने वाली अन्य जातियों में भी इस प्रकार की प्रथा होगी। मथुरा के यादवों में भी इस प्रकार के धनुर्मह की प्रथा थी। कंस ने अक्रूर द्वारा कृष्ण को मथुरा बुलाने की जो योजना बनाई उसमें यही कहा—"हे अक्रूर, तुम व्रज में जाकर व्रजवासियों से कहो कि राजा ने आनन्द के अवसर पर धनुर्मख का आयोजन किया है और उसमें कृष्ण-बलराम को बुलाया है" (राजा धनुर्मखं नाम कारयिष्यति वै सुखी।—हरिवंश २/२२/९१)। अक्रूर ने नन्द गोप के घर जाकर गोपवृद्धों की सन्निधि में कृष्ण और बलराम से यही कहा—"हे तात, व्रज के सब गोपाल कल वार्षिक कर लेकर मथुरा जाएँगे। कंस की ऐसी ही आज्ञा है। वहाँ कंस ने बड़े ठाठबाट से 'धनुर्मह' का आयोजन कराया है। तुम स्वजनों के साथ चल कर उसे देखो" (समृद्धस्तत्र कंसस्य भविष्यति धनुर्महः। तं द्रक्ष्यथ समृद्धं च स्वजनैश्च समेष्यथ॥ हरिवंश २/२६/४)। वस्तुतः धनुर्मह नामक उत्सव का शिवपूजा के साथ सम्बन्ध था। प्राचीनकाल में शिव देवता की सार्वजनिक पूजा के साथ ही धनुर्मह का आयोजन किया जाता था। आगे कहा गया है कि कंस ने मथुरा में पिनाकी शिव को लक्ष्य करके महोत्सव की योजना की थी (कस्यचित् त्वथ कालस्य मथुरायां महोत्सवम्। पिनाकिनं समुद्दिश्य चक्रे कंसो नराधिपः॥ हरिवंश २/१०१/६४)। प्राचीनकाल के इस प्रकार के महोत्सवों को 'समाज' भी कहते थे। जिस स्थान पर 'समाज' उत्सव किया जाता था, वह रंग या रंगवाट कहा जाता था। उस रंगवाट की भूमि में पौर जानपद जन के बैठने के लिए सहस्रों मञ्चातिमञ्च बनाए जाते थे। एक ओर राजा के बैठने के लिये ऊँचा विमानाकृति मञ्च बनाया जाता था, जिसे विमान कहते थे (हरिवंश २/१०१/५४-५८)। समाज के अवसर पर अनेक प्रकार

के विनोदों का आयोजन किया जाता था। नाच, गान, मल्लप्रदर्शन तथा प्रेक्षण या तमाशे समाज के अवसर पर होते थे (तत्र मल्लाः समाजग्मुर्नानादेश्या विशांपते। नर्तना गायनाश्चैव कुशला नृत्यकर्मसु ॥ हरिवंश २/१०१/५५)। कंस के समाज महोत्सव में ये सब आमोद-प्रमोद थे, किन्तु उसमें मुख्य 'धनुर्मह' ही था। समाज के अवसर पर जनता की आमोदप्रवृत्ति उच्छृङ्खल भी हो जाती थी। उसमें मधु-पान और मांसभोजन तथा पशुयुद्ध और वेश्याओं के नृत्य आदि के कारण समाज का स्तर गिर गया। इसका प्रमाण अशोक के उस लेख से मिलता है, जिसमें उसने समाज को निन्दनीय बताकर समाज न करने का आदेश दिया है—

नो पि चा समाजे कटविये बहुका हि दोसा समाजसा देवानं पिये पियदसी लाजा दखति। अथि पि चा एकतिया समाज साधुमता देवानं पियसा पियदसिसा लाजिने। (कालसी का प्रथम शिलालेख)

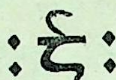
अशोक के समय में दो प्रकार के समाज थे। एक में वहुत से दोष या बुराइयाँ थीं, दूसरे 'साधु' या निर्दोष रीति से मनबहलाव करने वाले समाज थे। समाज शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में पहले काफी मतभेद रहा। भंडारकर ने महाभारत, हरिवंश और बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि साधु समाजों में नृत्य-गान और खेल-कूद होते थे, जब कि दूसरे प्रकार के समाजों में हिंसा का भी समावेश था (इण्डियन ऐंटिक्वेरी, १९१३, पृष्ठ २५५)। टामस के मतानुसार समाज एक प्रकार का अखाड़ा या रंगवाट था, जिसमें पशुओं के द्वन्द्व-युद्ध का प्रदर्शन किया जाता था (रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, १९१४, पृ० ३९२)। श्री ननिगोपाल मजूमदार के अनुसार समाज में केवल प्रेक्षणक या नाटक का प्रदर्शन होता था। कामसूत्र और जातकों में समाज की यही विशेषता पाई जाती है (इण्डियन ऐंटीक्वेरी, १९१८, पृ० २२१)। वस्तुतः समाज नामक उत्सवों के विषय में ये सभी मत समीचीन हैं। समाज का क्षेत्र बहुत व्यापक था और उसमें ये सब बातें सम्मिलित थीं। किसी भी मनोविनोद के साधन या धार्मिक पूजा-उत्सव को कारण बनाकर समाज का आयोजन किया जा सकता था।

कंस ने जिस समाज का निमन्त्रण भेजा था, उसे उसने धनुर्मह कहलाया। शिव की पूजा उसका उद्देश्य था। ज्ञात होता है कि समाज-उत्सव की प्रतिष्ठा के समय शिव देवता की पूजा प्रधान रूप से की जाती थी। शिव-पूजा से गहरा सम्बन्ध रखनेवाला उनके धनुष का उत्सव था। धनुष-बाण से युद्ध करने वाली जातियाँ उस अस्त्र को अत्यन्त पवित्र मानती थीं। उनका विश्वास था कि धनुष किसी महान् देवता का प्रसाद है, जो उस जाति के पूर्वजों को प्राप्त हुआ

था। राजघराने में परम्परा से उस धनुष की रक्षा की जाती थी। कंस के धनुष को दिव्य कहा गया है (द्रष्टुं धनुर्महं दिव्यं राष्ट्र चैव महर्धिमत्। हरिवंश २/२७/३२)। आकार में वह धनुष औरों की अपेक्षा बहुत बड़ा होता था। हरिवंश में उसे स्तम्भ के समान और महत् कहा गया है (२/२७/४४)। उसे राजकीय आयुधागार के समीप ही विशेष स्थान में रखा गया था, जिसे धनुर्गृह या धनुःशाला कहा है (२/२७/४१,५१,५४)। उसकी रक्षा के लिये धनुःपाल नामक रखवाले नियुक्त रहते थे। कंस के धनुर्मह में यह अवसर ही न आया कि कृष्ण-बलराम सार्वजनिक प्रदर्शन में उसे झुकाते या चढ़ाते। समाज से एक दिन पहले ही धनुःशाला में पहुँचकर उन्होंने उसे ऐसे तोड़ डाला, जैसे हाथी गन्ने को तोड़ डालता है (२/२७/६१)। जैसे ही कंस को समाचार मिला, उसने अगले दिन के लिये नियत वास्तविक समाजविधि करने की आज्ञा दी और तब उसमें मुष्टिक, चाणूर के साथ कृष्ण-बलराम के मल्लयुद्ध का प्रदर्शन हुआ।

कृष्ण के साथ सम्बन्धित धनुर्मह की इस कथा के सूत्र रामायण में भी मिलते हैं। सीता-स्वयंवर के समय जनक ने जो धनुर्यज्ञ किया था, वह भी वस्तुतः 'धनुर्मह' नामक उत्सव ही था। वह धनुषरत्न जनक के पूर्वजों को मख में देवताओं से मिला था (तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि दैवतैः। अप्रमेयबलं घोरं मखे परम भास्वरम्॥ बालकांड ३१/८)। उस अद्‌भुत धनुष का आरोपण ही मुख्य पराक्रम था। देव, गन्धर्व, असुर, यक्ष, किन्नर, महोरग, राक्षस—इनमें से कोई भी उस धनुष का आरोपण न कर सका (बाल० ३१/९, ६७/९)। वह देवदेव शिव का धनुष था (६६/८ शैवं धनुः ; ६६/१२)। जब दक्ष के यज्ञ में देवों ने शिव को भाग नहीं दिया, तब क्रुद्ध होकर शिव ने जिस अस्त्र से देवों का गर्व चूर्ण किया, वह यही शैवधनु था (६६/१०)। रामायण में भी उसे 'दिव्यधनु' कहा गया है (६७/१४)। यह धनुष मिथिला के राजाओं के घर में वंशपरम्परा से चला आता था। धूप-दीप-गंध से उसकी पूजा होती थी। वह 'आयागभूत' था। इसका तात्पर्य यही है कि उसके द्वारा 'धनुर्यज्ञ' का आयोजन किया जाता था। राम ने उस धनुष को खींचकर चढ़ा दिया और अपने इस पराक्रम से वह वीर्यशुल्का राजकन्या सीता को वरने के अधिकारी हुए। सम्भव है, अति प्राचीन प्रथा में धनुर्मह के साथ किसी सुन्दरी कन्या के वरण की भी रीति रही हो। द्रौपदी के स्वयम्वर में भी धनुष चढ़ाकर लक्ष्यविशेष का वेध करके कन्या प्राप्त करने की ही बात मुख्य है। इन तीनों के मूल में धनुर्मह नामक प्राचीन उत्सव की परम्परा ही लक्षित होती है।"

('प्राचीन भारतीय लोकधर्म' का 'धनुर्मह' नामक लेख)



(*From* "INDIA AS KNOWN TO PANINI")

THE progress of civilisation brought with it certain amenities, such as furniture to make life easy and homes comfortable. Furniture was of two main classes, *viz. sayana*, for lying down and *asana*, for sitting, as mentioned by Panini (VI.2.151). The word *sayanasana* corresponds to Pali *senasana* which signified 'furniture.'

As examples of household furniture Panini mentions *sayya*, bed (III.3.99) ; *khatva*, cot (II.1.126) ; *paryanka* or *palyanka*, couch (VIII.2.22) ; *asandi*,+ settee or royal throne (VIII.2.12) ; *vishtara*, an ordinary seat (*asana*, VIII.3.93) ; and *parpa* a wheeled-chair for disabled person (IV.4.10). One using a *parpa* was called *parpika*, evidently same as *pitshaarpi* of the *Vajasaneyi Samhita* (XXX.24), Manu (VIII.394) and the *Jatakas*.

UTENSILS—Of these Panini mentions (1) *patra*, a vessel (VIII.3.46) ; *kumbha*, a big jar (VIII.3.46) ; (3) *kamsa*, a pot or vessel of bell-metal (cf. *Vedic Index*, I.130) which owing to its fragility attracted the attention of the Greeks as breaking, if it fell like earthenware (cf. *Nearchus*, Frag. 7, *Strabo*, XV) ; (4) *kundi*, a bowl in different sizes of stone or wood (IV.1,42 ; also called *amatra* by Panini) ; (5) *sthali*, a cooking pot (V.1.70), from which was derived the phrase *sthalibiliya*, applied to a dainty article of food ; (6) *ukha* frying-pan (IV.2.17), a Vedic term (*Vedic Index*, 1.83) ; (7) *kalasi*, a small pitcher or vessel (IV.3.56) ; (8) *kapala*, *sarava*, earthen pots (VI 2.29) and pots of different shapes for holding water (*udak-purayitavya*, VI.3.59), all coming under the term *kaulalaka*, pottery (IV.3.118), on account their being made by a *kulala* or potter. Pottery has from time immemorial played an important role in the domestic economy of

---

+ *Asandi* (settee) is an old Vedic word. Panini uses *Asandivat*, which was also the name of the royal city of Janamejaya (*Vedic Index*, I.72), so called because of its 'possessing the throne.' The *Kasika* equates Asandivat with Ahisthala (VIII.1.12).

India, specially at communal feasts. Indian pottery with its long history reaching back to the age of Mohenjodaro reveals a surprising range of shapes, sizes and designs—worthy of illustration in a Corpus. At one end of this series stands the giant *kusula* (VI.2.102) and at the other the tiny *sarava*, or bowl (VI.2.29).

Other household articles included the winnowing basket (*surpa*, V.1.26), the churning stick (*mantha*, also called *vaisakha*, V.1.110)+ and spits for roasting meat (*sula*, IV.2.17).

CONTAINERS—Panini refers to leathern containers of big and small sizes called *kutu* and *kutupa* respectively (V.3.89), used for storing oil and ghee (*charmamayam snehabhajanam, Kasika*); to *udanka*, oil-flasks (III.3.123), the opposite of which was *udanchana*, a big leathern bucket for lifting well-water ; and to *driti* (IV.3.56) and *bhastra* (IV.4.36). *Driti*, a leather bag for holding fluids is frequently mentioned in the Vedic literature. Panini derives *darteya* to denote that which was filled in a leather bag (*tatra bhavah*, IV.3.53). We learn from the *Panchavimsa Brahmana* that milk (*kshira*) and liquor (*sura*) were kept in *dritis*†. At present it is generally used to hold water. In Panini's time *dritis*, leather bags, were transported on the back of animals which were therefore marked out as *dritihari* (III.2.25). This device of transporting liquids was preferred in mountainous regions where wheeled traffic was difficult.

BHASTRA(IV.4.16)-In the *Satapatha Brahmana*(1.1.27; 6.3.16) *bhastra* denotes a leathern pouch. Panini derives *bhastrika* in the particular sense of one who *conveys* with a *bhastra* (IV.4.16). The *bhastrikas* seem to have formed a special class of carriers engaged in river-transport by means of skin bags. The use of *bhastra* extended to the north-west where the people used its variant form as *bhastraka*, instead of *bhastrika* (VII.3.47).

Goni is mentioned as a container or sack (*avapana*)made from *gona* (IV.1.42), obviously a cloth. It is unknown in the Vedic

---

+ *Vaisakha* as a synonym of *mantha* still persists in the Hindi word *baisakhi* denoting the crutches of a lame person which exactly resemble an upturned churning stick.

† *Sura-dritina upavasatham dhavayati*, *P. Br.* XIV.11.26 ; *Sa-kshiradritayo ratha bhavanti*, *P. Br.* XVI.13.13.

literature, but occurs in the *Brahmajala Sutta* XV as *gonaka*, explained as a woollen cloth made from the hair of long-haired goats. It was probably the same as *kaunakes*, one-piece loin cloth worn by the early Sumerians and the Accadians, and made of suspended loops of wool hanging from a woollen skirt (Marshall, *Indus Valley Civ.*, I.33, 342 ; pl 95, fig. 10). The word seems to have travelled to India through commerce in pre-Paninian times.

We are enabled to make some idea of the use of *goni*, as it is still known by its old name (cf. Hindi *gaun* or *goni*) and used to carry grain, salt etc. on pack animals. Panini knows of *goni* in two sizes, bigger, which was also the standard size, called *goni* itself, and smaller *gonitari*. The former was naturally used to load on mules and asses and the latter on goats and sheep. The standard one also served as an article useful for barter, as shown by the *Kasika* on the *sutra Id-gonyah* (I.2.50) mentioning a piece of cloth purchased for 5 or 10 *gonis (panchabhih gonibhih kritah patah pancha-gonih ; dasagonih)*.

VIVADHA (IV.4.17), (VI.3.60)+—This was a device to carry loads suspended from the ends of a pole by professional carriers, and is still in use. Drinking water from the village well was carried in this manner by persons called *udaka-hara* and *udahara* (VI.3.60, modern *kahar*). The *vivadha* hung from their shoulders containing pitchers full of water was called *udaka-vivadha* or *udavivadha* (VI.3.60). *Kautilya* uses *vivadha* in the technical sense of supply or transport (*Arth*. XII.4, p. 388 ; Trans. p. 417).

STORAGE—Panini refers to several forms of storage vessels in *sutra*, VI.2.102, for example (1) *kusula*, a large cylindrical vessel for storage of grain, made of earth and rising to more than a man's height with a capacity to hold 15 to 20 maunds ; (2) *kumbha*, a big earthen jar with a narrow mouth ; (3) *kupa*, a form of storage resembling a well and consisting of earthen rings arranged one above the other ; and (4) *sala*, a masonry structure or store-room specially built for the purpose. The opening near their bottom for taking out corn was called *bila*.

+ Both long and short forms are used by Panini himself, and hence Patanjali reads the long form *vivadha* also in *sutra*, IV.4.17. Another equivalent of *vivadha* was *vihangika* (*bahagi* in Hindi).

:१०:

(*From* "VISION IN LONG DARKNESS")

MANTRA 34

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥

—ऋ० १।१६४।३४ ।

I ask about the Earth's farthest limit. I ask about the centre of the universe. I ask about the Stallions' prolific Seed. I ask about the highest Heaven of Vak ÷

Mantras 34 and 35 are in the style of questions and answers a true *Brahmodyam*. There are four questions in Mantra 34 to which specific answers are propounded in Mantra 35.

The first question relates to farthest extent of the Earth. The answer is that the altar of the sacrifice is the farthest limit of Earth's extension.

The second question is about the centre *(nabhi)* of the universe. The answer is that the sacrifice is the centre of the universe.

The third question is about the seed of the Stallion Horse. The answer is that Soma is that Seed which fecundates the Mare or the principle of Motherhood.

The fourth question is about the highest Heaven or Empyrean of Speech, *Vak*. The answer is that *Brahma*, the Source of Vedic *Vak* is that highest heaven.

÷ *Griffith*–I ask thee of the earth's extremest limit; where is the centre of the world, I ask thee.

I ask thee of the Stallion's seed prolific, I ask of highest heaven where Speech abideth.

Wilson—I ask thee (Institutor of the rite), what is the uttermost end of the earth : I ask thee, where is the navel of the world. I ask thee, what is the fecundating power of the rain-shedding steed : I ask thee, what is the supreme heaven of (holy) speech.

These four questions and answers are framed in terms of a number of Vedic symbols like *Vedi*, *Paramanta*, *Bhuvana*, *Nabhi*, *Vrisha Asva*, *Retas*, *Vak*, *Parama Vyoma*. *Yajna*, *Soma* and *Brahma*. A correct appraisal of their meaning gives the secret of the Mantra.

Prithivi as we have explained above is the Mother. The Rishi is asking about the profundity of the Mother-principle as said in the Mbh (*Mata gurutara bhumeh;* Aranyaka-parva, 297-41 ; Mother is greater than the Earth). If we think in terms of spatial extension of the earth, the simple arithmetical answer may be given that the End of the Earth is its diameter of 8,000 miles and circumference of 25,000 miles, as modern science has ascertained, but that truly is a leading answer that takes us to the real symbolical significance of *Prithivi* and *Mata*. *Mata* is literally one who measures and the question is as to what is her measure. She is *Prama*, the Archetypal Rod, the gauging Yard which is measuring all creatures and the cosmos. Therefore the question which naturally arises is as to the measure of the Measurer; the answer is germane to the whole argument underlying the doctrine of Father-Mother, or *Dyava Prithivi*. In simple words it is stated that the altar of the *Yajna* is the deepest measure or the farthest limit of *Prithivi*. The *Vedi* is the same as *Yoni* or *Mata* which produces the child, that is *Agni* or *Kumara*. Now there are no limits to the complex nature of manifested forces of both Spirit and Matter that incarnate in the form of the Babe. As we have said several times earlier, Agni is *Vak* and *Vak* is matter or the *Pancha Bhutas* or the material body comprised of Life, Mind and Matter. All these three are infinite and therefore termed in the Veda as the Three Thousands, *Trisahasri*, explained as *Veda Sahasri* (principle of Mind), *Loka Sahasri* (principle of *Pranic* manifestation or *Rajas*), and *Vak Sahasri* (the infinite principle of Matter or the *Bhutas*). This threefold pattern of the world and of each individual and of Agni (*ekas tredha vihitah Jatavedah*, AV 18.3.11), is that of three infinities which enter into each individual manifestation of the Life-principle known as *Pranagni*. Therefore Agni is said to have had three Births and three Mothers. He

is truly a son of Three Mothers, a *Tryambaka* God. The three-Mothers ultimately are but different forms of the single Great Mother and she is Mahat, Viraj, Aditi, or Yoni or Vedi, all symbolised as *Prithivi*. The utmost extension of *Prithivi* in the symbolical sense is the same as that of *Prajapati* himself as stated in Rig Veda (*yavad Brahma vishthitam tavati Vak*, RV. 10.114.8).

This differentiation of the Father-principle in the form of triple *Vak* is unfolding itself in a thousandfold majesty (*sahasradha mahimanah sahasram,* RV. 10. 114.8). All the divine and earthly powers of the cosmos and of the Creator are in the Mother's Womb, whether it is the womb of a tiny mosquito or of the mighty elephant. No Babe or incarnation of Agni as *Kumara* can be produced unless all the energies that have their primeval source in *Prajapati*, combine into the embryonic processing of the Life-principle. Therefore, the implication is that there is no measure of Boundless Nature or of Mother's Womb. She is Infinity herself. The Altar of the *Yajna* visibly dimensional has its root in the heart *(hriddesa)*, which because of its being the seat of the Divinity is unfathomable in depth. Who can ever fully take soundings of the Mind which is the symbol of *Prajapati* himself. All the emotional depth with which the *Yajna* is performed becomes manifest in the *Vedi* in which the Fire is enkindled. The two seeds of the Father and the Mother which create the Babe fructify in the *Yoni* or the *Vedi*. Physically it may have a measure but on the plane of Mind and Life, it is beyond measure,a true *Paramanta* or *Paravata*, the extremest point beyond which the diameter does not extend and which in Vedic terminology was known as *Ud-rich*.



(*From* "STUDIES IN INDIAN ART")

MATHURA RAILING PILLARS

The great school of Mathura sculpture representing one of the most illustrious periods of India's artistic achievement is dis-

tinguished by its production of a large number of railing pillars carved in high relief on the obverse generally in low relief on the reverse. In ancient times these pillars formed part of stone enclosures erected round Buddhist and Jaina monuments. Each pillar had three mortices on the two sides in which cross-bars were fitted to join with other similar pillars. They were held in position by a basement below and they supported a coping stone at the top. The entire structure of the railing was pierced in the centre by four elaborate gateways each of which stood facing in one cardinal direction. The earliest specimens of mounmental railings and gateways have been discovered at Sanchi, Bharhut and Bodh Gaya. At Mathura with the advent of the *Kushana* period independent figure sculpture achieved important development, but still the railing continued for another two centuries as the principal medium of expression for the work of the artists.

Besides their superb excellence for aesthetic beauty the railing pillars stand out as interesting documents for the study of human life in its social and cultural spheres as lived in those days. Here one can see preserved in stone sketches of contemporary life showing men and women engaged in their favourite sports and pastimes, dance and music which reveal their joyous outlook on life and testify to their faith in a creed of freedom and sunshine. It is also pleasing to notice on these pillars some of the familiar scenes with which our classical poets have acquainted us in a variety of most beautiful descriptions.

The following scenes may be recognised to be of unusual interest, and their portrayal in places where religious things as a matter of course should have predominated, points to the great hold which themes of this nature enjoyed on the lives of the people. In fact, it may be said to the credit of India's creative genius that her great thinkers took a balanced view of life and evolved a frame-work in which the material and positive sides of life were harmonised with its spiritual and religious ideals. India has, therefore, boldly stood for assigning an honourable place to paintings and sculptures as well as to dance and music in her gigantic experiments of religion as unfolded in her long creative tradition through the ages. Religion is viewed not as a negation of life,

but as a potent factor which by its magic touch ennobles all that which life stands for. This synthesis demonstrates itself in the extraordinary interest which religious art shows for the contents of womanly life, marked by a genuine attempt to probe deeper into her mystery and present her as the mother and sustainer of creation. It is apparent from the study of the scenes on Mathura railing pillars that the artists do not approach their delicate subject in a light-hearted manner; they evince a respect which does not permit works of art to be degraded into scenes of mere sensuous narration.

The scenes which are interpreted here are carved on pillars which although originating from Mathura, have got distributed over three different museums, *viz.*, those at Lucknow and Calcutta besides the local museum at Mathura. This awkward arrangement is a serious handicap to the pillars being viewed as a unit for realising the full effect of their artistic perfection, and also hinders a comparative study on the basis of the entire material easily accessible in one place. We now proceed to describe the more important of the pillars :—

1. *Asoka-dohada*, —Pregnancy or desire of the *Asoka* tree. This scene is carved on railing pillar J.55 in the Mathura museum, sculptured with a graceful female figure wearing a bead girdle and standing under an *Asoka* tree of which she clasps a branch with her left hand, and leans with her back against its trunk. With her left foot she touches the *Asoka*, thus illustrating the poetic description expressed in the Meghaduta as *Vama-padabhilashi Asokah*. The most eloquent description of this theme is found in the drama of Kalidasa treating of the love of Malavika and Agnimitra. Acccording to an old solka quoted by the commentator Mallinatha, it is said that the Asoka tree longed to kiss the left foot of a beautiful maiden before its time of efflorescence. Although literary tradition is uniform in the matter that only the left foot was employed for this purpose, there is another railing pillar in the Mathura museum, No. 2345, in which the woman touches the tree with her right foot. Surely the poetic fancy behind this scene seems to have had strong hold in the cultural life of Kushana and Gupta periods. Recently Dr. J. Hackin has dis-

covered from the site of Begram (ancient Kapisa), about 40 miles north of Kabul, a carved ivory plaque illustrating the scene of *Asoka-dohada*, in which the figure of the maiden with her peculiar spiral chignon is greatly similar to the figure on the Mathura railing pillar.

2. *Sadyah-snata*,—Woman after bath. This scene carved on pillar No. 1509 in the Mathura museum depicts a short petti-coat and wringing out water from her wet locks after bath (*kesa-nistoya-karini*) ; a swan is shown receiving the drops in its beak. This idea has found favourite repetition in classical Hindi poetry and continued as a motif in Indian art right upto the 19th century. It was fancied that Krisna himself incarnated as a *hamsa* to drink the drops of water from Radha's hair.

3. *Nirjhara-snana*,—Bath under a water-fall. This scene is carved on two pillars now preserved in the Lucknow museum. Of these J. 278 shows a female figure in three-quarters profile standing to right under a projecting precipice and receiving on her back a stream of water coming down in swift torrents.

4. *Asoka-pushpa-prachayika*,—Gathering of *Asoka* flowers. This scene is represented on pillar No J.55 and 2345 in the Mathura museum and B. 80 in the Lucknow museum. The woman stands on *Asoka* tree in full blossom and is gathering flowers with her right hand raised up in a basket held in left hand. She stands in a very graceful manner with her back towards the visitor and head and face shown in profile. The gathering of flowers was one of the most popular sports with women in ancient India. In such scenes the *Asoka* tree plays a prominent part, although *kadamba*, mango and other garden trees also must have formed part of floral amusements. *Pushpa-prachayika* and also *Pushpa-bhanjika* were the special names for such diversions which we find recorded even in the grammatical literature. For example, on Panini's sutra, *Pracham kridayam*, we find such illustrations as *Asoka-pushpa-prachayika, Uddalaka-pushpa-bhanjika*, etc. The lovely poetic expression *Sala-bhanjika* which we find both in Asvaghosha and in Bana's *Kadambari*, must have been derived originally from such sports in which the peculiarly graceful motif of a beautiful woman

standing with *tribhangi* curves of the body under a tree and clasping one of its branches, soon came to be recognised as the most delightful thing for the eye both in art and life.

5. *Madanotsava*—Dance of Love. On pillar No. B. 92 in the Lucknow museum we see a female figure dancing in one of her happy love ecstasies. A parrot who is the vehicle of the god of love, *Kamadeva*, has conveyed to her message of love, thus initiating the youthful maiden into the consciousness of a new world. Like the princess in the fable she wakes up after a long spell of maidenly innocence, and the intense activity of her heart bursts forth into rhythmic dance. The bird is perched on her girdle and is shown to be nibbling at the central binding knot. The whole idea is most delicately and beautifully executed.

6. *Suka-krida*—Diversion with a parrot. This is a very common scene represented on Mathura railing pillar. Generally the parrot rests on the left hand or shoulder of the woman who tempts it with a fruit held in right hand. On a well known specimen now in the Indian Museum the woman is actually holding a cage in right while the parrot sits on the left arm as if whispering into her ear (Dr. Vogel, *La Sculpture de Mathura*, Pl. XIXA).

7. *Khadgabhinaya*—Dance of the sword. On railing pillar No. 152 in the Mathura museum found from Bhuteshwar we find a female figure standing in a dance posture holding a sword in her left hand. The obvious meaning of such a motif is the demonstration of sword-dance. On a pillar in the Lucknow museum No. J.275, the same scene is repeated, the woman being shown standing under a *kadamba* tree.

8. *Nartaki*—Court Danseuse. Pillar B. 75 in the Lucknow museum illustrates a very typical dance pose common in court dances which have survived to this day, and in which the dancer with great rapidity of movement doubles her legs at the knees and rests her body on the ground.

9. *Gopa-yoshit*—A female *Gopi*. On railing pillar B. 86 in the Lucknow museum we have the representation of a woman wearing a rustic petti-coat (*lehnga*) and a scarf (*orhni*) falling back

from the head, and carrying a big pitcher on her head. Her features and the well-built limbs make her out to be a village woman lacking in the finer graces of city life. She should be identified as a *gopi* or a typical country-woman in the land of Braja, where powerful living traditions about her have survived both in religion and in literature in relation to the legend of the divine cow-herd *Krishna*. The conception of *gopis* certainly goes back to the Kushana period. The *Buddhacharita* of Asvaghosha refers to gopa-women and their dalliances (IV. 14). In the famous Tamil classic *Silappadhikaram* (Epic of the Anklet) which is one of the five great Mahakavyas of Tamil literature and is definitely assigned to the 2nd century A. D., there is distinct reference to a cow-herd *Krishna* and his dance with the *gopis*. (English translation by V. R. R. Dikshitar, Canto XVII, p. 228.)

10. *Prasadhika*—Toilet-attendant. The scenes of *prasadhana* are common enough on Mathura railing pillars. We find separate pillars devoted to the *Nayika* or the Queen herself looking in a mirror doing her coiffure or applying toilet paste, and also to her attendants carrying the *sringarapetika* (toilet-basket) in one hand and a jug of water in the other. The specimen in the Bharat Kala Bhavan is in perfect state of preservation (Vogel, *La Sculpture de Mathura*, Pl. L. also Plate XVIII E).

11. *Kanduka-krida*,—Playing with the ball. This scene is represented on railing pillar No. I. 61 in the Mathura museum. Kalidasa has referred to Parvati's *kanduka-krida* in the *Kumarasambhava* (I.29) and it appears that playing with balls was favourite sport of girls in ancient India.

12. *Vamsi-vina-vadini*,—Woman playing the flute and the harp. The flute has special association in the history of music at Mathura, and it is therefore gratifying to find several fragments of railing pillar on which women playing the flute are shown. The harp or the *saptatantri vina* is common not only at Mathura but at almost all other centres of ancient Indian art, and its representation at Mathura also is fairly common both in stone and clay.

The number of railing pillars is pretty large, and other miscellaneous scenes may also be gathered. For example, we have the representation of a mother amusing her child with a rattle (I. 16), or women adorning themselves with heavy garlands or with a conspicuous necklace and still others characterised by a sensuous appeal displaying erotic charms of various descriptions.

:१२:

(*From* "VAMANA PURANA—A STUDY")

CH. 13 presents an account of *Jambu Dvipa*, but in reference to a new geographical argument of 9 continents (Nava Varsha), viz. one in the centre named *Ilavrita* and 8 in the cardinal and intermediate directions as follows :—

1. East — *Bhadrasva*
2. South-east — *Hiranyaman*
3. South — *Bharatavarsha*
4. South-west — *Harivarsha*
5. West — *Ketumala*
6. North-west — *Champakavarsha*
7. North — K*uru*
8. North-east — *Kimpurusha*

Here we find a strange admixture of the original *Chaturdvipi-Bhugola* and the later *Saptadvipi-Bhugola*, fused into a new scheme of 9 continents. One may clearly recognise the ancient four continents in the four directions of *Sumeru*, viz. *Bhadrasva, Bharatavarsha, Ketumala* and *Uttarakuru*. Amongst the rest are some names from the seven continents and some new ones like Champaka.

Nine divisions of *Bharatavarsha*—Here begins the geography of *Bharatavarsha* proper. In the original geography of 4 continents (*Chaturdala Bhu-padma*), *Bharatavarsha* was the continent in the southern direction. Later, in the second stage,

it is changed to one of the seven Varshas of *Jambu Dvipa* and placed at its southern-most point and described also as Haimavata Varsha, since the region was marked off from the others by the *Himalaya* mountain. In the third stage the connotation of the geographical term *Bharata* underwent a significant change. It happened during the Gupta period. The name *Bharata* was then the designation not only of India proper but it also included the islands of the Indian ocean, like Ceylon, Andamans, Nikobar, Java, Bali, and Sumatra. These were reckoned as the 9 divisions of *Bharatavarsha*, separated from each other by the sea and, therefore, inaccessible by land route :—

यदेतद् भारतं वर्षं नवद्वीपं निशाचर ।
सागरांतरिताः सर्वे अगम्याश्च परस्परम् ।
इन्द्रद्वीपः कशेरूणास्ताम्रपर्णो गभस्तिमान्,
नागद्वीपः कटाहश्च सिंहलो वारुणस्तथा ।
अयन्तु नवमस्तेषां द्वीपः सागर संवृतः,
कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोयं दक्षिणोत्तरः ।
(Vn.13.8-11)

The above is an important list mentioning the names of the oceanic islands, designated as *Dvipantara* in the Golden Age of Indian History, which constituted virtually the cultural centre of Indian civilization. In their religion, art, language, script and philosophy, they were united with the homeland of *Bharata* by cultural bonds and for all practical purposes this region of Greater India formed an integral part of India's cultural unity, so that the name of *Bharata* denoted all of them, and therefore a name had to be found for the homeland proper. This new name was *Kumaradvipa* or *Kumaridvipa*. The writer, with his locus somewhere in *Bharatavarsha*, refers to it as *Ayam*, 'this' (अयन्तु नवमस्तेषाम्). *Rajasekhara* in the *Kavya-Mimamsa* explains this as *Kumaridvipa*, but the *Vamana Purana* states it as *Kumaradvipa*. Other *Puranas* also cite verses but they do not correctly indentify the ninth *Dvipa* and therefore it must be said to the credit of the author of the *Vamana Purana* that he is specifically clear in his geographical definitions and of the term

Bharata, In sloka 13.59 the name of *Kumaradvipa* is repeated as referring to *Bharata* proper. We have pointed out in our commentary on the Matsya Purana that this change of name from *Bharata* to *Kumaradvipa* or *Kumaridvipa* can still be traced in the present version of the *Sankalpa* :—

हरिॐ श्री ब्रह्मण: द्वितीयपरार्धे श्री श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारतवर्षे कुमारिकाखण्डे आर्यावर्तैकदेशे अविमुक्तवाराणसीक्षेत्रे आनन्दवने भागीरथ्या: पश्चिमे तीरे......

Here One may still see the two conceptions of *Jambudvipa-Bharatakhanda* and *Bharatavarsha-Kumarika-khanda* juxtaposed for the reason that in popular memory the older geographical reference of *Jambudvipa-Bharatavarsha* persisted, while *Bharatavarsha-Kumarika-khanda* was introduced after accepting the new geographical change.

The Skanda Purana, in its *Mahesvarakhanda*, *Kumarikahanda* maintains that a legendary region was meant by the name *Kumarika*. A certain king had eight sons and one daughter and distributed his kingdom in nine parts and gave one to each of them. The sister felt inclined to perform Tapas and as a sign of reuunciation gave away her share to her brothers. Since each had nine sons the brothers divided the kingdom into nine divisions and thus the whole kingdom came in the possession of 72 persons, each of whom owned one division. The names of these 72 parts together with the figures of their land revenue (*Gramasankhya*) is recorded in this portion of the Skanda Purana. The country was therefore named after the gracious Sister, *Kumari* or Virgin.

The list of the 8 Islands obtaining in the Vamana and other Puranas is as follows.

1. *Indradvipa*—Andaman (=Indradyumna)
2. *Kaseruka*=*Kaseruman*
3. *Tamraparna*—Ceylon (of the ancient world)
4. *Gabhastiman*
5. *Nagadvipa* (=*Nagnadvipa*)–Nicobar (same as Nakavaram of the Chola inscriptions)

6. *Kataha*—Kedah in Malaya Peninsula often referred to in story literature and known as *Katakachhadvipa* in the *Katha-sarit-sagara*.
7. *Simhala*—Ceylon. It shows that *Tamraparni* of this list should be identified with some other island.
8. *Varuna*—Borneo.

It is stated that on the north-east frontier of *Kumaradvipa* lived the *Kirata* tribes and on the north-west the Yavanas; the latter seems to be a historical reference to the Bactrian Greeks who were originally settled in Bactria in the 4th century B. C. but subsequently occupied *Gandhara* and the Kabul Valley.

Two more historical names are introduced in the account of the Vamana Purana, viz. *Andhras* in the south and *Turushkas* in the north. This is a grafting on the two ancient names, and certainly refers to the changed political conditions in about the first or second century A. D., when the *Andhra-Satavahana* empire stretched between the two oceans in the south and the Turushkas or the Tocharian *Sakas* ruled in the north at Peshawar. The author then takes up a geographical description of the mountains, rivers and Janapadas of *Bharatavarsha*, an old list found traditionally recorded in the other Puranas as well but in somewhat greater detail.

Kula-Parvatas—Three types of mountain-ranges are recognised : Kula Parvata, Varsha-Parvata and Vishkambha-Parvata. Kula-parvatas are the chain of hills within the four corners of the country as stated here. Varsha-Parvatas are those that divide and distinguish one Varsha or monsoon-system from the other. There are seven Varsha-Parvatas in *Jambudvipa* separating the seven Varshas. Other *Dvipas* are said to have their similar groups of seven Varsha-Parvatas. The Vishkambha or Maryada-Parvatas were four which demarcated the four continents on the four directions of the central Sumeru mountain. These names should be distinguished in order to evolve a clear geographical conception as expounded by the Puranas.

So far as the seven Kula-Parvatas of *Bharatavarsha* are concerned, the list is alike in all the Puranas, e. g. 1. Mahendra,

2. Malaya, 3. Sahya, 4. Suktiman (*Saktiman* in Vamana), 5. Riksha Parvata, 6. Vindhya and 7. Pariyatra. Mahendra is the mountain still known by this name in Ganjam district and identical with the Eastern Ghats. The chain is continued until it mingles with that in the south known as Malaya, which is broken into several parts each having its own name as Nalla-malai, Ela-malai, etc. Sahya is the well-known Western Ghat extending from north to south along the seacoast with the strip of land named *Konkana* (lying to its west, also called *Aparanta*). Suktiman is said to be the source of the *Suktimati* river and appears to be the northern extension towards the east of the Sahya mountain represented by the chain of Mahadeva hills and the Ajanta offshoot. The Riksha seems to be the Tableland of Gondwana. The Vindhya is well-known as extending upto Mirzapur. The Pariyatra should be identified with the Aravallis, lying north-south in Rajasthan. This completes the long chain of hills in the centre, south and west of the Deccan tableland. Besides these, there are some low hills in the eastern part of India and the Great Mountain Ranges System of the Himalayas towering over the entire land from Lohitya to ths Hindukush.

The Vamana, as also some other Puranas, speak of other scattered hills of secondary importance, as follows :—

1. Kolahala, 2. Vaibhraja, 3. Mandara, 4. Durdhara, 5. Vatadhuma, 6. Vaidyuta, 7. Mainaka, 8. Sarasa, 9. Tunga-prastha, 10 Naga, 11. Govardhana near Nasik, 12. Ujjayanta= Girinar or Raivataka mountain, 13. Pushpagiri, 14. Arbuda (Abu), 15. Raivata same as Ujjayanta, 16. Rishyamuka, 17. Gomanta (Goa), 18. Chitrakuta, 19. Kritasmara, 20. Sriparvata (=Sri Saila in Kurnool district) and 21. Kononaka, some of which cannot now be identified.

Rivers—Rivers are classified according to their sources.

1. Rivers rising from the Himalayas—*Sarasvati*, *Pancharupa*, *Kalindi*, *Hiranyavati*, *Satadru*, *Chandrika* (=*Chandra*), *Nila*, *Vitasta*, *Iravati*, *Kuhu* (*Kubha* Kabul river), *Madhura*, *Hararavi*, (probably the same as Harahvaiti in

Afghanistan, modern Arghadanb), *Usira*, *Dhataki*, *Arasa*, *Gomati*, *Dhutapapa*, *Bahuda*, *Drishadvati*, *Nihsvara* (probably *Nischira* or *Rapti*), *Gandaki*, *Chitra*, *Kausiki*, *Vadhusara* (a river in Kurukshetra), *Sarayu* and *Lohitya*.

The list is far from complete as some important rivers of Bengal, Bihar and Assam are not mentioned.

2. Rivers rising from Pariyatra—*Vedasmriti*, *Vedasini* (Vetasini of other texts), *Vritraghni*, *Sindhu* (*Kali Sindhu*), *Parnasa* (Banas river), *Nandini*, *Pavani*, *Mahi*, *Sara*, *Charmanvati* (Chambal), *Lupi*, *Venumati*, *Chitra*, and *Oghavati*.

3. Rivers rising from Riksha—*Sona*, *Mahanadi*, *Narmada*, *Surasa*, *Kriya*, *Mandakini*, *Dasarna*, *Chitrakuta*, *Devika*, *Chitrotpala*, *Tamasa* (Tons), *Karatoya*, *Pisachika*, *Pippala-sreni*, *Vipasa*, *Vanjulavati*, *Satsantaja*, *Suktimati*, *Chakrini*, *Tridiva* and *Vasu*.

4. Rivers rising from Vindhya--*Siva*, *Payosni*, *Nirvindhya*, *Tapi*, *Nishadhavati*, *Vena*, *Vaitarani*, *Sinibahu*, *Kumudvati*, *Toya*, *Reva*, *Maha-Gauri*, *Durgandha*, *Vasila*.

5. Rivers rising from Sahya—*Godavari*, *Bhimarathi*, *Krishna*, *Venya*, *Saridvati*, *Visamadri*, *Suprayoga*, *Vahya*, *Kaveri*, a tributary of *Narmada*, *Dugdhoda*, *Nalini*, *Varisena* and *Kalasvana*.

6. Rivers rising from Suktiman--*Kritamala Tamraparni*, *Vanjula*, *Utpalavati*, *Suni*, *Sudama*.

The above lists of rivers are not quite correctly classified, names of one set anamalously mixed up with those of another. The rivers shown under Suktiman in the Vamana in fact belong to the Malaya mountain. If that be the case the list of Suktiman and of Mahendra are missing and the text appears incomplete.

कुछ पत्र

[इनमें से कुछ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं
डॉ० भगवानदास जैसे महामनीषियों से उन्हें
प्राप्त हुए तथा अन्य प्रत्युत्तर में
स्वयं उन्होंने लिखे ।]

जब स्व० आचार्य द्विवेदी जी उनकी प्रतिभा पर रीझ उठे थे

श्री कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

जिन दिनों वासुदेवशरण जी लखनऊ-विश्वविद्यालय में एम०ए०के विद्यार्थी थे, तभी 'माधुरी' में 'अद्वैतवाद' पर उनका एक लेख प्रकाशित हुआ था। संयोग की बात थी कि वह लेख आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की निगाह में आया और वह उससे इतने अधिक प्रभावित हुए कि लेखक से सर्वथा अपरिचित होते हुए भी ऐसी उच्च कोटि की रचना प्रस्तुत करने के लिए साधुवाद दिए बिना वह नहीं रह सके! तब द्विवेदी जी अवकाश ग्रहण करके दौलतपुर गाँव में रहने लगे थे। वहीं से (यह नहीं जानते हुए कि वह अभी मात्र चौबीस वर्ष की आयु के एक तरुण विद्यार्थी थे) उन्होंने वासुदेवशरण को 'पंडितप्रवर' कहकर तथा 'प्रणाम' निवेदित करते हुए निम्न पत्र लिखा था :—

: १ :

दौलतपुर (रायबरेली)
१६–५–२८

पण्डितप्रवरेषु अग्रवालमहोदयेषु प्रणामा मे विलसन्तु—

वैशाख की 'माधुरी' में अद्वैतवाद पर आपका लेख पढ़कर परमानन्द हुआ। आप वेदान्त के पूरे पण्डित हैं। धन्योऽसि। उपाध्याय जी का लेख पढ़कर मेरे मन में जो क्षोभ उत्पन्न हुआ था उसे आपने दूर कर दिया। भगवान् आपका कल्याण करे!

प्रणत
महावीरप्रसाद द्विवेदी

इस संदेश को पाकर वासुदेवशरण जी ने द्विवेदी जी को जो पत्र लिखा था उसका उन्हें तुरन्त ही निम्न उत्तर उन महामनीषी से प्राप्त हुआ :—

: २ :

दौलतपुर (रायबरेली)
२८–५–२८

श्रीमत्सु सादरं निबेदनमिदम्—

२४ का पोस्टकार्ड मिला। आप उच्चात्मा और ज्ञानी हैं। आपको प्रणाम किया तो उचित ही हुआ। आत्मा को जाति, वर्ण, वय का सम्पर्क है नहीं, यह आप खुद ही जानते हैं।

आपका परिचय पाकर प्रसन्नता हुई। आप बड़े विद्याव्यसनी हैं। इसी वय में आपने बहुत कुछ ज्ञानसम्पादन कर लिया। आशा है, संसार में प्रवेश करने पर भी आपकी विद्याभ्यासङ्गवृत्ति ऐसी ही बनी रहेगी।

जी चाहे तो वेदान्त के मायावाद पर एक छोटा-सा लेख 'सरस्वती' को भेज दीजिएगा और लिख दीजिएगा कि मेरे कहने से आपने भेजा है।

ईश्वर आपको चिरंजीव करे।

कल्याणमस्तु सततं हरिभक्तिरस्तु—

शुभैषी
म० प्र० द्विवेदी

पत्र-व्यवहार का यह शुभ तारतम्य आगे भी जारी रहा, क्योंकि समयान्तर से आचार्य द्विवेदी जी से अग्रवाल जी को निम्न तीन पत्र प्राप्त हुए थे। इनमें १३–१२–३२ के पत्र को पाकर वासुदेवशरण एकदम विचलित हो उठे। उन्हें यह भ्रम हो गया कि कदाचित् द्विवेदी जी की आर्थिक दशा शोचनीय हो चली थी और इसी से उन्होंने ये शब्द लिखे थे कि "मेरी कौटुम्बिक दशा दयनीय है। परमात्मा से मेरी शुभचिन्तना कीजिए।" द्विवेदी जी के उक्त तीनों पत्र क्रमशः इस प्रकार से थे :—

: ३ :

कर्मशील प्रेस (कानपुर)
२३–११–२८

वेदान्तिवर,

आपको मेरे पास तक पहुँचना था। पहुँचते तो आपके दर्शन ही से मेरा बहुत कुछ कष्ट दूर हो जाता। मेरा दुर्भाग्य !

आपका प्रेमी
म० प्र० द्विवेदी

: ४ :

दौलतपुर (रायबरेली)
८-१२-३२

श्रीमत्सु सादरं निवेदनमिदम् ।

मथुरा की बौद्ध कला की कापी मिली। कृतज्ञ हुआ। ना० प्र० पत्रिका में इसे पढ़कर मैं अपनी ज्ञानवृद्धि पहले ही कर चुका हूँ।

आशा है, राधाकृष्ण जी के समय से भी अधिक उन्नति मथुरा का अजायबघर आपकी निगरानी में करेगा।

वेदान्त-विवेचना छोड़कर आप पुरातत्त्व की ग्रन्थियों को सुलझाने में लग गए, खूब हुआ!

निवेदयिता
म० प्र० द्विवेदी

: ५ :

दौलतपुर (रायबरेली)
१३-१२-३२

श्री वासुदेवं शरणं प्रपद्ये—

पोस्टकार्ड मिला। कृतज्ञ हुआ।

आपकी वर्धमान विद्वत्ता और कीर्तिकौमुदी को देख देखकर मैं खुश हुआ करता हूँ।

मेरा दिमाग ठीक नहीं। आँखें भी कम काम देती हैं। सोचने-विचारने की शक्ति अब मुझमें नहीं। कालिदास की मेघदूत विषयक पुस्तक जब निकले, मुझे एक कापी दीजिएगा। उसी से मैं सन्तोष लाभ करूँगा।

मेरी कौटुम्बिक दशा दयनीय है। परमात्मा से मेरी शुभचिन्तना कीजिए।

भावस्थ
म० प्र० द्विवेदी

उनके १३ दिसम्बर, १९३२ ई०, के इस पत्र से चौंककर उत्तर में वासुदेव जी ने द्विवेदीजी को जो पत्र लिखा था, वह (गोपनीयता के उद्देश्य से) हिन्दी के बजाय संस्कृत में लिखकर भेजा गया था। उस पत्र की एक प्रति उन्होंने मौके से अपने पास रख ली थी। उक्त संस्कृत-पत्र यहाँ दिया जा रहा है।

: ६ :

मथुरातः
२०–१२–३२

महावीरप्रसादाय द्विवेदिकुलजन्मने
श्रीविभूषिताय भूयात्सततं मे नमो नमः

श्रीमद्भिरतिशयमनुकम्पितोऽयं जनस्तादृशपत्रप्रेषणेन। आशासे आशु स शिवः भूयसीं कृपां विधास्यति। तत एव प्रेरिता अत्रत्याः साहित्यसेविनः एकनकुलीप्रदानेन भवन्तमनुकूलयितुमिच्छन्ति। प्रतापसम्पादकः श्रीहरिशंकराभिधानः मम मित्रेणास्मिन् विषये प्रबोधितः येन सः अन्यतोऽपि नकुलीं पुष्कलयितुं यतिष्यते। भगवत्कृपयायं प्रस्तावः हिन्दीभक्तेभ्यः भूयान् रोचिष्यते इत्यत्र नास्ति संदेहलवोऽपि मे मनसि। स्थान-स्थानतः नकुलीपुष्टयर्थं धनं संचेष्यते। सर्वमिदं निसर्गतः भविष्यति भवतां पत्रं तु मदृते न केनापि दृष्टं। तद्वर्णना च न केनापि ज्ञाता ऋते मम भार्यायाः, स्थानीयसुहृदेकाच्च। हिन्दीमपहाय संस्कृताश्रयणं क्षन्तव्यं गुह्याभिधेयेऽस्मिन्।+

भावस्थोऽयं जनः
वासुदेवाभिधानः

संस्कृत में लिखित वासुदेवशरण जी का उपर्युक्त पत्र पाकर आचार्य हक्का-बक्का से रह गए! उन्हें समझ में नहीं आया कि यह माजरा क्या है! अतः उन्होंने अग्रवाल जी को तत्काल एक पत्र भेजा, जो आगे दिया जा रहा है।

+अग्रवालजी द्वारा आचार्य द्विवेदी जी को संस्कृत में लिखित इस पत्र का भावार्थ संक्षेप में यह था कि वह तथा उनके मित्र मिलकर एक धनराशि की थैली उन्हें भेंट करना चाहते हैं तथा इस बारे में उनकी अनुमति की बाट जोह रहे हैं। इस सारी कार्यवाही को इतना अधिक गोपनीय रखा गया था कि वासुदेवजी ने आचार्य द्विवेदी जी विषयक इस प्रसंग की वास्तविकता की भनक किसी को भी नहीं पाने दी थी। यहाँ तक कि सिवा निज धर्मपत्नी तथा एक स्थानीय सुहृद मित्र को छोड़कर किसी को भी उक्त पत्र का पता तक नहीं था। उन्होंने अपना यह पत्र संस्कृत में जो लिखा था, उसका भी प्रयोजन एकमात्र यही था कि इस प्रसंग की गोपनीयता बनी रहे और उसकी बात किसी के भी कानों पर न पड़ने पाए।

: ७ :

भाई वासुदेव,

यह क्या लिख मारा ! जरा भी याद नहीं मैंने अपने पत्र में क्या लिखा था जो आपको ऐसा ख्याल हुआ। अगर मैंने कौटुम्बिक दुरवस्था का जिक्र किया है तो उसका कारण अर्थकृच्छता नहीं, कलह है। मेरा भानजा अपढ़ रह गया; वह आवारा भी है। वही कष्ट मुझे खलता है। काफी पेंशन मुझे मिलती है। ५२ बीघे का काश्तकार हूँ। अन्नवस्त्र की कमी नहीं। जो कुछ पास था अधिकांश काशी-विश्वविद्यालय और ना० प्र० सभा को दे दिया। अब भी कुछ न कुछ दान दिया ही करता हूं। जिसे जिसे थैली की बात लिखी हो फिर लिखिए। कहीं उसकी चर्चा न हो। उससे मुझे कष्ट होगा। यह सब कुछ है, पर आपकी कृपा का जो अनुभव मुझे अब हुआ है, वह कभी भूलने का नहीं। बहुत-बहुत धन्यवाद।

इसकी पहुँच लिखिए।

२२-१२-३२ म० प्र० द्विवेदी

हिन्दी में लिखित उक्त पत्र के साथ ही उन्होंने संस्कृत-पत्र के उत्तर में संस्कृत भाषा में ही (गद्य में नहीं, बल्कि पद्य में) निम्न संदेश भी भेजा था :—

दौलतपुर ग्रामात्

२२–१२–३२

साञ्जलिपुटं निवेदनम्

(१)

सम्प्राप्य पत्रं तव वासुदेव
मया प्रमोदो नितरामवाप्तः।
वदान्य सम्मान्य महानुभाव
कृतज्ञतां मे विपुलां गृहाण ॥

(२)

धन्योऽस्मि यत्त्वं मयि सानुरागः
क्रीतोऽस्मि ते कामनयैव सौम्य।
नेच्छामि नूनं नकुलीं गृहीतुं
ममापराधं भगवन क्षमस्व ॥

(३)

त्वं दानपात्रं बुधवन्दनीयं
साहित्यरत्नं किमपि प्रशस्यम् ।
अन्यं जनं प्राप्य समादरेण
मनोऽभिलाषं सफली कुरुष्व ।।
संस्कृतानभिज्ञस्य परीक्षणभयभीतस्य
द्विवेदिनो महावीरप्रसादस्य+

आगे चलकर अग्रवाल जी को द्विवेदी जी से क्रमशः निम्न तीन और पत्र प्राप्त हुए थे। यही इन साहित्य-महारथियों के इस महत्वपूर्ण पत्र-व्यवहार की अंतिम कड़ियाँ हैं :—

: ८ :

दौलतपुर (रायबरेली)
२९–१२–३२

शुभाशिषः सन्तु,

२५ दिसम्बर का पोस्टकार्ड मिला। मेरी मनोग्लानि दूर हो गई। आप से ऐसे ही उत्तर की आशा थी। नम्रता ही विद्वानों का आभूषण है। वह आपमें काफी से जियादह है। अब उन बातों को भूल जाइए। कहीं से उत्थान हो भी तो आप दबा दीजिएगा।

यज्ञस्तम्भ या यूपस्तम्भ पर आपका लेख पढ़ा। खूब लिखा। जिस समय ईसापुर में वह निकला था, मैंने भी उसके सम्बन्ध में कुछ 'सरस्वती' में लिखा था।

इधर-उधर से कुछ बातें जोड़ बटोर कर मथुरा के कंकाली टीले पर भी मैंने कुछ लिखा है। याद तो यही कहती है। जैन धर्म और जैन शिल्प के एक बड़े जानकार हैं। नाम है—बाबू पूर्णचन्द्र नाहर। कलकत्ते में वकील हैं। शायद आप जानते हों।

भावत्क
म० प्र० द्विवेदी

+इन पद्यपंक्तियों का भावार्थ यह है कि, प्रिय वासुदेव जी, आपका पत्र प्राप्त कर मुझे अपार हर्ष हुआ। आपके प्रति मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। आपके अनुराग से मैं बहुत प्रभावित हूं। मैं इस समय नकुली नहीं चाहता। कृपया आप मेरा अपराध क्षमा करें। आप किसी अन्य दानपात्र, विद्वान्, साहित्यरत्न और प्रशंसित व्यक्ति को प्राप्त कर सादर अपनी अभिलाषा पूरी करें। संस्कृतानभिज्ञ परीक्षण-भय से डरे हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी का सविनय निवेदन स्वीकार करें।

: ९ :

दौलतपुर (रायबरेली)
१८ मई, १९३३

विद्वांसं वासुदेवं त्वां वासुदेवोऽभिरक्षतु—
क्षामः क्षताखिलगुणो भुवि निःसहायः
क्रीतस्त्वयामृतमयैर्वचनैर्जनोऽयम् ।+

म० प्र० द्विवेदी

: १० :

दौलतपुर (रायबरेली)
२१-९-३३

श्रीमत्सु सादरं निवेदनमिदम्,

आपके दो लेखों की छपी हुई कापियाँ मिलीं। मैं आनन्दित हुआ। आपकी खोज, विवेचनापद्धति और विद्वत्ता पर मैं मुग्ध हूं। परमात्मा से प्रार्थना है, वह आपके यशःसौरभ की वृद्धि उत्तरोत्तर करता रहे।

ओरियंटल कांग्रेस, बड़ौदे, के लिए किसी अछूते विषय पर कोई लेख आप अवश्य ही लिखेंगे।

आपका
म० प्र० द्विवेदी

+इन पंक्तियों का भावार्थ यह है कि विद्वान् वासुदेव, वासुदेव तुम्हारी रक्षा करें। प्रिय वासुदेव जी, मैं गुणी नहीं हूं और निःसहाय हूं। आपने अपने अमृत-वचनों से मुझे खरीद लिया है।

*आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ वासुदेवशरण जी का जो पत्र-व्यवहार इस लेख के अन्तर्गत हम उद्धृत कर रहे हैं, वह अग्रवालजी के परिवार के सौजन्य से हमें प्राप्त हुआ है।

डॉ० भगवानदास एवं श्रीप्रकाश जी के साथ पत्र-व्यवहार

अग्रवाल-परिवार में सुरक्षित सामग्री से

डॉ० भगवानदास एवं उनके सुपुत्र श्रीप्रकाश जी के साथ वासुदेवशरण जी का वर्षों तक प्रगाढ़ संबंध रहा था। इस दौरान उनके बीच स्वभावतः परस्पर कई एक पत्रों का आदान-प्रदान हुआ, जिनमें से कुछ मार्के के पत्र यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

: १ :

'विश्राम', चुनार, यू० पी०।

नमस्कार।

'मातृभूमि' की प्रति के लिए अनेक धन्यवाद! अथर्ववेदीय सूक्त बहुत हृदयग्राही है।

शुभचिंतक
भगवानदास
(डाक-मुहर : ५ अगस्त, १९३३ ई०)

: २ :

'विश्राम', चुनार, यू० पी०
११-६-९०*

नमस्कार।

'शिवाङ्क' से उद्धृत आपके लेख की प्रति मिली। सब तो नहीं पढ़ पाया हूं (क्रमशः पढ़ूंगा), पर जो देखा उससे बहुत प्रसन्न हुआ। यदि आप इस

*यह तिथि विक्रम-संवत् के अनुसार है—सं०।

प्रकार का कार्य, प्राचीन शब्दो में नये (अर्थात् अति प्राचीन) भावों के डालने का, उनके प्र-णवी-करण का, करते रहेंगे, तो आप अवश्य देश का बहुत उपकार करेंगे। इसलिए भवदर्थमाशिष आशासे --

शुभचिंतक
भगवानदास

(डाक-मुहर : ३० सितम्बर तथा २ अक्टूबर, १९३३ ई०)

: ३ :

वाराणसी, २८-६-१९५६

सप्रीति नमस्कार।

'अर्थस्य पुरुषो दासः......' का पता मिल गया--युद्ध के आरम्भ में जब युधिष्ठिर उनसे अनुमति माँगने गये, तब भीष्म, द्रोण, कृप ने उनसे यही शब्द कहे। अब आप कृपा करके द्रोण सम्बन्धी श्लोक का ही पता बतलाइये (शापादपि शरादपि·····)।

इधर आपके कई ग्रंथ छपे हैं; उनको मैं देखना चाहता हूँ। एक एक ग्रंथ, 'मँगनी' लेकर, दस दस, पंद्रह पंद्रह दिन रख कर लौटा दूंगा। किस समय मेरा भृत्य आपके पास पहुँचे कि उसे आप अपनी सुविधा से ग्रंथ दे सकेंगे ?

शुभचिंतक
भगवानदास

: ४ :

बनारस--१
१२-९-१९५६

सप्रीति नमस्कार।

जायसी की 'पद्मावत' के सटीक संस्करण पर जो पुरस्कार आपको दिल्ली की साहित्य 'अकादमी' (=उद्यान ? Academicus, Plato's Gargen) की ओर से मिला है, उसके लिए हार्दिक सभाजन ! यद्यपि मेरी तुच्छ समझ में 'पाणिनिकालीन भारत' पर आपको बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा होगा-- पर 'साहित्यिकों' को व्याकरण में क्यों अभिरुचि हो ? 'निरंकुशाः कवयः', "तां पातयां प्रथममास पपात पश्चात्"। 'पद्मावत' की हस्तलिपि सज्ज करने में आपने १८--२० 'रीम' 'फुलस्केप' समाप्त कर दिये होंगे--उनका मूल्य इस पुरस्कार में

से निकल आवेगा ! १८–२० रीम क्यों ? तो इसलिये कि श्री फतेहचंद बेलाणी को आपने मेरे लिये परिचायन पत्र दिया, उसके अक्षर एक इंच 'स्क्वेयर' थे ! ऐसे ही अक्षरों में टीका भी लिखी गई होगी। इससे मुझे यह भी संदेह होता है कि नेत्र आपके दुर्बल हो रहे हैं, और उपनेत्र का उपयोग आप बचा रहे हैं। यदि मेरा संदेह ठीक है, तो उपनेत्र का वंचन ठीक नहीं, इससे नेत्रों को हानि पहुँचेगी। किसी अच्छे "चाक्षुषिक" (Oculist) से परामर्श करके उपनेत्र का आरंभ कर दीजिये। आप स्थूल अक्षर लिखते हैं, तो मैं सूक्ष्म—'विरोधाभासार्थ'।

शुभचिंतक

भगवानदास

[स्वतंत्रता के उदय के बाद, जब विविध क्षेत्रों में ख्याति अर्जित करनेवाले विशिष्ट व्यक्तियों को 'पद्मश्री', 'पद्मभूषण', 'पद्मविभूषण', 'भारतरत्न' आदि उपाधियों से विभूषित करने की प्रथा का प्रचलन शुरू हुआ, तब डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के कानों पर यह भनक पड़ी कि उन्हें भी ऐसी ही उपाधि प्रदान करने की चर्चा जोरों से उठाई गई है। इस सुझाव के समर्थकों में अग्रणी डॉ० भगवानदास थे, जिन्हें स्वयं 'भारत-रत्न' की उपाधि से भूषित किया जा चुका था। जब अग्रवाल जी को स्वयं डॉ० भगवानदास से ही इस संबंधी संकेत प्राप्त हुआ, तो उन्होंने प्रत्युत्तर में जो पत्र उन्हें लिखा था, उसकी एक प्रतिलिपि सौभाग्य से अग्रवाल जी के परिवार के पास सुरक्षित है। उक्त पत्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। –सं०]

: ५ :

काशी-विश्वविद्यालय

१–११–५७

श्रद्धेय दादा जी,

सादर प्रणाम। अभी ३–१०–५७ का कृपापत्र मिला। आभारी हूँ। 'महाभारत' आदमी भेजकर मँगवा लूँगा।

'पद्मविभूषण' के सम्बन्ध में आपने मेरा विचार किया है, यह आपका मेरे प्रति स्नेहभाव ही है। पर इन उपाधियों को राष्ट्रीय सम्मान के रूप में समादर योग्य मानते हुए भी मेरा भाव दूसरा है। मैं यश देने वाली किसी उपाधि से बचना चाहता हूँ। चित्र और जीवनचरित दोनों को अस्वर्ग्य अर्थात् स्थिर शान्त कार्य में विघ्नरूप मानता हूँ। मेरी अभिलाषा है कि जीवित रहते ब्राह्मी स्थिति का कुछ रस चख सकूँ। इसी ध्येय से विश्वविद्यालय की अध्यापकी मुझे रुचिकर

है। नेशनल म्यूजियम के डाइरेक्टर के पद के लिये यूनियन पब्लिक सर्विस का आवाहन आया था। मैं न जा सका। मैं बराबर इस बात से मन में डर रहा था कि कहीं किसी उपाधि के लिये मेरे नाम का प्रस्ताव न हो जाय और फिर अपने को बचाने में मुझे उलझन होगी। आपसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि आप मुझे इस परिस्थिति में न डालें। मैं अपने मन को उत्तरोत्तर वानप्रस्थ-आश्रम की स्थिति में डालना चाहता हुँ। जो डॉक्टर की उपाधि मेरे पास है, उसे भी बोझा मानने लगा हूँ। यथासम्भव उसे नहीं लिखता। मुझे जीवन में भरद्वाज के समान तीन ऊँची चोटियाँ दीख रही हैं। पहली चोटी है अपने कला, पुरातत्त्व, इतिहास आदि शास्त्रीय विषयों का कुछ परिष्कार कर जाऊँ। दूसरी चोटी है वेद-उपनिषद् आदि भारतीय अध्यात्म-वाङ्मय की बुद्धिपरक व्याख्या कर सकूँ। तीसरी चोटी है कि ब्रह्मतत्त्व या देवतत्त्व या विश्व के अध्यात्म-रहस्य का कोई स्वरूप प्रत्यक्ष देख सकूँ। इन पर्वतों का जितना आरोहण यथाशक्ति बन पड़े वही मेरा लाभ होगा। शेष सब विक्षेपों से अपने को बचाकर इसीलिये समाहित होना चाहता हूँ। मैं अपने लिये जीवनपथ का निर्णय कर चुका हूँ। अब मुझे संशय में कई वस्तुओं के पीछे फिरने का अवकाश नहीं है। अपने आदर्श श्री कुमारस्वामी के समान मैं भी 'अकिंचन्य' में श्रद्धा रखता हूं। मेरे मन में वासनाओं का अभी बहुत संचय भरा है। उनसे छूट पाऊँगा या नहीं, यह भी कहना कठिन है। पर हृदय में जो चिदंश है उसकी स्वच्छता का सच्चा प्रयत्न यह कर्त्तव्य तो पूरी शक्ति के साथ पालन करना है।

शिष्टाचार के नाते अपने विषय में इतना सब मुझे नहीं लिखना चाहिए था, पर आपका जो अनुग्रह का भाव पिछले बीस वर्षों से मुझ पर है उसने मुझे प्रगल्भ बना दिया कि मन की बात इस अवसर पर आप तक पहुँचा दूँ, अन्यथा भय था कि आपकी सहज अनुकम्पा का भाजन न रह जाऊँगा। आपका तपःपूत जीवन मेरे जैसे व्यक्तियों के लिये आदर्श और प्रेरणा का स्रोत है। आपके इतने निकट मैं आ गया यह जीवन के बहुत से वरदानों में से एक है। आपके प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करने के लिये मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। इस विश्व में स्थूल देह नश्वर है। उसका यश कितने दिन चलने वाला है? अतएव महान् देवतत्त्व चिरजीवी हो, यही प्राज्ञ व्यक्ति अभिलाषा कर सकते हैं। मेरे सदृश जन ऋषियों के अपरिमित ज्ञानभण्डार के कुछ कण भी प्राप्त कर लें, यही श्रेय है। उसी के निमित्त आपका आशीर्वाद पाकर मैं सुखी हूँगा।

विनीत

वासुदेवशरण

[५ सितम्बर, १९५८ ई०, को जब लखनऊ में वासुदेवशरण जी के पूज्य पिता गोपीनाथ जी का देहावसान हो गया, तो अन्य अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के अलावा डॉ० भगवानदास के सुपुत्र तथा महाराष्ट्र के तत्कालीन राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश ने भी उन्हें संवेदनासूचक संदेश भेजा था। उन्हीं दिनों की बात है कि बाबू श्रीप्रकाश जी ने बम्बई के राजभवन में 'वैदिक संस्कृति' और 'पौराणिक संस्कृति' पर वासुदेव जी के दो महत्वपूर्ण व्याख्यान नियोजित किए थे। इस सिलसिले में अग्रवाल जी ने जो पत्र श्रीप्रकाश जी को लिखे थे, उनकी प्रति-लिपियाँ संयोग से उपलब्ध हैं। वे पत्र इस पत्र-माला के क्रम में यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इनमें अग्रवाल जी का २१ अक्तूबर, १९५८ ई०, का पत्र विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें उन्होंने वेदों की सृष्टि विद्या विषयक अपने प्रखर विचारों के बड़े ही मार्मिक संकेत लेखबद्ध कर दिए हैं। तब तक डॉ० भगवानदास भी परलोकवासी हो चुके थे। उनकी दिवंगत आत्मा का स्वप्न में साक्षात्कार करके वासुदेवशरण जी ने जो गुरुतुल्य आदेश उनसे प्राप्त किया था, उसका विवरण इस पत्र में पढ़कर रोमांच-सा हो आता है।——सं०]

: ६ :

लखनऊ
१७–९–५८

सम्मान्य बाबूजी,

आपके दिनांक १३ के सान्त्वना-पत्र से बहुत बल मिला, जिसके लिये आभारी हूं। लखनऊ-अस्पताल के उस संस्मरण की याद दिलाकर आपने हम सबको गद्‌गद् कर दिया। आपकी इस उदार स्मृति से सभी मुग्ध हुए।

मैं २४ अक्तूबर को बम्बई पहुंच जाऊँगा। आप कृपया २५-२६ अक्तूबर को (शनिवार-रविवार) दो व्याख्यानों का प्रबंध कर दें। मैं वैदिक संस्कृति और पौराणिक संस्कृति पर कहना चाहूंगा। वहाँ के गुजराती, मराठी, संस्कृत विद्वान्, प्रोफेसर एवं संस्कृति और साहित्य में रुचि लेने वाले धनिक श्रेष्ठी वर्ग आमंत्रित हों तो उपयुक्त होगा। श्री सुमन्त भाई चैरिटी कमिश्नर भी उपस्थित हों तो वे जयपुर में हो रहे वैदिक कार्य के विषय में साक्षात् परिचय प्राप्त कर सकेंगे। वह वैदिक व्याख्या का ऐसा अद्‌भुत कार्य है कि मेरी दृष्टि में इस समय अन्यत्र नहीं हो रहा। उसी को स्थायित्व प्रदान करना इस यात्रा का अभिप्राय है। आप तक उसका संदेश पहुंचाकर मुझे अतिशय संतोष होगा।

विनीत
वासुदेवशरण

: ७ :

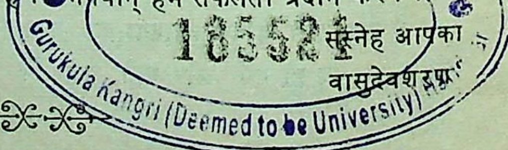
काशी-विश्वविद्यालय
२१-१०-५८

प्रिय बाबू जी,

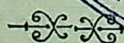
सादर नमस्कार। आपका ११-१०-५८ का पत्र यात्रा से लौटने पर कल मिला। भाषणों के लिये आपने जो प्रबन्ध किया, उसके लिये आभारी हूं। आपके सान्निध्य में रहकर वार्तालाप के सुख की आशा से मन प्रसन्न हो रहा है। प्रथितयश दादा जी ने मेरे वैदिक कार्य की सफलता के लिये अपना आशीर्वाद दिया था। उसका एक विलक्षण प्रमाण इस बार की यात्रा में मिला। मैं १४ ता० को देहरा-एक्सप्रेस से दिल्ली होकर जयपुर जाने के लिये रवाना हुआ। रात्रि रेल में ही बीतनी थी। मेरा अभ्यास है कि रेल में भी मुझे अच्छी नींद आ जाती है। १४–१५ के बीच की रात में क्या देखता हूं कि स्वप्न में दादा जी ने दर्शन दिए हैं! वे अति शुभ्र और भव्य वेष में मेरे स्थान पर मेरे पिता जी की संवेदना के लिये पधारे हैं। उनके साथ श्री चन्द्रभाल जी आए हैं और मेरे यहाँ भी कितने ही लोग एकत्र हो गए हैं। उनके माथे पर कुछ स्वेद-बिन्दु देखकर मैं अपने हाथ से उन्हें पंखा झलने लगा हूं। वे लगभग तीन घंटे मेरे यहाँ ठहरे हैं। उनका वह चन्दनचर्चित देवकल्प स्वरूप अपने चारों ओर दिव्य प्रकाश और सौरभ फैला रहा था। उनके दर्शन करते हुए मेरी निद्रा समाप्त हो गई और मैं एक अपूर्व सुख और शान्ति का अनुभव करता रह गया। प्राचीन हिन्दू धर्म की जो व्याख्या मैं करता रहा हूं, उसके सबसे बड़े समर्थक पूज्य दादा जी ही थे। आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व जब मेरा उनसे कोई परिचय न था, उन्होंने 'शिव का स्वरूप' लेख पढ़कर (जो 'कल्याण' के 'शिवांक' में छपा था) मुझे प्रशंसा और आशीर्वाद का पत्र लिखा। तब से अन्त तक वे मेरे लेखों और ग्रन्थों के सबसे विशिष्ट पाठक रहे और समय-समय पर पत्र भेजकर अपनी सौमनस्यता द्वारा मुझे प्रोत्साहन देते रहे। मेरी 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पुस्तक स्वयं विश्वविद्यालय पधारकर ले गए और 'भारत-सावित्री' पुस्तक भी मँगवाकर पढ़ी। अपने निजी अध्ययन की तीन पुस्तकें 'वाल्मीकि रामायण', 'पद्मपुराण' और 'महाभारत' वे मुझे प्रदान करते हुए मानों दायित्व सौंप गए हैं कि हिन्दू धर्म की अर्वाचीन व्याख्या के उनके आरम्भ किये हुए कार्य को मैं आगे बढ़ाऊँ। इधर जब मैं जयपुर से वैदिक व्याख्या का नया प्रकाश पाकर लौटा और उनसे मिला तो वे गद्‌गद् हो गए और यही कहा कि हम तो अब जीवन के दूसरे तट पर पहुँच गए हैं, पर तुम अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए इस महत्त्वपूर्ण कार्य को

करना। मेरे साथ उनका आशीर्वाद का भारी बल है। यह भगवान् की ही इच्छा है कि आपके संपर्क और संरक्षण में इन भाषणों का सुयोग प्राप्त हो रहा है। स्पष्ट ही ईश्वर आपको भी इस महान् कार्य में निमित्त बना रहा है। आपके इस वाक्य ने--'यदि मैं कुछ कर सकूँ तो करना चाहूँगा'--मुझे बल दिया है। कार्य करने तक ही हमारे प्रयत्नों की सीमा है, फल भगवान् के अधीन है।

यह वैदिक तत्त्व है क्या ? इसकी कुछ चर्चा आपके समक्ष करने के लिए मन प्रवृत्त हुआ है। ऋषिप्रज्ञा को सृष्टिविद्या का जो परिचय हुआ था उसे ही वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों की संकेत-भाषा में वे भर गए हैं। आज के भौतिक विज्ञान के साथ उनका अविरोध है। मूलभूत देवतत्त्व क्या है ? प्राण या शक्ति का क्या स्वरूप है ? यह भौतिक जगत् क्या है ? इसमें कालतत्त्व का क्या स्थान है ? यज्ञ क्या है ? ऋषितत्त्व क्या है ? पितृतत्त्व और मातृ-तत्त्व क्या हैं ? शक्ति व्यक्त भाव में कैसे आती है ? क्षर-अक्षर, अव्यय, गीता के इन तीन पुरुषों का क्या अभिप्राय है ? कालात्मक संवत्सर और यज्ञात्मक संवत्सर का क्या भेद और स्वरूप है ? सुपर्णचिति क्या है ? हृदयविद्या या गत्यात्मक अक्षरविद्या क्या है ? देवमाता अदिति कौन है ? विराज तत्त्व क्या है ? इस सृष्टि को विराट् गौ क्यों कहा जाता है ? अग्नितत्त्व क्या है ? इन्द्र कौन है ? ये और इनके समान सैकड़ों अन्य प्रश्न ऐसे हैं, जिनका बुद्धिगम्य उत्तर दिया जा सकता है और इसी के लिए भारतीय वेदादिशास्त्रों की प्रवृत्ति हुई। यह अद्भुत नवीन सामग्री एक बार दृष्टि स्वच्छ होने पर सामने आ रही है। मेरा विचार है कि कई सहस्र वर्षों से छूटी हुई परम्परा हमारे हाथ आ रही है और हमारा यह कर्त्तव्य है कि अर्वाचीन जगत् को इससे परिचित कराएँ। यह धर्म क्या, यह तो सृष्टिविज्ञान की भाषा है। अति उदात्त, सुनिश्चित और अर्थवती इस भाषा की व्याख्या प्रकाशित हो जाय, तो शताब्दी तक वेदविद्या या सृष्टिविज्ञान के अर्थों से अपने देशवासी परिचित हो सकेंगे। इस पृष्ठभूमि में मेरा मन उल्लसित है कि आपके निकट पहुँचकर शान्त वातावरण में कुछ निवेदन करूँ। आपका जो सहज स्नेह मुझे मिल रहा है, उसमें दादा जा के महान् व्यक्तित्व और ऋषितुल्य हृदय का प्रतिबिम्ब है। भारतीय संस्कृति का कार्य हम सबका समान कार्य है। यह राष्ट्र की सेवा है। इसी भाव से हमारा यह आयोजन है। मेरा यह विश्वास है कि भगवान् हमें सफलता प्रदान करेंगे।



सस्नेह आपका
वासुदेवशरण



डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट—
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रकाश आर्य
संतोष कुमारी, रवि प्रकाश आर्य

शुद्धिपत्र

(छपाई के दौरान, पुस्तक में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, जो नीचे सूचित की जा रही हैं। उन अशुद्धियों के अतिरिक्त, टाइप-दोष के कारण कहीं-कहीं अनुस्वार, मात्रायें आदि स्पष्ट नहीं हो पाई हैं एवं कहीं-कहीं 'व' के उजाय 'ब' छपा हुआ जान पड़ता है। पाठक कृपया तदनुसार शुद्ध कर लें।)

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित अशुद्धि	शुद्ध रूप
५	२१	अघ्येताओं	अध्येताओं
७	४	प्रधुदयाल	प्रभुदयाल
७	१९	जब भी प्यास लगी	प्यास लगी कि
८	२	प्रमुख कृतियों की	प्रमुख प्रकाशित कृतियों की
१५	फोलियो	प्राक्कनथ	प्राक्कथन
१५	१	स्रहस्रधा	सहस्रधा
२३	६	जन्माता पितास्वरूप	जगन्मातापितास्वरूप
२४	५	रभणीयता	रमणीयता
२४	११	अर्थोद्वाटन	अर्थोद्घाटन
२६	२६	वित्तार	विस्तार
२८	४	सोऽमस्मि	सोऽहमस्मि
३८	१	'चंडस्वती वाक्	'छन्दस्वती वाक्'
३८	१	'दिव्यदान'	'दिव्यावदान'
४९	३१	'सूतिका' मंगलगीतिका'	'सूतिका मंगलगीतिका'
६८	७	दुष्कृत	दुष्कृति
७२	१	मन्सवय	समन्वय
७७	१३	मुझ	मुझे
७८	शीर्षक	डा० मंगलनाथ सिह	श्री मंगलनाथ सिंह
८३	१८	हा	ही
८६	९	उन्होने	उन्होंने
८७	६	वेदिक लेक्चर्स	वैदिक लेक्चर्स
८७	११	'कादम्बरी का	कादम्बरी: : एक
९१	२५	सगे-सौतेले,	'सगे-सौतेले
९४	१२	पुस्तका	पुस्तकी
९४	२८	Alkanine	Alkaline
९७	२	माता	यात्रा

१०३	शीर्षक	प्रभुदयाल	प्रभूदयाल
११८	२०	जन्म से ही	'जन्म से ही'
१३१	४	संत स्वभाव	संतस्वभाव
१३६	२	अग्रवाक	अग्रवाल
१३८	२	निकाला	निकला
१४१	६	व्यक्तिव	व्यक्तित्व
१५२	२	ते करथे	करते थे
१५२	२४	वहु	वह
१५३	३१	नोकरी	नौकरी
१६०	१२	से बीत	में बीत
१६४	१९	सस्कृत	संस्कृत
१७८	२३	वक्तव्म	वक्तव्य
१७८	३०	परिवारिक	पारिवारिक
१८१	३१	depuat-	deputa-
१८४	३१	बीमारी यद्यपि	बीमारी । यद्यपि
१९०	३०	रूपान्तरू	रूपान्तर
१९२	२२	लोकधम	लोकधर्म
१९६	२०	नियम, हैं	नियम हैं,
१९९	१२	गिरिनिझरों	गिरिनिर्झरों
१९९	३१	एवबादी	एवंवादी
२०२	२२	नाड़ियां	नाड़ियाँ
२०४	२८	शक्तिप्रवाहि नाड़ियोनी	शक्तिप्रवाहिनी नाड़ियों
२०७	९	पाडवों	पांडवों
२०८	३	नुपुंसकता	नपुंसकता
२१०	११	स्रारथी	सारथी
२१०	१८	पार्थस्थ	पार्थस्य
२१५	१५	धनुर्मह	धनुर्महं
२१६	१३	pitshaarpi	pithasarpi
२१६	२७	on account	on account of
२२९	२१	reuunciation	renunciation
२४८	२६	दादा जा	दादा जी

शब्द-व्युत्पत्ति के क्षेत्र में भाषाविज्ञानी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का योगदान

डॉ० नरेशकुमार
जे-२३५, पटेलनगर प्रथम, गाजियाबाद

डॉ० अग्रवाल महान् भाषाविज्ञानी थे। उन्होंने भाषाविज्ञान की निम्नांकित शाखाओं में ठोस कार्य करके अनुकरणीय मार्गदर्शन किया है :

(१) व्युत्पत्तिविज्ञान। (२) नामविज्ञान। (३) लिपिविज्ञान। (४) बोली-विज्ञान। (५) कोशरचना-विज्ञान। (६) ध्वनिविज्ञान। (७) अर्थविज्ञान।

प्रस्तुत लेख में हमने व्युत्पत्तिविज्ञान के क्षेत्र में उनके योगदान का आकलन किया है।

हिन्दी-शब्दों की व्युत्पत्ति के क्षेत्र में डॉ० अग्रवाल बेजोड़ हैं। यदि उनको वर्तमान युग का यास्क कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। डॉ० अग्रवाल द्वारा सुझाई गई व्युत्पत्तियाँ उनके भाषाधिकार एवं मौलिक सूझ की परिचायक हैं। डॉ० अग्रवाल ने अनेक ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति बताई है जिनके मूल शब्द का शब्दकोशों में समावेश तक नहीं हुआ था और ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति की समस्या को उन्होंने संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के आधार पर सुलझाया है। उदाहरणार्थ, पंजाबी भाषा के शब्द **कुड़ी** या 'कुड़ा' को डॉ० अग्रवाल ने हरिषेणकृत 'वृहत्कथा-कोष' (रचनाकाल-सं० ६८६) में प्रयुक्त 'कुटिका' (कन्या) से व्युत्पन्न मानकर विकास-क्रम इस प्रकार दिखाया है—कुटिका, कुडिया या प्रा० कुडिआ, और पुल्लिग रूप कुटक या कुडप।[१] इसी प्रकार ऋग्वेद से प्रमाण उद्धृत करके उन्होंने **गथ** (धन, पूंजी) शब्द की व्युत्पत्ति वैदिक 'ग्रथ' (धन) ['ग्रथन्' (धनवान्)] से बताई है,[२] जबकि हिं० श० सा० में गत्थ (पूंजी) की व्युत्पत्ति सं० ग्रन्थ (धन), प्रा० गत्थ से दी गई है। डॉ० अग्रवाल ने 'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति' नामक लेख में हिं० श० सा० में दी गई कुछ दोषपूर्ण व्युत्पत्तियों पर विचार किया है।[३] इसके अतिरिक्त उन्होंने श्री रामचन्द्र वर्मा

---

१. 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका', सं० २०१४ (वर्ष ६२), अंक ४; पृ० ३०६
२. 'इन्डियन लिंग्विस्टिक्स' (पत्रिका), संख्या २१, पृ० १
३. 'ना० प्र० प०' (वर्ष ५४), सं० २००६, अंक २-३

द्वारा सम्पादित प्रा० हिं० को० के सम्बन्ध में भी कुछ युक्तिसंगत आपत्तियाँ उठाते हुए मौलिक सुझाव दिये हैं।[४]

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि डॉ० अग्रवाल के मौलिक प्रयास को दिखाने में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का यह उद्देश्य नहीं है कि हिं० श० सा० तथा अन्य शब्दकोशों की व्युत्पत्तियों को दोषपूर्ण ठहराया जाए, अपितु इस क्षेत्र में डॉ० अग्रवाल की देन का निष्पक्ष मूल्यांकन ही हमारा लक्ष्य है। वस्तुतः हिं० श० सा० के ऐतिहासिक महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे अनेक शब्द हैं जिनकी हिं० श० सा० में दी गई व्युत्पत्ति डॉ० अग्रवाल से अधिक युक्ति-संगत है, परन्तु सभी स्थलों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, हिं० श० सा० में **अलख** (अदृश्य) शब्द की व्युत्पत्ति स० अलक्ष्य से दी गई है, जोकि डॉ० अग्रवाल द्वारा दी गई व्युत्पत्ति—सं० अलक्षित > अलक्खिअ > अलख की तुलना में विकास-क्रम की दृष्टि से अधिक समीचीन है, क्योंकि संस्कृत 'अलक्ष्य' > अलक्ख > अलख का विकास-क्रम अधिक स्वाभाविक है। एक अन्य शब्द **ओसार** की व्युत्पत्ति भी द्रष्टव्य है। हिं० श० सा० में इस शब्द को सं० उपशाल से व्युत्पन्न माना गया है और डॉ० अग्रवाल ने इस शब्द की व्युत्पत्ति सं० अपसरक से दी है।[५] ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से तो सं० अपसरक से 'ओसार' का विकास सम्भव है, परन्तु 'अपसरक' संस्कृत-कोशों में 'ओसारा' के अर्थ में उपलब्ध नहीं है और न ही डॉ० अग्रवाल ने यह उल्लेख किया है कि उन्होंने यह शब्द कहाँ से लिया है। वस्तुतः यह शब्द 'अपसारक' है, 'अपसरक' नहीं। सं० उपशाल (मकान के सामने का घेरा) > उवशाल > ओशार > ओसार का विकास-क्रम अधिक उपयुक्त है। **अपाहिज** शब्द का भी तनिक अवलोकन कीजिए। हिं० श० सा० में यह शब्द सं० अपभञ्ज > प्रा० अपहञ्ज से विकसित दिखाया गया है, जबकि डॉ० अग्रवाल ने इसे 'अपाथेय' (पथ में यात्रा के अयोग्य) > अपाहेज्ज > अपाहिज्ज > अपाहिज से व्युत्पन्न माना है।[६] डॉ० अग्रवाल की उक्त व्युत्पत्ति ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्तों के आधार पर दी गई है, परन्तु 'पाथेय' का अर्थ 'रास्ते में व्यय करने की सामग्री, मुसाफिरी में खाने का भोजन, राह-खर्च' है, जो कि डॉ० अग्रवाल द्वारा बताये गये 'अपाथेय' के अर्थ 'पथ में यात्रा के अयोग्य' से भिन्न है। 'पाथेय' का जो प्रचलित अर्थ है उसकी संगति 'अपाहिज' से नहीं बैठती। 'अपाहिज' में अंग-भंग का जो भाव है वह हिं० श० सा० वाली व्युत्पत्ति में विद्यमान है। इस कारण हिं० श० सा० वाली व्युत्पत्ति ही ग्राह्य है।

---

४. 'सम्मेलन-पत्रिका', भाग ५३, संख्या १-२, पौष-ज्येष्ठ, शक १८८६,, पृ० ७४-७५

५. डॉ० अग्रवाल, पृथिवीपुत्र, पृ० २७२-७३

६. 'ना० प्र० प०' (वर्ष ५४), सं० २००६, अंक २-३, पृ० ९४-९५

फिर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि डॉ० अग्रवाल में व्युत्पत्तिकार के लिए अपेक्षित सभी गुण विद्यमान थे—यथा संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के साथ हिन्दी की बोलियों का असाधारण पांडित्य, कई अन्य भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में गहरी पैठ, भाषावैज्ञानिक दृष्टि, बहुज्ञता एवं बहुमुखी प्रतिभा, तथा अद्‌भुत मेधा।

उन्होंने शब्दों की व्युत्पत्ति बहुत विचार करने के उपरान्त ही दी है तथा इस क्षेत्र में उनकी दृष्टि समग्रतः अत्यन्त प्रामाणिक, गम्भीर, सूक्ष्म, गहन, मौलिक, एवं तर्कसंगत है। उन्होंने किसी शब्द के प्राचीन इतिहास को खोजने के साथ-साथ उसके विकास-क्रम को भी बड़े वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ऐसा करने में उन्होंने तत्सम तथा तद्‌भव शब्दों की विभिन्न प्रवृत्तियों को सदैव ध्यान में रखा है तथा कल्पना अथवा अनुमान की अपेक्षा शब्दों के विकास-क्रम को वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक ढंग से देखने का सफल प्रयास किया है। अपने पूर्ववर्ती या समकालिक विद्वानों द्वारा दी गई व्युत्पत्तियाँ उन्हें जहाँ समीचीन जँचती थीं वहाँ उन्होंने उदारता-पूर्वक अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की है। किन्तु मतभेद की स्थिति में वे अपना मत तर्क-सहित प्रस्तुत करते थे। अधिकतर विद्वान् उनके द्वारा दी गई व्युत्पत्ति स्वीकार करते थे, परन्तु कुछ विद्वानों ने इतनी प्रामाणिकता तक नहीं दिखाई कि डॉ० अग्रवाल द्वारा दी गई व्युत्पत्ति अपनाते समय उनके नाम का साभार उल्लेख तक कर देते।

डॉ० अग्रवाल का बोलियों का ज्ञान व्युत्पत्ति-निर्धारण में सहायक—डॉ० अग्रवाल का हिन्दी की बोलियों का ज्ञान भी बहुत गहन था, जिससे उनको व्युत्पत्ति-निर्धारण में बहुत सहायता मिली। उन्होंने बोलियों में प्रचलित कई शब्दों की भी युक्तियुक्त व्युत्पत्ति दी है; जैसे, बुन्देलखण्डी के **जवारा** (अंकुरित जौ से भरे हुए चौड़े मुंह का घड़ा) शब्द को उन्होंने यववारक>जववारक से व्युत्पन्न बताया है।[७] वे किसी शब्द की व्युत्पत्ति देते समय उसके बोलियों में प्रचलित रूप को सदैव दृष्टि में रखते थे; जैसे, **दराँत** (या दराँती) शब्द का मूल संस्कृत 'दात्र' से बताते हुए उनकी दृष्टि इस शब्द के बोलियों में प्रचलित रूपों पर भी रही—"'दराँती' के लिए उत्तर भारत के लोग 'दात्र' और पूरब के 'दाति' शब्द का प्रयोग करते थे।...इसे पछाँही हिन्दी में 'दराँती', पंजाबी में 'दातरा', और पूरबी में 'दाई' या 'दाव' कहते हैं।"[८]

किसी बोलीगत शब्द के सम्पर्क में आते ही वे एक ऋषि की भाँति अन्तर्लीन

---

७. डॉ० अग्रवाल का लेख—हिन्दी भाषा के निर्माण की कुछ समस्याएँ, 'ना० प्र० प०', सं० २०१५ (वर्ष ६३), अंक १, पृ० ५१.

८. 'ना० प्र० प०', सं० २००६, अंक २-३, पृ० ६३.

हो जाते थे और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण बाह्य एवं आंतरिक उपादानों का भरपूर उपयोग करते थे।[९] निश्चय ही डॉ० अग्रवाल का बोलियों का प्रगाढ़ ज्ञान उन्हें सफल व्युत्पत्तिकार बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। उनका विश्वास था कि हिन्दी-शब्द-निरुक्ति जनपदों की बोलियों का सहारा लिये बिना चल नहीं सकती। वस्तुत: उनका लक्ष्य सांस्कृतिक परम्परा को खोजते हुए शब्दों का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करना था। सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में शब्द के विकास-क्रम को देखने का उन्होंने स्तुत्य प्रयास किया है। देशी शब्दों को छानने के लिए उन्होंने वैदिक भाषा के सम्पर्क-सूत्रों को पकड़ा है। उदाहरणार्थ, उन्होंने वैदिक भाषा के 'इड़' (पाठांतर—'इंड़') शब्द को लोकभाषा से आया हुआ माना है। आजकल लोक में 'इंडुरी' प्रचलित है।[१०] व्युत्पत्ति के क्षेत्र में आलोच्य लेखक ने 'अभ्युपगम्यतामूलक पद्धति' का अनुसरण किया है।

डॉ० अग्रवाल का विभिन्न भाषाओं तथा विषयों का ज्ञान—डॉ० अग्रवाल को भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। अरबी और फ़ारसी के शब्दों में उनकी गहरी पैठ थी। सामाजिक परम्पराओं के इतिहास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। प्राचीन भारतीय साहित्य और विभिन्न आधुनिक भाषाओं तथा जनपदीय शब्दावली का ज्ञान उनको सफल व्युत्पत्तिकार बनाने में सहायक रहा और वे सफलतापूर्वक सांस्कृतिक निधि को प्रकाश में ला सके। उन्होंने रचना एवं पुन:रचना के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए भाषा के मध्यकालीन रूप की लुप्तप्राय और टूटी हुई अनेक कड़ियों को जोड़कर हिन्दी-जगत् के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया है। संस्कृत के शब्दों से व्युत्पन्न हिन्दी के शब्दों को पहचानने की उनमें अपूर्व योग्यता थी।

शब्दों की गहराई में जाने से संस्कृति की धाराएँ सुस्पष्ट होती हैं। वास्तव में व्युत्पत्तिकार 'भाषा-रिक्थ' का संरक्षक होता है। डॉ० अग्रवाल प्रत्येक शब्द के मूल तक पहुँचने का प्रयास करते थे। उदाहरण के लिए, अवधी के **रिकवच्छ** शब्द को लें। यह अवधी-प्रदेश का प्रिय भोज्य पदार्थ है जिसमें अरबी (या घुइया) के पत्तों को महीन कतरकर उड़द की पीठी में लपेटकर घी में तल लेते हैं और फिर उन्हें सूखा या रसेदार छौंक देते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति उन्होंने इस प्रकार दी है—रिक(=थोड़ा)पथ्य (=पच्छ-वछ)। रिक पथ्य>रिक पच्छ>रिक वछ (हल्का पथ्याहार)।'

संस्कृत-साहित्य और व्याकरण पर तो उनका अधिकार असाधारण था। साथ ही उनके लेखों में पाली एवं प्राकृत के अनेक शब्द एवं उद्धरण मिलते हैं।

---

९. द्रष्टव्य: पृथिवीपुत्र, पृ० २३०.

१०. 'ना० प्र० प०', सं० २०१५ (वर्ष ६३), अंक १, पृ० ५१.

उदाहरणार्थ, सदा दूध देनेवाली गऊ का उल्लेख आने पर डॉ० अग्रवाल ने बताया कि अथर्ववेद में इसे 'नित्यवत्सा' कहा है। उसका ही प्राकृत रूप 'नैचिकी' है।[११] विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' की संजीवनी व्याख्या एवं जायसीकृत 'पद्मावत' की संजीवनी व्याख्या उनके असाधारण पाण्डित्य के प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त उनके अन्यान्य ग्रन्थों में भी भाषासम्बन्धी प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है। उदाहरणार्थ, ब्रजभाषा का 'रुंद' (रक्षित जंगल),[१२] भोजपुरी 'करकट' (भौंकनेवाली चंचल गाय, सं० करटा),[१३] बुन्देलखण्डी का 'उसकेरना' (मेरठी 'उंसना'=कपड़े को ऊँचा करने के लिए खोंसना),[१४] राजस्थानी का 'रूड़ि' (सुन्दर)[१५] आदि शब्द द्रष्टव्य हैं। इसके अतिरिक्त पीलू वृक्ष के पक्के फलों के लिए पंजाबी में प्रयुक्त 'पीलुकण'[१६], हिन्दी के जवारा (यवांकुर) के लिए पंजाबी 'क्षोत्री' आदि शब्दों का उल्लेख, थाल के लिए मराठी 'ताट' और कन्नड़ 'तट्टे' शब्दों का उल्लेख,[१७] बँगला भाषा के शब्दों, यथा—'मुखोश' या 'मुखकोष' (मुखौटा) आदि का उल्लेख[१८] उनके हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के ज्ञान का परिचायक है।

विदेशी भाषाओं का ज्ञान—उनके विदेशी भाषाओं के ज्ञान ने इस क्षेत्र में उनकी बहुत सहायता की। उदाहरणार्थ, उन्होंने बताया कि लैटिन 'पेकुस' (pecus), अंग्रेजी 'चैटल्स' (chattels), और जर्मन 'फ़ी' (vieh) मूलतः पशुवाचक शब्द थे, जिनसे द्रव्य या धन का बोध होने लगा। 'फ़ी' से ही अंग्रेजी 'फ़ी' (fee) बना है।"[१९] अन्यत्र वे लिखते हैं कि "फ़ा० नमाज़ (प्रार्थना) शब्द मूलतः अरबी से नहीं अपितु सं० 'नमस्' से लिया गया था। पैग़म्बर, बहिश्त, रोज़ा, नमाज़—ये चारों शब्द फ़ारसी में संस्कृत परम्परा के हैं।"[२०] इसी प्रकार अरबी से व्युत्पन्न शब्दों की परम्परा की ओर भी वे अपने लेखों में यत्र-तत्र संकेत करते चलते हैं; यथा, 'हक्काक टोला' (मुहल्ले का नाम) को वे अरबी 'अक़ीक' से व्युत्पन्न मानते हैं।[२१] यही नहीं, अपितु असीरियन

११. डॉ० अग्रवाल, हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३६
१२. डॉ० अग्रवाल, पृथिवीपुत्र, पृ० ३७६
१३. वही, पृ० २९९
१४. वही, पृ० ३७५
१५. वही, पृ० ३८२
१६. डॉ० अग्रवाल, पाणिनि-परिचय, पृ० १५
१७. डॉ० अग्रवाल, पृथिवीपुत्र, पृ० २३२
१८. डॉ० अग्रवाल, प्राचीन भारतीय लोक-धर्म, पृ० ३८
१९. 'भारतीय मुद्रा-परिषद्-पत्रिका', १२ दिसम्बर, १९५०, पृ० १९०
२०. डॉ० अग्रवाल, कीर्तिलता (संजीवनी व्याख्या), पृ० ११४
२१. डॉ० अग्रवाल का लेख—हमारे शहरों में मुहल्लों के नाम, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दि० १-३-५१, पृ० ४

के 'कर्ष,[२२]' यूनानी के 'केरसास्' (kerasos),[२३] चीनी के 'कीचक' (कीचक-संज्ञक बाँस के वन)[२४] आदि शब्दों का उल्लेख उनकी अति व्यापक दृष्टि का परिचायक है। वे एक स्थान पर लिखते हैं कि सं० **कार्षापण** (एक सिक्का) शब्द का 'कर्ष' असीरियन कर्ष' तथा यूनानी 'केरसॉस्' की देन है।

व्युत्पत्तिकार के लिए तुलनात्मक दृष्टि का अपरिहार्य महत्त्व होता है। वह एक सतत अध्येता रहता है और व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन के लिए उसे सम्बद्ध ज्ञान-विधाओं का पूर्ण परिचय होना अपेक्षित होता है। उसे समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, संस्कृति, इतिहास आदि का मर्मज्ञ होना चाहिए। डॉ० अग्रवाल का विभिन्न विषयों का ज्ञान भी उन्हें सफल व्युत्पत्तिकार बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है।

मूलतः इतिहासविद् होने के नाते डॉ० अग्रवाल ने शब्दों के रूपों और उनके विकास को देखने में अपनी इतिहास-दृष्टि का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद में तैमत, अप्सु, अलिगी, विलगी, उरुगूला, और सिनि शब्दों का उल्लेख मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डॉ० अग्रवाल ने उक्त शब्दों का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया के देशों से माना है—"बेबिलन के प्राचीन इतिहास में बेलमर्दुक और तैमत के युद्धों की कथाएँ हैं। 'अप्सु' का रूपांतर वहाँ 'अब्जु' (समुद्र के देवता की संज्ञा) है। 'सिनि' का रूपांतर 'सिन' चन्द्रमा देवता का नाम है। देवमर्दुक की स्त्री 'गुला' का सम्वन्ध 'उरुगूला' से स्पष्ट है।"[२५]

डॉ० अग्रवाल शब्दों की ठीक पहचान के लिए सांस्कृतिक तथ्यों का सहारा भी लेते थे और शब्दों की व्युत्पत्ति ऐतिहासिक साक्ष्य, परम्परा, तथा प्रयोग आदि अनेक आधारों को दृष्टि में रखकर देते थे। उदाहरणार्थ, उन्होंने **नौली** (मेरठ जिले में 'रुपया रखने की थैली' के अर्थ में प्रचलित शब्द) को सं० नकुली>प्रा०नउली से व्युत्पन्न दिखाते हुए ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर इस व्युत्पत्ति को सिद्ध किया है।[२६] इसी प्रकार बाण द्वारा वर्णित प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ रखने की विधि की व्याख्या करते हुए उनकी दृष्टि **पुस्तक** शब्द के प्रयोग पर पड़ी[२७] और उन्होंने 'पुस्तक' शब्द के इतिहास को ही दे डाला—"लगभग पाँचवीं शती के मध्य में 'पुस्तक' शब्द ईरान से अपनी भाषा में लिया गया, ऐसी सम्भावना है। पहलवी भाषा में 'पुस्त' का अर्थ 'खाल' है। ईरान में चमड़े (पार्चमेण्ट) पर ग्रंथ लिखे जाते थे, इसी कारण 'पुस्तक' का अर्थ

---

२२. 'भारतीय मुद्रा-परिषद्-पत्रिका', दिसम्बर, १९५०, पृ० १९७
२३. वही, पृ० १९५
२४. अग्रवाल, भारत-सावित्री, भाग १, पृ० १५४
३५. डॉ० अग्रवाल, माताभूमि, पृ० ६७-६८
२६. डॉ० अग्रवाल का लेख, हिन्दी के कुछ शब्द, 'हंस', जून, १९३३, पृ० ३
२७. डॉ० अग्रवाल, हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ५२

'ग्रंथ' हुआ। धीरे-धीरे यह शब्द हमारे देश में चल गया और लगभग दो सौ वर्षों के भीतर साहित्य में व्याप्त हो गया जैसा कि बाण के उल्लेखों से सूचित होता है।'[1]

पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री की खोज तो वासुदेवशरण जी का मुख्य लक्ष्य रहा ही था, साथ ही शब्द के इतिहास को देने में उनकी दृष्टि एक कुशल भाषा-विज्ञानी की रही है।

सत्यान्वेषी, निष्पक्ष, एवं तटस्थ दृष्टि—व्युत्पत्तिकार के लिए प्रत्येक शब्द प्रेरक-बिन्दु का काम करता है। शब्द से प्रेरणा ग्रहण कर सच्चा व्युत्पत्तिकार मूल बिन्दु से सम्बद्ध शाखाओं-प्रशाखाओं के अन्वेषण में लग जाता है। व्युत्पत्तिकार की यह प्रवृत्ति डॉ० अग्रवाल में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। किसी शब्द का उल्लेख होते ही उसके इतिहास पर उनकी दृष्टि जाती थी। 'साहित्य-सदन की यात्रा' निबन्ध में श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की 'गहोई' नामक वैश्य-उपजाति का उल्लेख आ गया, तो डॉ० अग्रवाल इस शब्द की परम्परा को देखने में लीन हो गये—"गहोइ प्राकृत 'गहवई' और संस्कृत 'गृहपति' का अपभ्रष्ट रूप है। गहवई या गृहपति वैश्यों का उल्लेख ईस्वी सन् के आस-पास के ब्राह्मी लेखों में आया है।"[2] सजग व्युत्पत्तिकार के लिए प्रतिक्षण सत्यान्वेषी रहना आवश्यक होता है। उसके लिए यह अपेक्षित है कि वह बिना किसी दुराग्रह के अपनी त्रुटि को स्वीकार कर सही दिशा ग्रहण कर ले। डॉ० अग्रवाल में यह गुण पूरी मात्रा में विद्यमान था। जब कभी किसी विद्वान् ने उनसे मतभेद व्यक्त किया, तब तर्कसम्मत तथ्यों के आधार पर अपनी भूल को स्वीकार कर लेने में उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। उल्लेखनीय है कि 'नान्हाँर' (छोटा) शब्द से 'नानकी' शब्द की व्युत्पत्ति पर उन्होंने श्री नरोत्तमदास स्वामी के मत का समर्थन किया था।[3] इसके साथ ही उन्होंने किसी विद्वान से व्युत्पत्ति-सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त करने के उपरान्त उनका उल्लेख कर अपनी बौद्धिक ईमानदारी का परिचय भी दिया है।

उन्होंने किसी हिन्दी शब्द को बलात् संस्कृत से विकसित दिखाने का प्रयास नहीं किया, अपितु भिन्न-भिन्न स्रोतों को खोज कर शब्द का मूल बताने का स्तुत्य प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, यदि कोई शब्द फ़ारसी से आया है तो वे केवल फ़ारसी तक सीमित न रहकर पहलवी, ज़ेंद, अवेस्ता (प्राचीन ईरानी भाषा) तक पहुँचे। पैग़ाम्बर, पैग़ाम' शब्द के मूल को खोजते हुए उन्होंने बताया—"ये शब्द पहलवी के माध्यम से फ़ारसी में आये। पह० 'पेतख़म', 'पईतख़म', ज़ेंद 'पइतिगम्', प्राचीन ईरानी 'पतियगम्,' सं० 'प्रतिगम'। 'पैग़ाम्बर ('पेतख़म बर', अर्थात् पैग़ाम ले जाने

१. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ५२
२. डॉ० अग्रवाल, पृथिवीपुत्र, पृ०, १०७
३. वही, पृ० ३७६-३७७

वाला) में 'बर' भृ धातु (ले जाना) से विकसित है।"[१]

डॉ० अग्रवाल को जहाँ शब्दगत साम्य एकाधिक भाषाओं में मिला वहाँ उन्होंने सही तथ्य प्राप्त करने की दृष्टि से उनका उल्लेख किया है—'आईन', पहलवी 'आयीन' (नियम, व्यवहार की व्यवस्था, क़ायदा), फ़ारसी 'आयीन', जेंद 'अयन', सं० 'अयन' (मार्ग, रास्ता)।"[२] निश्चय ही शब्द के इतिहास को गहराई तथा निष्पक्ष दृष्टि से खोजने का उन्होंने सदा प्रयत्न किया है; उदाहरणार्थ, 'वारवाण' (कंचुक की अपेक्षा कुछ कम लम्बा, घुटनों तक का नीचा पहनावा) के सम्बन्ध में उनका मत है कि 'वारवाण' मूल में संस्कृत भाषा का शब्द है। यह किसी पहलवी शब्द का संस्कृत रूप ज्ञात होता है। इसका फ़ारसी रूप 'बरवान', अरमाइक भाषा में 'वरपानक', सीरियाई में इन्हीं से मिलता-जुलता 'गुरमानका', और अरबी में 'जुरमानकह्' रूप मिलते हैं जो सब किसी पहलवी मूल शब्द से निकले होने चाहिए।"[३] वस्तुतः शब्दों के आदि स्रोत तक पहुँचने में उन्होंने असाधारण पाण्डित्य एवं सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है।

फ़ारसी के जो शब्द संस्कृत की परम्परा से सम्बद्ध हैं, उनकी ओर उनकी सतत दृष्टि रही है। उदाहरणार्थ, 'मयख़ाना' शब्द में फारसी के शराबवाची 'मय' शब्द को उन्होंने संस्कृत 'मद्य' से व्युत्पन्न बताया है।[४] साथ ही अरबी, फ़ारसी, पहलवी, तुर्की, पश्तो आदि भाषाओं की परम्परा से जो शब्द हिन्दी में आ मिले हैं, उनकी भी वे बारीकी से छानबीन करते थे। जैसे, हिन्दी 'बरफ़' को फ़ा० 'बर्फ़' से व्युत्पन्न बताकर उन्होंने उससे भी आगे बढ़कर ईरानी 'बफ़र' और संस्कृत 'वप्र' तक उसकी परम्परा को ढूँढने का प्रयास किया है।[५]

डॉ० अग्रवाल का इस क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा कि उन्होंने अनेक ऐसे प्राचीन शब्दों की व्युत्पत्ति की ओर ध्यान दिलाया है जो अपने मूल या परिवर्तित अर्थ में आज भी शेष रह गये हैं। हिन्दी के 'गडुआ' (जलपात्र) शब्द की विकास-परम्परा उन्होंने वैदिक संस्कृत 'कद्रुक'>कद्दुअ>गड्डुअ>गाडुअ>गाडू से बतायी है।[६] विद्यापति ने 'गाडू' शब्द का प्रयोग 'जलपात्र' के अर्थ में किया है। हिं० श० सा० में 'गडुआ, गडुवा' का मूल 'गेरना' दिया गया है, जो अशुद्ध है।[७]

---

१. 'ना० प्र० प०', सं० २००६ (वर्ष ५४), अंक २-३, पृ० १०३
२. वही, पृ० ६५
३. डॉ० अग्रवाल, हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १५०-१५१
४. 'ना० प्र० प०', सं० २०१५ (वर्ष ६३), अंक १, पृ० ५३
५. वही।
६. डॉ० अग्रवाल, कीर्तिलता (संजीवनी व्याख्या), पृ० १०३
७. हिं० श० सा०, पहला भाग, १९१६ ई०, पृ० ७५३

उन्होंने किसी शब्द के रूप और उसके अर्थ पर बिना उचित आधार के विश्वास नहीं किया। शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए तत्त्वान्वेषी की तरह वे इतिहास का साक्ष्य और तर्क का समाश्रय ग्रहण करते हैं। इतिहास और पुरातत्त्व के श्रेष्ठ विद्वान् होने के कारण वे शब्द का सम्बन्ध उस युग की संस्कृति से जोड़ देते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने के कारण उनके व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन में भ्रामक व्युत्पत्ति को अवकाश ही नहीं मिल पाया है। शब्दों के ऐतिहासिक परिवेश पर सदैव उनका ध्यान रहता था। शब्द का इतिहास देते समय उन्होंने प्राचीन शिलालेखों से भी अपने मत की पुष्टि की है। उदाहरण के लिए, 'साहनी' (घुड़सवार सेना का अध्यक्ष) शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए उन्होंने बताया कि शिलालेखों में 'साहणी' और 'महासाहिणिय' शब्द अश्वशाला के अध्यक्ष के रूप में उल्लिखित हैं।[1]

शब्दों के ध्वन्यात्मक गठन, अर्थविकास के कारणों एवं दिशाओं आदि के प्रति उनकी जागरूकता एक सच्चे व्युत्पत्तिकार का लक्षण है। वे समय-समय पर शब्दों की ऐतिहासिक छान-बीन के लिए साहित्य का सहारा लेने का निर्देश देते रहे। जैसे, उन्होंने बताया कि 'नेत्र' शब्द किस प्रकार वैदिक काल से चलकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की सीढ़ियाँ पार करता हुआ हम तक पहुँचा है, किस प्रकार 'नेत्र' और 'नेत' के रूप में 'आँख', 'रस्सी', 'रेशमी वस्त्र' और 'धुँआ निकलने का छिद्र' जैसे विभिन्न अर्थों में उसका विकास हुआ। इसका समाधान साहित्य से ही प्राप्त होगा।[2]

उनकी तुलनात्मक दृष्टि के उदाहणस्वरूप 'रेवड़' शब्द की व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है। उनके अनुसार अक्कदी भाषा में 'रेऊ' का अर्थ है 'भेड़'। वहाँ से यह शब्द म्लेच्छ परिवार की भाषाओं में फैला और अरबी के माध्यम से हम तक पहुँचा।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि व्युत्पत्ति के क्षेत्र में वैज्ञानिकता लाने के लिए डॉ० अग्रवाल निरन्तर प्रयत्नशील रहे।

शब्द-व्युत्पत्ति पर अपने स्वतन्त्र लेखों, निबन्धों, एवं भाष्यों में भी उन्होंने विचार किया है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

(१) संस्कृत 'विपुल' से 'विउल', 'बुल्ला' बना। 'विपुलचन्द्र' का ही अपभ्रंश रूप 'बूलचन्द्र' है।[4]

(२) 'बहुकरी' का अर्थ संमार्जनी है। हिन्दी का **बहारी** या **बुहारी** शब्द इसी से निकला है। 'बहुकरी' से मिलता हुआ उसी अर्थ में 'वर्धनी' शब्द भी झाड़ू के लिए प्रयुक्त होने लगा जिससे बोलचाल का **बढ़नी** शब्द बना है।[5]

---

१. 'ना० प्र०, प०' सं० २००६ (वर्ष ५४), अंक २-३, पृ० १०८-१०६

२. वही।

३. वही, पृ० १०७

४. डॉ० अग्रवाल का लेख—वीर ब्रह्म, 'जनपद', अप्रैल, १९५३, पृ० ६५

५. डॉ० अग्रवाल का लेख—महाभारत के कुछ कूट स्थल, 'ना०प्र०प०', सं० २०१४ (वर्ष ६२), अंक ४, पृ० ३०५

(३) **मल्होर** शब्द की व्युत्पत्ति 'मल्ह्' धातु से है, जिसका अर्थ है 'लीला, विलास, आनन्द करना'। रानी मल्हना नाम इसी से बनता है, 'मल्हराना' भी इसी का रूप है।[१]

(४) सं० 'शुल्क' से ही द्रविड़ भाषाओं में 'सुंक' शब्द बना, जिसका बिगड़ा हुआ रूप 'चुँगी' है।'[२]

प्राकृत-धात्वादेश

डॉ० अग्रवाल ने 'कीर्तिलता' की संजीवनी व्याख्या में अवहट्ट के शब्दों की व्युत्पत्ति देते हुए अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए धात्वादेश की प्रक्रिया को स्वीकार किया है। वस्तुतः अज्ञातव्युत्पत्तिक शब्दों और रूपों को नियमों में बाँधने के लिए धात्वादेश की परम्परा चलायी गयी थी, जो कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोषपूर्ण कही जा सकती है। डॉ० अग्रवाल द्वारा धात्वादेश की पद्धति का उल्लेख करना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि जिस शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं हो सकी, वहाँ उन्होंने पम्परागत ढंग से प्राकृत-धात्वादेश का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, उन्होंने 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' के अनुसार "चप्परि—सं० आ+क्रम (आक्रमण करना, दबाना) का धात्वादेश चप्प, चप्परि=आक्रमण करके"[३] का उल्लेख अर्थ-परम्परा को समझाने के लिए किया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि "धात्वादेश की युक्ति के द्वारा प्राकृत की धातुओं को, जो लोक-प्रयोग में आ चुकी थीं, मान्यता दी गयी है।"[४]

यहाँ इस तथ्य का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि डॉ० अग्रवाल जीवन-पर्यन्त हिन्दी में व्युत्पत्ति के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए चिन्तित रहे[५] और इस क्षेत्र में उन्होंने समय-समय पर अनेक उपयोगी सुझाव दिये,[६] जो व्युत्पत्ति-कोश के निर्माण की दृष्टि से पठनीय हैं। सारांश यह कि डॉ० अग्रवाल के योगदान के मूल्यांकन के आधार पर उन्हें सहज ही आर्ष परम्परा में स्थान दिया जा सकता है और निःसंदेह उन्हें वर्तमान युग का हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्युत्पत्तिकार कहा जा सकता है।

—o—

१. डॉ० अग्रवाल का लेख—गाल्हा और पल्हाया, 'जनपद', जनवरी, १९५३, पृ० ७१

२. डॉ० अग्रवाल, पाणिनि-परिचय, पृ० ७३

३. डॉ० अग्रवाल, कीर्तिलता (संजी० व्या०), पृ० ४०

४. डॉ० अग्रवाल, पृथिवीपुत्र, परिशिष्ट, पृ० ३७१

५. द्रष्टव्य : डॉ० अग्रवाल का पत्र, 'सम्मेलन-पत्रिका', भाग ५३, सं० १, शक १८८६, पृ० ७६

६. द्रष्टव्य : डॉ० अग्रवाल का लेख—हिन्दी भाषा के कोश-निर्माण की कुछ समस्याएँ, 'ना० प्र० प०', सं० २०१५ (वर्ष ६३), अंक १, पृ० ४९–५२